प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास

प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास

राधाकृष्ण चौधरी

जानकी प्रकाशन
पटना : नई दिल्ली

प्रकाशक :

नन्दकिशोर सिंह

जानकी प्रकाशन

अशोक राजपथ

पटना-८००००४

शाखा :

१९७९, गंजमीरखान,

दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण : १९८६

मुद्रक :

संतोषी प्रिन्टर्स

शाहगंज, पटना-६

15 फरवरी 1924 — 15 मार्च 1985

स्मृति शेष
प्रो० राधा कृष्ण चौधरी
जिनके प्रेरक सान्निध्य एवं अमूल्य परामर्श मुझे
समय-समय पर प्राप्त हुआ करते थे,
को सादर समर्पित

—नन्दकिशोर सिंह
15-4-86
प्रकाशक

प्रकाशकीय वक्तव्य

'प्राचीन भारत में आर्थिक इतिहास' पर भारत में हिन्दी में पुस्तकों का सर्वथा अभाव है और जो पुस्तकें उपलब्ध हैं भी, उनमें आर्थिक इतिहास के सभी पहलुओं का समायोजन नहीं किया गया है। उस दृष्टिकोण से प्रोफेसर राधाकृष्ण चौधरी द्वारा लिखित प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास सचमुच एक ऐसा प्रयास है जिस पर प्राचीन भारत के जिज्ञासु अध्येता आसानी से निर्भर कर सकते हैं। यही एकमात्र पुस्तक उस विषय पर हिन्दी में उपलब्ध है जिसमें आर्थिक इतिहास के सभी पहलुओं पर सर्वथा नये दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है और इससे हिन्दी में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। प्रोफेसर चौधरी के परिचय की आवश्यकता इतिहास के विद्यार्थी को देना नहीं है। आर्थिक-सामाजिक इतिहास को नये दृष्टि-कोण से देखने वाले इतिहासकारों में प्रो० चौधरी एक जाने-माने हस्ताक्षर हैं और उनकी कृतियों का विद्वानों और सामान्य पाठकों तथा छात्रों के बीच समादर हुआ है। प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास पर हिन्दी में उस दृष्टिकोण से लिखी यह प्रथम पुस्तक है और आशा है विद्वान और सुधी पाठकगण इसका भी पूर्ववत समादर करेंगे।

नन्द किशोर सिंह

—जानकी प्रकाशन
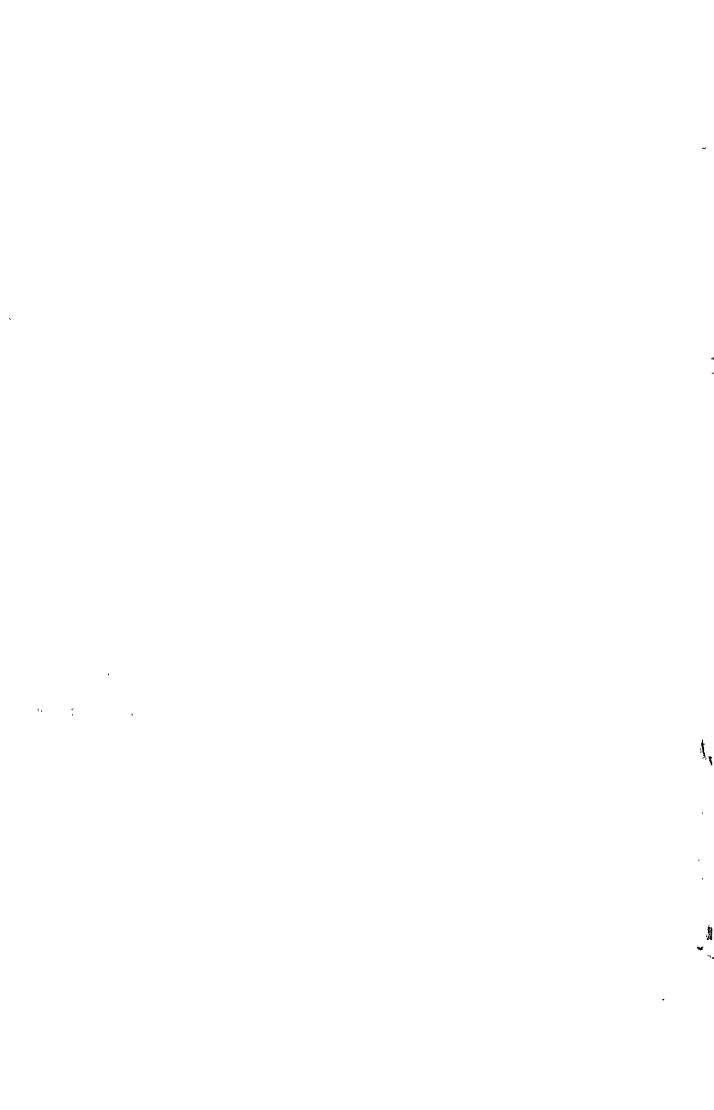
संकेत-सूची

1. ऐंभलोरिइ—एनल्स ग्राफ द भण्डारकर ग्रारयिन्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट ।
2. प्राभा—प्राचीन भारत
3. एरिए—एनुग्रल रिपोर्ट ग्राफ एफिग्राफी
4. ग्रशा—ग्रर्थशास्त्र
5. बूक—बीके
6. बुस्कू ग्रोग्रस्ट—बुलेटिन ग्राफ द स्कूल ग्राफ ग्रारियन्टल एण्ड ग्रफिकन स्टडीज
7. भग्रोरिइ—भण्डारकर ग्रारियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्युट
8. कैहिइ—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
9. कोइई—कारपस इन्सक्रिपसनस इण्डिकेरम
10. डिहिनाइ—डायनेस्टिक हिस्ट्री ग्रॉफ नॉर्थ इण्डिया
11. एइ—इफिग्रेफिया इण्डिका
12. इएँ—इण्डियन एण्टिक्वेरी
13. इक—इण्डियन कल्चर
14. इहिक्वा—इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली
15. इस्ट-प्रापे—इण्डियन स्टडीज—पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट
16. जऐइहि—जर्नल ग्रॉफ एन्स्येन्ट इण्डियन हिस्ट्री
17. जग्रग्रोसो—जर्नल ग्रॉफ द ग्रमेरिकन ग्रॉरियण्टल सोसायटी
18. जबग्रारोएसो—जर्नल ग्रॉफ द बम्बे ब्रान्च ऑफ द रायल एशियाटिक सोसायटी
19. जग्रोइ—जर्नल ऑफ द ग्रोरियन्टल इन्सटीच्युट
20. जग्रोरि—जर्नल ऑफ द ओरियन्टल रिसर्च
21. जइहि—जर्नल ग्रॉफ इण्डियन हिस्ट्री
22. जन्युसोइ—जर्नल ऑफ द न्युमिसमैटिक सोसायटी ग्रॉफ इण्डिया
23. जबि (ग्रो) रिसो—जर्नल ऑफ द बिहार (एण्ड उड़ीसा) रिसर्च सोसायटी
24. जरोएसो—जर्नल ग्रॉफ द रोयाल एशियाटिक सोसायटी
25. जएसोबं—जर्नल ग्रॉफ द एशियाटिक सोसायटी ग्रॉफ बंगाल

26. जएसोहिम्रो—जर्नल ऑफ द एकनोमिक एण्ड सोसल हिस्ट्री ऑफ द ओरियन्ट
27. महाभा—महाभारत
28. लस्तले—माइवर पिलर एडिक्ट
29. काम्रोउभा—नार्दर्न ब्लैक पालिस्ड वेयर
30. प्रोइहिकाँ—प्रोसिडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री काँग्रेस
31. चिमुर्भा—पेण्टेड ग्रवेयर
32. स्तही—पिलर एडिक्ट
33. शैले—राक एडिक्ट
34. पेरिप्लस—पेरिप्लस ऑफ द एसिथेयन सी
35. पयूज—पटना युनिवर्सिटी जर्नल
36. राजत—राजतरंगिणी
37. साइई—साउथ इण्डियन इन्सक्रिपसन्स
38. ईइसोहिरि—द इण्डियन एकोनोमिक एण्ड सोसल हिस्ट्री रिव्यु
39. एसआरके—सुभाषित रत्नकोश
40. एन० एच० आइ० पी०—न्यु हिस्ट्री ऑफ द इण्यिन पिपुल

विषय-सूची

अध्याय 1

सामान्य उपक्रमणिका

1. भौगोलिक पृष्ठभूमि :

भौगोलिक दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप एक विशेष इकाई के रूप में गठित है। प्रकृति ने इसे अतीत में अनेकानेक विनाशलीलाओं से बचाया है। भारत ही एक ऐसा विशाल देश है, जिसके भूभाग उष्णकटिबन्ध के भीतर और बाहर भी पड़ते हैं, जिसमें महाद्वीपीय भूमि भी है और प्रायद्वीपीय भी। इसमें कहीं केवल पाँच इंच वर्षा होती है तो कहीं पाँच सौ इंच। यह एक गर्म और नम देश है, जहाँ उष्णकटिबन्धीय देशोचित विविध वनस्पतियों की सदा समृद्धि रहती है, साथ ही इसके कुछ भाग सपाट मरुभूमि भी हैं जिसकी जलवायु की तुलना उत्तर-यूरोपीय प्रखरता से की जा सकती है। इसमें जहाँ कोई बात एक क्षेत्र के लिए सत्य हो सकती है, वहीं दूसरे क्षेत्र के लिए असत्य भी। इसकी स्थलाकृति में अद्भुत विविधता है। इसकी जलवायु शारीरिक और मानसिक दोनों चेतनाओं को जगाने वाली है।

प्रकृति ने अपने सागरों और पर्वतों के द्वारा भारत को एकात्मता का वरदान दिया है। इसके प्राकृतिक भाग हैं :—

कश्मीर :

पंजाब (सप्तसिन्धवः) जो सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के मैदान से बना है;

गंगा का विस्तृत मैदान (उत्तर प्रदेश और बिहार); पर्वत-पार ब्रह्मपुत्र घाटी, जिसमें आसाम और बंगाल का त्रिभुजक्षेत्र (डेल्टा) शामिल है।

महामरु प्रदेश (राजस्थान); नर्मदा और ताप्ती का ऊपरी जलग्रहणक्षेत्र (मालवा और उसका परवर्ती मध्यप्रदेश); उक्त दोनों नदियों का निचला जलग्रहण-क्षेत्र और मनोरम रूप से संलग्न प्रायद्वीप सौराष्ट्र या काठियावाड़ (गुजरात) दक्षिण (डेक्कन) का विशाल पठार, जो पश्चिमी घाटों के ऊँचे गिरिस्कन्धों से लेकर हैदराबाद तक और फिर वहाँ से अलक्षित रूप में नतावनत होते हुए पूरबी समुद्र तट तक चला गया है। इस क्षेत्र की सीमारेखा ई० पू० तीसरी शताब्दी के आन्ध्र साम्राज्य, बाद के बहमनी राज्य और हैदराबाद रियासत की सीमारेखा से लगभग अभिन्न है।

घाटों और अरब सागर के बीच की समतल पट्टी जो कोंकण और देश नाम से प्रसिद्ध है और वीर मराठों की जन्मभूमि है।

प्रायद्वीप का विशाल शीर्ष, जो कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों से शुरू होकर दक्षिण की ओर गया है, द्राविड संस्कृति का केन्द्र-स्थल बना है।

इस प्रायद्वीप का वह भाग जो सह्याद्रि नामक पर्वत के दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा देश तक फैला हुआ है 'डेकन' कहलाता है।

उत्तर में हिमालय इसका प्रहरी है। इसके पूरब, पच्छिम और दक्खिन में क्रमश बंगाल की खाड़ी (पूर्व समुद्र), अरब सागर (पश्चिम समुद्र) और हिन्द महासागर इसे समृद्ध बनाए हुए हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति सुविधाजनक है। टोलेमी ने इसकी पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश तक बताई है और अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा कन्दहार (गान्धार) को इसकी सीमाओं के भीतर माना है। कई दर्रोंवाले हिमालय-पार हिन्दूकुश का प्रयोग सभी युगों में होता आया है। मध्यदेश, उत्तरापथ (उत्तर भारत), प्राच्य (पूर्व भारत), दक्षिणापथ (डेकन) और उपरान्त (पश्चिम भारत) प्राचीन भारत के प्रमुख भौगोलिक विभाग हैं। मलयपर्वत, महेन्द्र पर्वत और पूरबी व पच्छिमी घाट विशाल भारतीय प्रायद्वीप के अंग हैं।

रामायण और महाभारत में तथा कालिदास की कृतियों में भारत की एकता की रागिनी है और इनमें इसके निराले प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है। कौटिल्य ने रत्नों और अन्य खनिजों के वर्णनक्रम में बतलाया है कि ये कहाँ-कहाँ पाए जाते हैं। उन्होंने केरल की ताम्रपर्णी नदी का तथा अन्यान्य नदियों का भी उल्लेख किया है। वात्स्यायन की कृतियों से मालूम होता है कि वे इस देश के भूगोल और राजनैतिक विभाजनों से परिचित थे और उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित विशेष रीति-रिवाजों का ब्योरा दिया है। कालिदास ने भारत के विस्तृत भौगोलिक ज्ञान का परिचय दिया है और भारत को वे वैसे जानते थे जैसे कोई-कोई विज्ञ भूगोलशास्त्री जान सकता है। उत्तर भारत के लोगों के लिए समुद्र का अर्थ बहुत छोटा था। अरिकामेडु में जो उत्खनन हुआ है, उससे स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो चुका है कि दक्षिण भारत के लोगों को भूमध्यसागरीय जनों के साथ निकट व्यापारिक सम्बन्ध था। समुद्र पर प्रभुत्व स्थापित करने की भावना उत्तर भारत के सम्राटों के मन में कभी न आई, किन्तु कलिंग, चोल और-पांड्य लोगों की यह सहज भावना थी। इससे भारत की प्रायद्वीपीय सभ्यता के सामुद्रिक क्रियाकलाप स्पष्ट लक्षित होते हैं। लोगों के जीवन पर प्राकृतिक तत्वों का प्रभाव साफ दिखाई देता है। इन तत्वों में आते हैं जलवायु और भौगोलिक बनावट, मिट्टी का प्रकार और उसकी उर्वरता आदि। इस देश में जिस तरह सांस्कृतिक एकात्मता है, उसी ढंग की

आर्थिक एकात्मता सदा रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था का मूलाधार था कृषि और ग्रामवासी जनसमुदाय। अतीत में यहाँ बड़े-बड़े साम्राज्यों के पतन का एक प्रमुख कारण था समरूप शिल्पवैज्ञानिक विकास का अभाव। आर्थिक क्षेत्र में भी भारत अपने ढंग से सदा आगे रहा है और पूरबी एवं पश्चिमी देशों से उसका सम्पर्क युगों से घनिष्ठ रहा है। इस विशाल उपमहादेश की भौगोलिक विशेषताएँ अनादि काल से इसके सामाजिक सह-आर्थिक ढाँचे को प्रभावित करती आई हैं। इसके आर्थिक पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं में आते हैं। तरह-तरह के धान, गेहूँ, दाल, कपास, सनई, पटसन, ईख, अलसी, तिल, रेंड़ी, सरसों, महुआ, नारियल, मरिच, लवंग, इलायची, केसर, जटामांसी, बलछड, आदी, हलदी, नील, चन्दन, रेशम, लाख, साग-सब्जी, फलमूल, पशु, मछली और खनिज।

लगभग सभी प्रमुख नदियों के तटों पर शहर बसे और जलवायु का प्रभाव निवासियों के आर्थिक जीवन पर पड़ा। सामुद्रिक व्यापारियों और नाविकों ने मानसून वायु का सहारा लिया। दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिण-पूरवी मानसून ने अफ्रीका समुद्र तट से पश्चिम भारत लौटने में तथा मालाबार समुद्रतट से मिस्र की ओर जाने में इन्हें बड़ी मदद की। जो भारतीय नाविक पूरबी आर्किपिलागो के साथ व्यापार करते थे, उन्हें भी मानसूनी हवा सहायता करती थी। प्लिनी के अनुसार, इन वायु-धाराओं के अस्तित्व का पता, जहाँ तक यूनानी-रोमन जगत का सम्बन्ध है, यूनानी समुद्रनाविक हीपालस ने लगाया और इस आविष्कार के फलस्वरूप भारत के साथ व्यापार की मात्रा काफी बढ़ गई। वनों का बड़ा ही आर्थिक मूल्य था और उनकी गणना राज्य की सम्पदा में थी।

नगरों का उद्भव केवल नदी-तटों पर ही नहीं, बल्कि व्यापार और तीर्थयात्रा के मार्गों में भी हुआ। पाटलिपुत्र बड़े सुरक्षित स्थान में था। साँची कई मार्गों के सन्धिस्थल पर थी; ऊपरी गंगा घाटी से उज्जैन की ओर और वहाँ से प्रतिष्ठान (पइठान) और दक्षिण-पश्चिम की ओर समुद्र तक जानेवाली सड़क इसी पाटलिपुत्र होकर जाती थी। भरुकच्छ (भृगुकच्छ) एक नामी शहर था। प्रायद्वीप के शीर्ष पर अवस्थित कन्याकुमारी (Cape Comorin) से मालाबार और कुरुमंडल (Coromondel)—समुद्रतट पन्द्रह सौ किलोमीटर फैले हुए हैं; जिनमें पहला उत्तर-पश्चिम की ओर और दूसरा प्रथमत: उत्तर की ओर बढ़कर फिर उत्तर-पूर्व की ओर चला गया है। इन दोनों तटों पर कई जगह अच्छी-अच्छी प्राकृतिक बन्दरगाहें हैं। भूमध्यसागर और अफ्रीका से चीन जानेवाले सामुद्रिक मार्गों के बीच में पड़ने के कारण प्रायद्वीपीय भारत ने मार्ग के दोनों ओर के देशों के साथ अच्छा-खासा समुद्री व्यापार विकसित किया और सदियों

चालू रखा तथा बंगाल की खाड़ी के उस पार पूरबी द्वीपों पर अच्छी मात्रा में औपनिवेशिक सत्ता जमाई। सातवाहन, पल्लव और चोल नरेशों के पास प्रबल नौसेना थी। प्रायद्वीपीय भारत के पोतों और समुद्री व्यापार की स्थितियों का प्राचीनकालीन विवरण **पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी** (जो आगे संक्षेप में सीधे 'पेरिप्लास' कहा गया है) में मिलेगा।

मेगास्थनीज के अनुसार यहाँ नगरों की संख्या इतनी अधिक थी कि ठीक-ठीक गिनाया नहीं जा सकता है। तक्षशिला पुष्कलावती, मरुकच्छ, तामलुक या ताम्रलिप्ति, कल्याण, सोपारा, मंगलोर आदि महानगरों की देश के आर्थिक जीवन में बड़े महत्व की भूमिका थी। मेगास्थनीज ने बताया है कि यहाँ एक बहुत बड़ी सड़क थी जो एक ओर पुष्कलावती और दूसरी ओर ताम्रलिप्ति को स्थल मार्ग से जोड़ती थी और इस प्रकार पश्चिम को पूरब के साथ मिलाती थी। पेरिप्लस ने बताया है कि एक सड़क मुसलीपट्टम से तगारा तक (दक्षिण से उत्तर तक) गई थी। मरुकच्छ, पाटलिपुत्र और उज्जैन भी परस्पर स्थल मार्ग से जुड़े थे; यहाँ के लोगों के आर्थिक जीवन में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी और इन महानगरों ने यहाँ के आर्थिक इतिहास की धारा को प्रभावित किया। इनके वाणिज्यिक महत्त्व का बखान मेगास्थनीज ने किया है। नदियाँ वाणिज्य-सम्पर्क में जलमार्ग का काम करती थीं और देश की भौतिक समृद्धि बढ़ाने में मदद पहुँचाती थीं। ईशा की छठी शताब्दी में ही समुद्र वाणिज्य-यात्रा का महत्वपूर्ण मार्ग हो चुका था। चीन और फारस के बीच चलनेवाले व्यापार में श्रीलंका विनिमय-केन्द्र (क्लियरिंग हाउस) का काम करती थी। भारत में बहुत-सी बन्दरगाहें थीं। 'मिलिन्द पञ्ह' से हमें सूचना मिलती है कि एक नाविक कई बन्दरगाहवाले शहरों में निरन्तर माल-भाड़ा वसूलते हुए धनवान हो गया और महासागर पार करके सौवीर और अलेग्जेंड्रिया जाने को समर्थ था जहाँ जहाज बहुत पाए जाते हैं। 'मिलिन्द-पञ्ह' के अनुसार अलेग्जेंड्रिया से चोल पत्तनम तक और सुवर्णभूमि तक भी सामुद्रिक यातायात होता था। मिलिन्द के समय में सियालकोट वाणिज्य का एक बड़ा केन्द्र हो गया था। जेनोबः ग्लैक्स (3री-4थी शताब्दी) ने लिखा है कि ईशा की पहली शताब्दी में आर्मेनिया में एक भारतीय उपनिवेश था।

इस तरह भौगोलिक पृष्ठभूमि और आर्थिक स्थिति के साथ उसके सम्बन्ध के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तीन ओर समुद्र से और एक ओर पर्वत से वेष्टित भारत जैसे देश के विषय में इस तरह के अध्ययन का क्या महत्व है। द्वीपीय संकीर्णता का आरोप इस पर नहीं लगाया जा सकता है। भारत ने

अपनी भौगोलिक सीमाओं के बाहर के देशों के साथ सदा घनिष्ठ और सौहार्द्रपूर्ण सम्पर्क बनाए रखे हैं और ये सम्पर्क भौतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से लाभकर रहे हैं। केनेडी ने ठीक ही कहा है कि विश्व में व्यापार सबसे पहले उन्हीं देशों के बीच चला होगा जो सबसे पहले सभ्यता के केन्द्र बने। गंगा के रास्ते और मरुकच्छ होते हुए तथा अरब की खाड़ी से समुद्र-यात्राएँ अवश्य ही भारतीय पोतों पर की गई होंगी। 'दीघनिकाय' के 'केवत्तसुत्त' (कैवर्तसूत्र) से पता चलता है कि भारतवासी ऐसी समुद्र-यात्राएँ बहुत पहले से करते रहे होंगे। वे अपने साथ तटान्वेषी पक्षी ले जाते थे। इस प्रकार, भारत के आर्थिक इतिहास में इसके भौगोलिक पहलुओं का बहुत बड़ा हाथ है।

2. अध्ययन के स्रोत :

कुल मिलाकर जो विविध स्रोत हमें उपलब्ध हैं, उनसे नये-नये दृश्य सामने आते हैं और कई रोचक संस्थाओं और प्रथाओं का पता चलता है। ये स्रोत हमें उच्चस्तरीय भौतिक चेतना का आभास देते हैं। स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में केवल ब्राह्मणिक व्यवस्था की झलक मिलती है। बौद्ध प्रथाएँ अपनी मठीय व्यवस्था में समता और गणतन्त्र की ओर, ब्राह्मणिक प्रथाओं की अपेक्षा, अधिक आगे बढ़ी हुई हैं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और 'पेरिप्लस' को छोड़, ऐसी कोई प्राचीन पुस्तक नहीं मिलती जो आर्थिक दृष्टिकोण से लिखी हुई हो। वास्तव में 'अर्थशास्त्र' बहुत ही महत्वपूर्ण है। विविध पुराण, पंचतन्त्र, हितोपदेश, रामायण, महाभारत, कथासरित्सागर तथा अन्यान्य साहित्यिक स्रोत शुद्ध मानव जीवन की झलक देते हैं।

वेद, रामायण, महाभारत, स्मृति और अर्थशास्त्र कुछ हद तक धर्मनिरपेक्ष दृष्टि रखते हैं और पुराणों एवं धर्मशास्त्रों सहित ये ग्रन्थ आर्थिक इतिहास के अध्ययन में हमारे अन्यतम स्रोत हैं। इनमें तत्काल प्रचलित सामाजिक और आर्थिक धारणाओं की झलक मिलती है। 'अर्थशास्त्र' बाद में रचित होने पर भी मौर्य काल की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को प्रतिफलित करता है। धर्मनिरपेक्ष साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, जैसे विधि ग्रन्थ—'धर्मसूत्र' स्मृतियाँ तथा उनपर लिखी गईं टीकाएँ या निबन्ध ग्रन्थ, जो धर्मशास्त्र कहलाते हैं। धर्मसूत्रों (500 से 200 ई० पू० के बीच रचित) और प्रमुख स्मृतियों (ईसा की पहली और छठी शताब्दी के बीच संकलित) में सम्पत्ति के अर्जन, विक्रय और दाय सम्बन्धी नियम दिए गए हैं। आपस्तम्ब, बोधायन, गौतम, वशिष्ठ, मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु आदि इस

विषय पर प्रचुर प्रकाश देते हैं। नियम-कानून सम्बन्धी कदमों से सामाजिक और आर्थिक विकास की अवस्था परिलक्षित होती है तथा सामाजिक और आर्थिक विचारधारा मालूम होती है जो सामाजिक सम्बन्धों का ढाँचा निरूपित करती है।

कौटिल्य ने जो खेत की आधी उपज पर काम करने वाले रैयतों का जिक्र किया है, लगभग वैसा ही मनु, याज्ञवल्क्य और पल्लव-अभिलेख के साक्ष्य पर भी सिद्ध होता है। अन्य व्यापारिक लगान जैसे शुल्क, प्रणय, गुल्मदेय,—'अवदानशतक' 'दिव्यावदान' और रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में भी लगभग उसी तरह पाए जाते हैं। 'बुद्धचरित,' 'सौन्दरनन्दकाव्य,' 'अवदानशतक', 'दिव्यावदान,' 'ललितविस्तार', 'विष्णुस्मृति,' महाभारत' के उपदेशात्मक भाग, भास के नाटक तथा इक्ष्वाकु एवं पल्लव राजाओं के शिलालेख—ये सभी आर्थिक इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर नया प्रकाश देते हैं। इन स्रोतों की व्याख्या कई ढंगों से की जा सकती है, क्योंकि इनमें से बहुत-सारे मूलतः ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं। इन स्रोतों का दोहन कुछ सतर्क और सम्यक् दृष्टिकोण से करना है। हमें कल्पित आख्यानों को छाँटकर वास्तविक तथ्य निकालना होगा और तदनुसार तिथि-समायोजन करना होगा।

ऋग्वेद में आर्थिक इतिहास के कुछ पहलुओं पर अगल-बगल की अच्छी झाँकी मिलती है। जल-प्रणाल खोद कर बनाए जाते थे और सिंचाई के लिए नहरों और कुओं का उपयोग होता था, इसका भी उल्लेख मिलता है। रहट (अरघट्ट) की भी चर्चा है। वैदिक काल के बाद 600 ई० पू० तक 'ब्राह्मण काल' कहा जाता है। परवर्ती संहिताएँ, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि का बोलबाला हुआ। पश्चिम का उत्कर्ष घटता गया और कुरु-पञ्चाल से पूर्व के क्षेत्रों ने महत्त्व पाया। सभ्यता में प्रगति हुई जिसमें धातुओं की जानकारी बढ़ी, जैसे हिरण्य (सोना), अयस्, श्याम, लौह, शीशा, त्रपु (राँगा)। रामायण में सोना, चाँदी, लोहा, राँगा, पारा, वंग (टिन) आदि का उल्लेख है। आपस्तम्ब और बौधायन ने अपने सूत्रों में मुख्यतः ग्रामीण जीवन का ही चित्रण किया है और उन्होंने शहरी जीवन के धर्मानुष्ठानों का वर्णन नहीं किया है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से हमें यह आभास मिलता है कि किस हद तक राजकीय नियंत्रण था। कौटिल्य कितने व्यवहार-विद् थे, यह उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रकट होता है "जब राजा अपने को आर्थिक संकट में पड़ा पाए और उसे धन की आवश्यकता हो, तो वह समृद्ध सेठ के बाने में अपने गुप्तचर को या अपने गुप्तचर के रूप में किसी विख्यात सेठ को ही नियोजित करे। वह अपने वृत्तिसंघ से (प्रचुर मात्रा में) सोना उधार ले और उसी रात उसकी चोरीकरा दे।" उनका कहना है कि "अर्थ ही सारवस्तु है; क्योंकि धर्म और काम की पूर्ति अर्थ पर ही निर्भर है।"

रामायण और महाभारत के अतिरिक्त, मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद, बृहस्पति, कात्यायन, वराहमिहिर, बाण, शूद्रक, दण्डिन आदि ने भी समकालीन आर्थिक इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर प्रचुर प्रकाश डाला है। गौतम, मनु और बृहस्पति ने सम्पति के अर्जन के तरीके बताए हैं और सम्पत्ति के यथार्थ स्वामी की हितरक्षा के व्यापक नियम बनाए हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु आदि के वचनों से हमें बहुत-सी सैद्धान्तिक जानकारी मिलती है और उनमें विशाल मात्रा में नैतिक उपदेश भरे हैं।

'जातकों', 'विनय पिटक', 'सुत्तपिटक' आदि स्रोतों से भी पूर्वकालीन भारत के आर्थिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। सूत्रों का उद्देश्य है ब्राह्मणिक विद्या के समृद्ध भंडार से तत्त्व निकाल कर देना और जातकों में कथाओं को प्रमाण के रूप में रखा गया है। सामूहिक प्रयासों के उदाहरणों से प्रकट होता है कि ग्रामों में नागरिकता का बोध अपेक्षाकृत ऊँचा था और जो तस्वीर उभरती है वह एक ग्रामीण समाज की है। जातकों से जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था लक्षित होती है, वह मुख्यतः निजी स्वामित्व पर आधारित है, जैसा कि 'दिव्यावदान' से स्पष्ट होता है। 'छान्दोग्य उपनिषद', 'सौन्दरनन्दकाव्य', जातक, कौटिल्य और मनु तथा अशोक के शिलालेखों में सड़कों का महत्त्व बखाना गया है, जो भीतरी (स्थलाभ्यन्तर) व्यापार में मूलाधार का काम करती हैं। जातकों में काफी लम्बी अवधि की आर्थिक स्थिति के बारे में प्रचुर मात्रा में उपयोगी जानकारी मिलती है। गंगा और विश्व के अन्य भागों के बीच वाणिज्य-सम्बन्ध की भी चर्चा आई है।

साइलैक्स, (Scylax) मिलेट्स के हेकाटियस, हेरोडोटस आदि जैसे लेखकों की कृतियाँ भी आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए उसी तरह महत्वपूर्ण हैं। दारा (Darius) ने 516 ई० पू० में साइलैक्स को यह पता लगाने के लिए भेजा कि सिन्धु के मुहाने से फारस समुद्र-यात्रा सम्भव है या नहीं। उन्होंने तेरह मासों में यह यात्रा पूरी की और इस राजनैतिक संसर्ग से वाणिज्यिक ससर्ग का भी रास्ता खुल गया। 'मिलिन्दपञ्ह', 'महावंस', महानिद्देस' और जैन 'आचारांगसुत्त' में हमें व्यापार और उद्योग के बारे में तथा व्यापारियों के बारे में भी बहुत-सी जानकारी मिलती है। पाँचवीं और छठी शताब्दी के बीच हुए कालिदास, विशाखदत्त आदि लेखकों ने स्वसमकालीन आर्थिक स्थिति का चित्रण किया है। वराहमिहिर की कृति में कृषि, पशुपालन, व्यापारवाणिज्य, सम्पत्ति-विपत्ति और दुर्भिक्ष के बारे में जानकारी मिलती है, किन्तु उद्योग-धन्धे के बारे में वह मूक है। 'अमरकोश' और 'कामसूत्र' में भी आर्थिक पहलुओं पर आलोक मिलता है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि भी, जहाँ तक आर्थिक इतिहास का प्रश्न है,

हमारे अमूल्य स्रोत हैं। 'नारद स्मृति' में दीनार का उल्लेख है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' (रा० त०) भी जानकारी का अमूल्य स्रोत है।

पुरातात्त्विक आविष्कारों, पुरालेखों और सिक्कों आदि देशी स्रोतों के सहारे हम प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन की एक शृंखलाबद्ध कहानी गढ़ पाने में समर्थ हैं। उत्कीर्णलेख भी हमारे विश्वसनीय स्रोत है, जिनमें हमें भूमि-प्रणाली, वृत्तिसंघों (गिल्डों) व्यापारियों, करों के प्रकार और सिंचाई-साधनों के बारे में जानकारी मिलती है। बहुत-सारे पश्चिम भारतीय उत्कीर्ण लेखों में तथा जूनागढ़ और हाथी गुम्फा अभिलेखों में भूमि-प्रणाली, वृत्तिसंघ, (गिल्ड) व्यापार-कर और स्थानीय सिंचाई-साधनों से सम्बद्ध बहुत-सी बातें वर्णित हैं। सिक्के भी आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। सिक्कों ने विशाल पैमाने पर होनेवाली खरीद-बिक्री में काफी मदद पहुँचाई है और व्यापार के विकास-विस्तार में उनका हाथ है। हमें सबसे अधिक सिक्के मौर्योत्तर काल के मिलते हैं। मौर्योत्तर और कुषाणोत्तर कालों में उत्कीर्ण लेख और सिक्के हमारी प्राथमिक स्रोतसामग्री हैं।

दक्षिण-भारतीय साहित्य, और विशेष कर 'संगम' साहित्य, जो तीन-चार शताब्दियों के बीच लिखा गया, तमिलनाडु के लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन के बारे में जानकारी का महान् स्रोत है। इसमें व्यापार और वाणिज्य के विषय में जो बातें मिलती हैं, उनकी पुष्टि विदेशी वृत्तान्तपुस्तकों, स्थानीय पुरातात्त्विक अवशेषों और उत्कीर्ण लेखों से भी होती है। दक्षिण भारतीय अभिलेख हमारे प्रयोजन के लिए बहुत ही महत्त्व के हैं। 'पारस्कर गृह्यसूत्र' भी अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। दक्षिण भारत की मन्दिर-संस्थाओं से सम्बद्ध दस्तावेजें और कागजात भी उसी तरह आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

विदेशी पर्यटकों के यात्रावृत्तान्त भी आर्थिक गतिविधि के विषय में पर्याप्त प्रकाश देते हैं। मेगास्थनीज, ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के यूनानी और रोमन वृत्तान्त, टोलेमी का भूगोल, प्लिनी की 'नेचुरल हिस्ट्री' और स्ट्राबो एवं अगाथार्किडीज के लेख—ये सभी हमारे प्रयोजन के लिए अन्यतम महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। यूनानी और रोमन लेखकों ने कई भारतीय बन्दरगाहों का उल्लेख किया है और बताया है कि भारत और रोम-साम्राज्य के बीच किन-किन वस्तुओं का व्यापार होता था। 'पेरिप्लस' सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इसमें ईसा के बाद प्रथम शताब्दी के दक्षिणी अरब समुद्रतट रेखा से होते हुए दक्षिण भारत और पश्चिम भारत का वृत्तान्त दिया गया है। लेखक को बन्दरगाहों, वाणिज्य नगरों और एरिथ्रियन सागर (लाल सागर और अरब सागर) द्वारा आयातित और निर्यातित वस्तुओं की प्रत्यक्ष जानकारी थी। पश्चिमी दुनिया के साथ भारत के

व्यापार के बारे में लेखक हमारे सर्वोत्कृष्ट मार्गदर्शक हैं। लेखक का नाम अज्ञात है। उन्होंने लाल सागर से भारत तक समुद्र यात्रा की थी। यह भारत और पश्चिमी देशों के बीच पूर्वकालीन व्यापार और सामुद्रिक चहलपहल का महत्वपूर्ण और विश्वसनीय वृत्तान्त देता है। वृत्तान्त प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है। यह वणिकों के लिए एक मार्गदर्शक पुस्तिका है, क्योंकि इसमें लाल सागर, अरब सागर, पूर्व अफ्रिकी और भारतीय समुद्र तट की भौगोलिक जानकारी का जो ब्योरा दिया गया है, वह आश्चर्यजनक है। एरिथ्रियन सागर यह नाम यूनानियों और रोमनों ने हिन्द महासागर को दिया था जिसमें लाल सागर और फारस की खाड़ी भी समाविष्ट है। टोलेमी ने 'पेरिप्लस' का उपयोग किया था।

टोलेमी के खंड सात में गंगा तक और उसके पार के भारत का वर्णन है। प्लिनी ने लिखा है कि भारत के खनिज और रत्न दुनिया भर में सर्वश्रेष्ठ हैं। **'क्रिश्चियन टोपोग्रॉफी'** के लेखक कॉसमस इंडिको प्लियस्टेल (535-47 ई०) एक सौदागर थे और भारत सहित कई देशों में घूमे थे। अन्ततः वे बौद्धभिक्षु हो गये। उन्होंने अपने काल के वाणिज्य और भूगोल का अच्छा-खासा वर्णन किया है। उनसे हमें (तत्कालीन) अफ्रिकी और भारतीय पशुओं की तथा दक्षिण भारतीय काले मिर्चों की जानकारी मिलती है। उन्होंने बताया है कि उस समय श्रीलंका देश विश्व वाणिज्य का महान् केन्द्र था, जहाँ भारत, चीन, अफ्रीका, फारस और बैजटाइन का संगम होता था। प्रोकोपियल (527 ई०) ने बैजंटाइन साम्राज्य के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध का वर्णन किया है। जस्टिनियन के **'लॉ डाइजेस्ट'** में उन सामानों की सूची दी गई है जो भारत से जाते थे। मेगास्थनीज, फाहियान, हुएनत्सांग, इत्सिंग, अरब के पर्यटक, भूगोल लेखक और सौदागर, अलबरूनी तथा विश्व के विभिन्न भागों से आए बहुत-सारे भ्रमणशील व्यापारी भारत का अपना-अपना आँखों देखा हाल छोड़ गए हैं, जो भारत के पूर्वकालीन आर्थिक इतिहास को फिर से गढ़ने के लिए मूल्यवान स्रोत-सामग्री है। आज से बहुत दिन पहले ही, 1918 ई० में एन० एन० लॉ ने ऐसी पुस्तकों और हस्तलेखों की, जिनमें आर्थिक विषय का विवेचन किया गया है, एक सूची बनाई थी। (इऐं—XLVII, 1918, पृ० 253)।

इन स्रोतों का गहरी नजर से विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन करना होगा, क्योंकि इनमें अधिकांश की रचना अवैज्ञानिक ढंग से हुई है। इनके उपयोग में सतर्कता बरतनी होगी। जहाँ तक साहित्यिक स्रोतों का सवाल है, पहले उनका स्तर निर्धारण करना होगा, तब उन्हें कालक्रम से विन्यस्त करना होगा, ताकि उनका

अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके। ये स्रोत तिथिहीन हैं और यह भी सम्भावना है कि इनमें प्रक्षेप हों, मिश्रण हों तथा कई स्तर हों। पुरालेख, सिक्का और पुरातत्वमूलक स्रोत अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होते हैं। नीचे साहित्यिक स्रोतों का स्थूल तिथिक्रम दिया जाता है :—

(1) **वैदिक संहिताएँ**—1500-1000 ई० पू०।

(2) **ऋग्वेद**—1200 ई० पू० (दसवाँ मंडल उत्तर कालीन माना जाता है)।

(3) **परवर्ती वैदिक ग्रन्थ**—1000-500 ई० पू०।

(4) **उपनिषद्**—1000-500 ई० पू०। बहुत-सी उपनिषदें 500 ई० पू० के बाद संकलित हुई हैं, जिनमें श्रौतसूत्र और ब्राह्मण भी शामिल हैं।

(5) **धर्मसूत्र** (प्राचीनतम विधिशास्त्र)—620-200 ई० पू०। इनमें आपस्तम्ब और बोधायन प्राचीनतम हैं। इनके बाद आते हैं गौतम और वशिष्ठ। धर्मसूत्रों में करारोपण और सम्पत्ति की रक्षासम्बन्धी नियम-कानून हैं। इनमें हमें समाजार्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में ब्राह्मणिक विचारधारा का क्रमबद्ध वर्णन सर्वप्रथम मिलता है। 'विष्णु धर्मसूत्र' का काल 300-100 ई० पू० है, किन्तु इसमें ईसा के बाद सातवीं शताब्दी तक परिवर्धन होता गया है।

(6) **धर्मशास्त्र**—इसमें हर प्रकार के विधि-सम्बन्धी ग्रन्थ टीकासहित आते हैं। यह श्लोकबद्ध स्मृतियों के रूप में विकसित हुआ है। स्मृतियों में सबसे प्राचीन है **'मनुसंहिता'** या **'मानव धर्मशास्त्र'** (लगभग 200 ई० पू०-200 ई०), **'विष्णुस्मृति'**, (200-400 ई०)। **'याज्ञवल्क्य-स्मृति'** में मनु की बातें ही अधिक परिष्कृत रूप में विन्यस्त हैं। इसकी बहुत-सी व्यवस्थाएँ **'अर्थशास्त्र'** की व्यवस्थाओं से मिलती हैं। वी० एन० रोमानोव ने हाल में ही धर्मशास्त्रों के आधार पर प्राचीन भारत के नैतिक विचार पर एक आलेख प्रकाशित किया है। इसमें **'अर्थवाद'** पर विशेष ध्यान दिया गया है जिसमें आचरण के विभिन्न नियमों की संस्तुति और उनकी ओर उन्मुखीकरण दिया रहता है। विद्वान् लेखक के अनुसार, इस उपाय के द्वारा हिन्दू धर्म के आचारमूलक सिद्धान्तों और ब्राह्मणग्रन्थों की जादुई व्यष्टि प्रभावमूलक भावनाओं के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध निकालना सम्भव होगा। इसमें खाद्याखाद्य, शुद्धि, संस्कार और राजकर्म सम्पादन जैसे मूल प्रश्नों की समाकलित अवधारणा की व्याख्या निहित है। (द्रष्टव्य-Vestynic Dreveni Istori—No 3, 1980—pp. 141-153)।

विज्ञानेश्वर ने **'याज्ञवल्क्यस्मृति'** पर टीका लिखी है जो **'मिताक्षरा'** कहलाती है (लगभग 11वीं शताब्दी ई०)। यह हिन्दू सिविल लॉ का मूलाधार

मानी गई। जहाँ धर्मशास्त्र ब्राह्मणों को ऊँचा बनाते हैं, वहाँ अर्थशास्त्र क्षत्रियों को। मेधातिथि ने 'मनुस्मृति' पर एक टीका लिखी। एक और स्मृति है जो 'शंखालिखित स्मृति' कहलाती है (300-100 ई० पू०)।

(7) तीन पूर्णतः विधिविषयक स्मृतियाँ हैं—'नारद स्मृति', 'बृहस्पति स्मृति' और 'कात्यायन स्मृति' (लगभग 300-600 ई०)। इनमें अठारह शीर्षकों में (सिविल 14 और फौजदारी 4) विधि का विवेचन किया गया है।

ये सभी मिलकर भारत के विधि सम्बन्धी इतिहास के सीमा-स्तम्भ का काम करते हैं।

(8) पुराणों और महाभारत में संनिविष्ट स्मृतिभाग—लगभग 200 ई० पू०—200 ई०।

(9) महाभारत—कथाभाग दशम शताब्दी ई० पू०; वर्णनात्मक और उपदेशात्मक भाग चौथी शताब्दी ई०; और सभापर्व प्रथम शताब्दी ई० पू०। इसका 'राजधर्म खंड' शान्तिपर्व में चौथी शताब्दी ई० के बाद जोड़ा गया है, जहाँ प्रथम शताब्दी ई० के यवनों, शकों और पल्लवों का उल्लेख हुआ है।

(10) 'रामायण'—200 ई० पू०—200 ई०। इसका सर्वप्रथम उल्लेख प्रथम शताब्दी ई० में कई जैन और बौद्ध ग्रन्थों में आया है।

(11) पुराण—वायु, विष्णु, मार्कण्डेय और मत्स्य—300-600 ई०। 'विष्णु-पुराण' इससे अधिक प्राचीन हो सकता है।

(12) 'अर्थशास्त्र'—300-200 ई० पू०, किन्तु हाल में कम्प्यूटर के सहारे जो एक अध्ययन हुआ है उसमें ट्राटमैन ने इसे 245 ई० का सिद्ध किया है। यह व्यावहारिक अधिक है, धर्म से प्रभावित कम, यह मध्य में सूत्रशैली में लिखा हुआ है और ई० पू० प्रथम शताब्दी तक प्रचलन में था।

(13) 'कामन्दकीयनीतिसार'—400-800 ई०।

(14) 'पाणिनि'—पाँचवीं शताब्दी ई० पू०। इस पर पतंजलि का भाष्य द्वितीय शताब्दी ई० पू० में लिखा गया।

(15) 'शुक्रनीतिसार'—900-1900 ई०।

(16) पालि बौद्ध धर्म ग्रन्थ—400-300 ई० पू०।

(17) जैन श्वेताम्बर जैन धर्मग्रन्थ—100-200 ई०।

(18) अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' और सौन्दर नन्द'—100-200 ई०।

(19) भास—100-200 ई०।

(20) 'पंचतन्त्र'—100-200 ई०।

(21) 'महावग्ग', 'चुल्लवग्ग', 'विनयपिटक'—प्रथम शताब्दी ई० पू० ।

(22) 'जातक'—द्वितीय शताब्दी ई० पू० ।

(23) 'दीघनिकाय'— तृतीय शताब्दी ई० पू० ।

(24) 'महावस्तु'—प्रथम शताब्दी ई० पू० ।

(25) जैन—मूलग्रन्थ छठी शताब्दी ई० में संकलित और जैन पुराण 800-900 ई० के बीच ।

3. वार्ता का अभिप्राय

कौटिल्य ने आर्थिक सिद्धान्त के व्यावहारिक शास्त्र का प्रवर्तन किया जो 'वार्ता' के नाम से विदित है। 'वार्ता' शब्द का मूल है 'वृत्ति' अर्थात् जीविका। वार्ता के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय मनीषियों ने श्रमिक, उत्पादन, वितरण और विनिमय के बारे में अध्ययन किया है। इस शास्त्र को 'लोक-व्यवहार' कहा गया है। वार्ता का अभिप्राय है राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और वह जीवन का मूल है। कौटिल्य ने ठीक ही इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए वार्ता के व्यावहारिक उपयोग का अध्ययन आवश्यक है। यह विद्या की एक शाखा के रूप में प्रस्फुटित हुई और इसका काम हुआ प्रजा के भौतिक हित और आर्थिक कल्याण, उसकी रक्षा और उभ्युदय का क्रमबद्ध अध्ययन करना। प्राचीन भारत में यह मानव के ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग था; इसीलिए तो रामायण, महाभारत और अर्थशास्त्र में इसका वारंबार उल्लेख मिलता है।

वार्ता विद्या की एक प्रमुख शाखा थी; बहुत-से शिक्षक छात्रों को यह शास्त्र पढ़ाते थे, जिनमें कुछ को राजकीय सहायता भी मिलती थी। कामन्दक पर टीका लिखने वाले शंकराचार्य ने गौतम और शालिहोत्र प्रणीत पशुपालन एवं पशुचिकित्सा विषयक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उन्होंने पराशर प्रणीत एक कृषिविषयक ग्रन्थ का और विदेहराज प्रणीत व्यापार विषयक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। अथर्ववेद का मुख्य उद्देश्य था सम्पत्ति के अर्जन के उपायों का विवेचन, और इस तरह वार्ता और तादृश अन्य शास्त्र भी इसके अन्दर आ जाते हैं। अपने राज्य के भीतर वार्ता के सिद्धान्तों का लाभकर प्रयोग अधिकारी व्यक्तियों द्वारा कराना राजा का कर्तव्य था, अतः राजा वार्ता का अध्ययन करता था। वार्ता को संसार का 'मूल' कहा गया है। यह राजाओं के लिए अवश्य पठनीय थी, ताकि उन्हें इसका व्यावहारिक ज्ञान रहे। वार्ता का मूलाधार जनपद है। सम्भवतः वार्ता का आविष्कार उस समय हुआ होगा, जब समाज के आर्थिक जीवन में शिल्पों और

कलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं थी। वार्ता में शिल्प और कला का स्थान नहीं है। 'अर्थशास्त्र' में, प्रतिरक्षा सम्बन्धी विवेचन के अतिरिक्त, वार्ता के प्रवर्तन के लिए सुविधा देने पर जोर दिया गया है। कम्बोज और सौराष्ट्र जैसे लड़ाकू संघ भी शान्ति काल में वार्ता में लग्न रहते थे।

मुख्य वृत्तियाँ वे मानी जाती थीं जो मनुष्य को जीविका का सहारा दे सकें, जैसे कृषि, पशुपालन और वाणिज्य एवं महाजनी सम्पत्ति बटोरने का साधन मानी जाती थी। इनमें रामायण और महाभारत ने पशुपालन को उतना ही महत्वपूर्ण और व्यापक माना गया है, जितना कृषि कर्म को। इन चार प्रतिष्ठित वृत्तियों (वार्ताओं) में लोगों के सभी पेशे शामिल नहीं हैं। इन चारों के बाहर भी लोग अपने पेशे की तलाश कर सकते थे और नागरिक जीवन की बहुविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई स्वतन्त्र व्यवसाय उद्भूत हुए। मक्खाली गोसाल्ल ने चार हजार नौ सौ प्रकार के पेशे बताए हैं। कहा गया है कि वार्ता की बदौलत ही राज्य को अन्न, पशु, धन और विविध प्रकार के उत्पादन नसीब होते हैं। इसी से राज्य को विष्टि (बेगार) भी मिलती थी; क्योंकि वार्ता से ही कोष और बल (सेना) का पालन होता था और इसी के सहारे राजा प्रजा को रख सकते थे और शत्रु को रोक सकते थे। एक प्रकार के संघ को वार्ताशस्त्रोपजीविनः कहा गया है, जिसका अर्थ है ऐसे पेशेवर सैनिकों का संघ जो कृषि, पशुपालनादि से अपनी जीविका चलाने में समर्थ हैं। वे वार्ता (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) को अपनी जीविका बनाए हुए थे। कौटिल्य के अनुसार काम्बोज, सौराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणी आदि वार्ता के प्रशसक थे।

शूद्रों के कर्मों में जो 'कारुकुसील कर्म' है, वह वार्ता से पृथक् है। कौटिल्य ने राज्य की आय के स्रोतों की एक मद के रूप में 'कारुशिल्पिसंघः' का उल्लेख किया है। 'देवीपुराण' ने वार्ता के प्रकारों में 'कर्मान्त' भी जोड़ दिया है, जिसका अर्थ है कारखाना (मैन्युफैक्चर, वस्तुनिर्माण); और इस अर्थ में यह वार्ता आधुनिक अर्थशास्त्र के समानार्थक-सी हो जाती है, जिसमें सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और विनिमय समाहित हैं। इस तरह वार्ता सम्पत्तिशास्त्र है। इसमें मानव के आर्थिक अध्यवसाय बताए गए हैं, वृत्तियाँ या जीवनोपाय वर्णित हैं तथा कृषि, कला, शिल्प, व्यापार, उद्योग और महाजनी पर आधारित आर्थिक ढाँचा निरूपित किया गया है। वार्ता से शक्ति का आविष्कार होता है। इसमें केवल भौतिक समृद्धि पर ही नहीं, श्रम पर जोर दिया गया है और महाजनी भी इसमें समाविष्ट है। समृद्धि के लिए श्रम आवश्यक था और नकदी लेन-देन को भी वार्ता के सिद्धान्तों में स्थान

था और इसमें व्यापार भी आ जाता था। नारद के अनुसार वार्ता के उचित विकास पर ही प्रजा का सुख निर्भर है। नारद युधिष्ठिर से पूछते हैं "क्या आपकी वार्ता की देखभाल उपयुक्त अधिकारी करते हैं ?" वार्ता मुद्रा (करेंसी) का, और उत्पादन-क्रियाकलाप का केन्द्र बिन्दु है। वार्ता का लक्ष्य कुल मिलाकर वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय है। वार्ता की विविध शाखाओं को प्रोत्साहन देना तथा इनके कार्यकलाप में लगे वर्गों की सहायता करना राजा का अनिवार्य कर्तव्य था।

वार्ता, इस प्रकार, स्वभावतः राज्य का एक प्रमुख विषय मानी जाती थी। इसका स्थान त्रयी (तीन वेद) और दंडनीति के समकक्ष था। वार्ता के तत्त्व मानव जाति के पालन की व्यवस्था करने वाले थे। ऐसा माना जाता था कि वार्ता के नियमों से च्युत प्रजा का विनाश हो जाएगा और इससे यह संकेत मिलता है कि हमारे आर्थिक जीवन में कृषि का कितना महत्त्व था। यही कारण है कि राजा के लिए वार्ता की शिक्षा आवश्यक थी। इससे अन्न, पशु, स्वर्ण तथा वन्य वस्तुओं की प्राप्ति होती थी। व्यापार सहित इन सभी पहलुओं से सम्बद्ध पेशे इसमें समाहित हैं। कौटिल्य, मनु और मिलिन्दपञ्ह के लेखक वार्ता में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को समाविष्ट करते हैं, किन्तु 'शान्तिपर्व' के अनुसार महाजनी भी शामिल है। 'बौधायन धर्मसूत्र' और 'शान्तिपर्व' का कहना है कि वेदाध्ययन और कृषि दोनों साथ-साथ चलने वाले और परस्पराश्रित हैं। कामन्दक के अनुसार वैश्य का कर्म है पशुपालन, कृषि और वाणिज्य और जो इन कर्मों से जीविका चलाता है, उसका पेशा वार्ता कहलाता है। समाज के कल्याण के लिए वार्ता का महत्त्व इतना अधिक माना जाता था कि कामन्दक ने ऐसी सलाह दी है कि जो लोग वार्ता में कुशल हों, उन्हें किसी साधन का अभाव नहीं रहने दिया जाए। कालिदास ने इसमें कृषि और पशुपालन को समाविष्ट किया है जो राष्ट्रीय समृद्धि का महान् स्रोत है। शुक्र के अनुसार कुसीदद (महाजनी) और वाणिज्य भी इसमें शामिल हैं।

कृषि, उद्योग और व्यापार का सर्वांगीण विकास प्राचीन भारत के लोगों के जीवन का मूलमन्त्र है। इस विकास का कारण है, अंशतः निजी उद्यम और अंशतः राजकीय प्रबन्ध और नियन्त्रण। इस प्रकार प्राचीन भारतीय अर्थतन्त्र का अध्ययन इसके सभी पहलुओं में बड़ा ही रोचक है—भूमि और कृषि सम्बन्धी अर्थव्यवस्था, व्यापार और वाणिज्य, पेशा और वृत्तिसंघ, मजदूर और मजदूरी, बैंकिंग और ब्याज, नियन्त्रित मुद्रा-प्रणाली आदि-आदि। आम तौर से राजनैतिक विप्लव से आर्थिक क्रियाकलाप में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। ग्रामवासी लोग कई तरह के गृह-उद्योग चलाते थे जो कभी-कभी ग्राम-संगठन के आर्थिक आधार का काम करते थे।

यह ठीक ही कहा गया है कि जब तक राजा वार्ता का सम्पोषण करता रहेगा, तब तक सब कुछ ठीक ही ठीक चलता रहेगा। भीष्म के अनुसार बुद्धिमान पुरुष को खेती करनी चाहिए और फसल उपजाना चाहिए। 'जातकों' और 'विनयपिटक' में कहा गया है कि कृषि, व्यापार, अन्नसंग्रह और महाजनी ये चार महत्वपूर्ण सद्व्यवसाय हैं। मिथिला के राजा को हल चलाते समय सीता मिली थी। वार्ता के अनुसार, हल चलाना राजा की शिक्षा का एक अंग था। बौद्ध साहित्य में भी राजा द्वारा और राजकीय अधिकारियों द्वारा हल चलाए जाने की बात की पुष्टि होती है।

वार्ता का लक्ष्य नितान्त व्यावहारिक था। इसका काम था व्यापारियों, कृषिस्वामियों, पशुपालकों, शिल्पियों, उद्यमियों, राजपुरुषों और खेतिहरों को रास्ता दिखाना। इस अर्थ में यह सर्वांगपूर्ण अर्थशास्त्र थी और प्राचीन भारत की विद्याओं में इसका एक महत्वपूर्ण स्थान था जैसा कि महाभारत में इस पर दिए गए जोर से प्रकट होता है। वर्णव्यवस्था में वार्ता के अन्तर्गत कर्म वैश्य के लिए विहित किए गए हैं। राजा को चाहिए कि वह वैश्यों और शूद्रों को अपने-अपने कर्मों में लगाए रखे, क्योंकि यदि वे अपने कर्त्तव्यों से विचलित होंगे तो सारी दुनिया में गड़बड़ी पैदा हो जाएगी। बौद्ध स्रोतों के अनुसार, राज्य की ओर से हल चलाने की एक तिथि निर्धारित थी। कुशल राजा वार्ता की सिद्धि पर सतत दृष्टि रखता था, क्योंकि वार्ता ही जगत् का मूलाधार और मानव जाति का पालक है।

4. पूर्वकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप

भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्यतः ग्रामाश्रित थी। स्वामित्ववान् किसानों के ग्राम-समुदाय की पद्धति इसकी बुनियाद थी। पूर्वकालीन साहित्यिक स्रोतों में सामन्ती प्रभुओं की चर्चा नहीं मिलती है। जब राजा विदेह ने संन्यास लिया तब उन्होंने सात योजन की परिधि में फैली अपनी राजधानी मिथिला तथा सोलह सौ ग्रामों वाले अपना राज्यक्षेत्र दोनों का त्याग किया। 'ग्राम' और 'निगम' के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी। अधिकतर जोत (होल्डिंग) छोटे-छोटे होते थे, किन्तु 'जातकों' में ब्राह्मणों द्वारा संचालित एक हजार करीब (एकड़) के बड़े-बड़े कृषिक्षेत्रों की भी चर्चा आई है। ब्राह्मण काशी भारद्वाज के पास पाँच सौ हल और कर्मकर थे।

आपस्तम्ब और बौधायन के सूत्रों में नगरों की निन्दा की गई है। उत्तर वैदिक काल की विशेषता लक्षित होती है नगर और विकसित शहरी जीवन की जानकारी।

कृषि को सहारा बनाकर स्थिर ढंग से जीवनयापन की परिपाटी को लोहे के आविष्कार से बढ़ावा मिला। लोहे का उपयोग विविध प्रकार के उत्पादन-कार्यों में होने लगा। सम्पत्ति का मुख्य स्रोत पशुधन था और आरम्भ में अधिकाधिक पशुधन अर्जित करने के लिए ही युद्ध हुआ करता था। लुहार, कुम्हार, बढ़ई, सुनार, शस्त्रकार, रथकार सामने आये और लोहे ने शिल्प को आगे बढ़ाया। बढ़ई और कमार की कारीगरी की बड़ी प्रतिष्ठा थी, जो खेती के औजार, हथियार और मकान बनाते थे। पेशेवर व्यापारियों के अलग-अलग दल बन गए। सम्पत्ति के अधिकार में अन्तर के फलस्वरूप असमानता का उदय हुआ। एक प्रकार की दास-प्रथा चल पड़ी जिससे आर्थिक और सामाजिक असमानता के पनपने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

आर्थिक सत्ता के रूप में देश का महत्त्व सर्वोपरि माना गया। इसके पेड़-पौधे, जीवजन्तु और खनिज बड़े ही उपयोगी और लाभदायक सिद्ध हुए और इसके जलवायु ने लोगों के वाणिज्यिक जीवन को बल दिया। कौटिल्य ने देश को सभी सम्पत्तियों का मूल माना और राज्य के अंगों में इसे तीसरा स्थान दिया। कौटिल्य के अनुसार राज्य के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

(1) सीमाओं के केन्द्रस्थल में राजधानी नगर होना चाहिए;
(2) इसको उत्पादनशील होना चाहिए;
(3) इसको शत्रु के लिए दुर्गम होना चाहिए;
(4) इसकी भूमि उर्वर होनी चाहिए तथा खानों, खनिजों और वनों से युक्त होनी चाहिए;
(5) इसमें स्थल और जल मार्ग होनी चाहिए;
(6) इसको विशाल सेना का भार वहन करने में समर्थ होना चाहिए और
(7) इसके नागरिकों को कर्मठ, राजभक्त और चरित्रवान् होना चाहिए।

5. धर्मसंहिता का रूख

आर्थिक विकास के विषय में धार्मिक नियम कानूनों का क्या रूख है, यह भी एक विचारणीय विषय है। ब्राह्मणिक स्मृतियाँ कृषि और उद्योग को, और कुछ कम मात्रा में व्यापार को भी बहुत बुरी नजर से देखती है। यह रूख मनु के वचन (अध्याय 4, श्लोक 5-6) में झलकता है; जिसमें कहा गया है कि कृषि 'प्रमृत' है (अर्थात् इसमें बहुत-सी हिंसाएँ होती हैं), और वाणिज्य 'सत्यामृत' है (अर्थात् इसमें साँच और झूठ का मिश्रण है)। मनु ने वैश्य के लिए वाणिज्य

उत्तम कर्म बताया है। ब्राह्मण या क्षत्रिय को, विपत्ति के क्षण में भी, कृषि नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसमें बहुत-से जीवों की हिंसा होती है। मनु ने कृषि और व्यापार की गिनती ऐसे निकृष्ट कर्मों में की है जिनसे कुल पतित हो जाता है। स्मृतियों में कृषि, गोपालन, उद्योग और वाणिज्य सम्बन्धी बहुत-से सामाजिक, धार्मिक और कानूनी दृष्टि से भी वर्जित बताए गए हैं।

समुद्र-यात्रा करनेवाला व्यक्ति श्राद्धकर्म करने का अनधिकारी हो जाता था। जो व्यक्ति दूकानदारी करे, तेल बेचे तीर-धनुष बनाए, खेती करे, भेड़ पाले या भैंस पाले वह श्राद्धकर्म में बहिष्कृत होता था—इस तरह ऐसे व्यक्तियों पर सामाजिक वर्जना थी। स्नातक के लिए बढ़ई, दरजी, चर्मकार और शिल्पी (पँसारी) का अन्न अग्राह्य था। सभी प्रकार की खानों की देखभाल करना और बड़े-बड़े यान्त्रिक निर्माण करना उपपातकों में गिना गया था जो ब्राह्मण पशुपालन या वाणिज्य करे अथवा शिल्पकार्य करे, वह न्यायालयों में शूद्र के समान माना जाता था। तेली से दान लेना वर्जित था। समुद्र-यात्रा करनेवाला ब्राह्मण श्राद्ध में वर्जित था।

यद्यपि घोर विपत्ति के दिनों में ब्राह्मण को वैश्य की वृत्ति अपनाने की अनुमति है, फिर भी स्मृतियों ने ब्राह्मण के लिए केवल कृषि ही नहीं, बल्कि कई खास तरह के उद्योग और वाणिज्य के काम भी वर्जित किए हैं। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भूमि जोतना वर्जित है। जैन धर्मसंहिता ने उपासकों के लिए खेती का काम करना तथा कई तरह के उद्योग और व्यापार भी वर्जित किए हैं। हमें 'उवासगदसाओ' तथा हरिभद्र के 'योगशास्त्र' से ज्ञात होता है कि उपासकों को आजीविका के तेरह मार्ग वर्जित हैं, जिनमें लकड़ी का कोयला बनाना और बेचना, पौधा लगाना, कुदाल और हल चलाना, कुआँ खोदना, सिंचाई के लिए नहर खोदना, तेल पेरना, हाथीदाँत, लाह और रस का व्यापार करना शामिल है। धर्मसंहिताओं तथा जैन और बौद्ध के विधानों (विनयनियमों) ने उद्योग में पूँजी के प्रयोग और उद्योग के विकास की गति में बाधा पहुँचाई है। खास-खास जातियों और उपजातियों से सम्बद्ध खास-खास व्यापारों और उद्योगों की 'श्रेणियों' (वृत्तिसंघों) के चलते श्रम और पूँजी का निर्बाध संचार अवरुद्ध हो गया। जैनों और बौद्धो ने लोगों को भौतिक समृद्धि के प्रयासों से विरत किया। मनु और याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को शिल्प (उत्पादनात्मक कर्म) अपनाने का वैकल्पिक अधिकार दिया, जो परवर्ती स्मृतियों में अनुमत रहा। जो शूद्र सेवा द्वारा जीविका न चला सकें, उन्हें शिल्पकर्म से जीविका चलाने की अनुज्ञा मिली।

●

अध्याय 2

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

1. विकास की प्रक्रिया :

मानव समाज का इतिहास उत्पादन-साधनों के विकास का इतिहास है और भिन्न-भिन्न समाज-व्यवस्था के अनुरूप ही उत्पादन-विधियों के विकास में भिन्न-भिन्न चरण आते हैं। निऐन्डरथल (Neanderthal) मानव ने विकास के विभिन्न चरणों से होते हुए आधुनिक मानव का उद्भव सम्भव बनाया है। आदिम मानवों के 'झुंडों' के स्थान पर 'कुलों' (क्लैन ग्रुपों) का जन्म हुआ और कुल का उद्भव एक क्रान्तिकारी कदम सिद्ध हुआ। कुलात्मक संघटन में विकास की गति तो एकदम मन्द और आदिम ढंग की रही, लेकिन इसकी विशेषता रही वर्गभेद का अभाव। कुल का आर्थिक जीवन उत्पादन के साधनों पर कुल के सभी सदस्यों के सामूहिक अधिकार और सामूहिक कर्त्तव्य पर आधारित था। ज्यों-ज्यों उत्पादन-शक्ति बढ़ती गई, मनुष्य अचल कृषि और पशुपालन को अपनाता गया, जहाँ उसे इसके उपयुक्त वातावरण मिला। विनिमय-प्रणाली का जन्म हुआ। मध्य प्रस्तर युग और नव प्रस्तर युग में उत्पादन-शक्तियों का अभूतपूर्व विकास हुआ। कुलों और कबीलों के बीच युद्ध और साथ-साथ लूटपाट होते रहे, जिसके फलस्वरूप कुल का प्रमुख अधिकाधिक बलवान् और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होता गया। आर्थिक परिवर्तन अवश्यंभावी हो गया।

धातु के औजारों के प्रचलन से मनुष्य की उत्पादन-क्षमता में और भी वृद्धि हुई; फलतः मानव के श्रम को घसीट कर फाजिल उत्पादन संचित किया जाने लगा। वर्गात्मक सम्बन्ध के विस्तार से न केवल कुल-संघटन की उपेक्षा हुई, बल्कि प्रतिद्वन्द्वी वर्गों का भी उदय हुआ। आर्थिक जीवन वाले समुदाय ने उत्तरोत्तर बढ़ रहे श्रम-विभाजन को तथा सामुदायिक उत्पादन के अवशेषों को अपना आधार बनाया।

मध्य प्रस्तर-काल में तीर-धनुष का आविष्कार हुआ तथा नए ढंग के पत्थर के औजार, जिसे माइक्रोलिथ या 'सूक्ष्म प्रस्तरास्त्र' कहते हैं, खचितक (खाँचे में बैठाया नुकीला या धारवाला पत्थर का टुकड़ा) के रूप में चालू हुए। मध्य प्रस्तर-काल के अन्त में मिट्टी के शिल्पोपकरणों का उद्भव हुआ। प्रथमतः पशु को पालतू

बनाया गया और प्रथमतः भूमि के कर्षण का प्रयोग शुरू हुआ। उत्पादन-शक्ति के बढ़ने पर आबादी का कुछ हिस्सा स्थिर निवासी होकर रहने की स्थिति में आ गया। इसके फलस्वरूप और आरम्भिक सुधरे तकनीकों के बल पर मनुष्य अविकसित और गैरआबाद इलाकों में फैलते गए। नव प्रस्तर-युग का उदय होते-होते बलूचिस्तान से लेकर बिहार और बंगाल तक का क्षेत्र लगता है, आबाद हो चुका था। मध्य प्रस्तर-युग से सूक्ष्म प्रस्तरास्त्र संस्कृति का उदय हुआ और उसकी प्रगति से उदित हुई नव प्रस्तर सभ्यता। नव प्रस्तर-काल का अन्त और प्रस्तर-युग से ताम्र-युग में प्रवेश होने पर उत्तर-पश्चिम भारत की कृषि-संस्कृति ईराक, ईरान, मध्य एशिया के दक्षिणी भागों और अफगानिस्तान की तत्कालीन संस्कृतियों से बहुत मिलती-जुलती थी। ये सभी मिलकर एक विशाल सांस्कृतिक परिमंडल (ज़ोन) बनाते हैं जो चित्रित भांड संस्कृति क्षेत्र के नाम से विदित है। दक्षिण पूर्व भारत की नव प्रस्तर संस्कृतियों को दो मुख्य समूहों में बाँट सकते हैं, जिनका मूल मध्य प्रस्तर काल तक अनुसन्धेय है—बंगाल, बिहार और आसाम की संस्कृति। भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में चित्रित धूसर भांड जन (चि धू भा) बाशिन्दा हो चुके थे और कृषि एवं पशुपालन का धन्धा करते थे। वे घोड़ा, सूअर, भेड़, सींगवाले मवेशी-पालते थे, कुम्हारी चाक चलाते थे और काँसे के औजार तथा हथियार बनाते थे। लोहा बनाने का पहला आभास चित्रित धूसर संस्कृति के ऊपरी स्तरों पर मिलता है।

उत्पादन-शक्तियों के विकास के फलस्वरूप सामाजिक अधिशेष (समाज के उपभोग से बचा धन) शिष्टों, मुखियों और पंडों-पुराहितों के हाथ में संचित हुए। विनिमय और सशस्त्र संघर्ष से सम्पत्ति में वृद्धि होने लगी और समाज में असमानता का उदय हुआ; किन्तु आर्थिक विकास सदा एक-सा नहीं हुआ। ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी की अन्तिम शताब्दी में आर्थिक विकास विशेष हुआ, जब हम उत्पादन-साधनों के विकास को उच्च स्तर में पहुँचे पाते हैं। प्लुतार्क के अनुसार तक्षशिला की भूमि परम उर्वर थी। औजार लोहे के बने होते थे। खेती का काम काफी विकसित अवस्था में था। आहत मुद्राएँ चल पड़ी थीं। विभिन्न उत्खनन-स्थलों में जो प्रचुर मात्रा में ताँबे के सिक्के मिले हैं, उनसे मालूम होता है कि सामानों की नकदी खुदरा खरीद-बिक्री भी चलने लगी थी। कार्लमार्क्स ने लक्षित किया है कि गंगा के मैदान में भी इस काल में एक नवीन और अधिक प्रगतिशील ढंग के दासरक्षी संघटन के पनपने की स्थिति बन चुकी थी, जो प्रक्रिया इस काल के राजनैतिक इतिहास से प्रमाणित होती है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना से लक्षित होता है कि देश को एकच्छत्र राज्य में बदलने की निश्चित पृष्ठभूमि बन चुकी

थी। उत्पादन के सामन्ती ढाँचे के उदय के साथ ही शहरी केन्द्रों का पतन दृष्टिगत होने लगा था। नये सामन्ती सम्बन्धों के विकास के फलस्वरूप सामन्ती अधिपतियों के तथा सुविधावंचित किसानों के नये वर्ग बनने लगे थे। सुविधावंचित वर्गों के शोषण-साधनों से सामन्ती ढंग की उत्पादन-रीति के बुनियादी लक्षण अधिकाधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं।

प्राकृतिक वस्तुओं के उपयोग और प्राकृतिक उपजों के संग्रह की अवस्था से आरम्भिक कृषि की अवस्था पर पहुँचना उत्पादन-शक्तियों के विकास का एक क्रान्तिकारी कदम है। उत्पादन-शक्तियाँ अपने समाज के भीतर ही एक नया उत्पादक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हुईं। **खाना बटोरने और शिकार करने के काम से पशुपालन के काम का पृथक्करण पहला और महान् सामाजिक श्रम-विभाजन था। पशुपालन से कृषि का पृथक्करण एक दूसरा श्रम-विभाजन था। फिर वाणिज्य को कृषि एवं पशुपालन से पृथक् करना तीसरा विशाल श्रम-विभाजन हुआ।** मवेशी विनिमय की मुख्य वस्तु था और वही प्रथम वैयक्तिक सम्पत्ति हुआ। वैयक्तिक सम्पति की प्रथा से उपज की वस्तुएँ वाणिज्य की वस्तु हो गईं। विनिमय या बिक्री के लिए तैयार की गई उपज वाणिज्य-वस्तु कहलाती है। श्रम का विभाजन होने पर मनुष्य का श्रम उससे अधिक प्रतिफल देने लगा, जितना वह खपत करता था और मजदूर अतिरिक्त लाभ का साधन बन गया। 'अतिरिक्त लाभ' उसे कहते हैं जो एक मजदूर अपनी मजदूरी से ज्यादा उत्पन्न करता है और जो उसे अतिरिक्त प्रतिफल चुकाए बिना ही दूसरे प्राप्त कर लेते हैं। शिल्पों के विकास और विनिमय की वृद्धि से शहरों की नींव पड़ी। नगरवासियों के जीवन और क्रिया-कलाप ग्रामवासियों से भिन्न रूप धारण करने लगे।

मुख्य प्रगतियाँ निम्नलिखित प्रक्रमों में देखी जा सकती हैं :—

(i) नगरीय किन्तु गतिहीन सिन्धु घाटी—जो भारतीय सभ्यता पर अपनी छाप छोड़ गई है (3000-1500 ई० पू०)

(ii) आर्यीकरण—परकालीन कांस्य और पूर्वकालीन लौह—पशुचारण—चरवाही कबीला संघटन धीरे-धीरे वर्गों का रूप धारण करता हुआ (800 ई० पू० और आगे)।

(iii) आदिम सामन्तवाद—जिसके प्रयास से यह प्रायद्वीप कृषि और व्यापार की दिशा में सातवाहनों के काल से ही ठीक से विकसित होने लगा।

(iv) भूमिरूपी वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय—जो 400 ई० से पहले ही आरम्भ हुआ।

(v) सामन्तवाद, जो उत्तर गुप्तकाल में आरम्भ हुआ और अविराम गति से चालू है।

पूर्वकालीन भारतीय आर्थिक इतिहास की मुख्य बातें ये हैं :—

(1) लोहे के आविष्कार और प्रचलन तथा उसके प्रभाव का क्रमबद्ध इतिहास ;

(2) छठी शताब्दी ई० पू० तक आर्थिक इतिहास का सर्वेक्षण,

(3) गाँव के ढांचे का अध्ययन;

(4) कृषि और उद्योग;

(5) व्यापार और वाणिज्य;

(6) मुद्रा और महाजनी;

(7) प्राचीन भारत में जनसामान्य की आर्थिक हैसियत;

(8) अन्य विविध सहबद्ध आर्थिक समस्याएँ;

(9) सामन्तवाद, आदि।

2. लोहे का आविष्कार और प्रयोग :

हाल के वर्षों में पुरातात्विक तथ्य-सामग्री विशाल मात्रा में बढ़ी है, जिसकी बदौलत भारतीय इतिहास के पूर्वकालीन प्रक्रमों सहित कालिक और सांस्कृतिक प्रक्रमों को अब कहीं अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह ध्यातव्य है कि अभीतक कोई निर्विवाद अखिल भारतीय कालानुक्रम-सारिणी नहीं है। अलचिन के 'बर्थ ऑफ इंडियन सिविलिजेशन' में शिल्प विज्ञान (टेक्नोलाजी) पर एक अलग अध्याय दिया गया है। कर्णाटक और सन्थाल परगना से प्राप्त नव प्रस्तर युगीन शिल्पोपकरणों (आर्टिफैक्ट) सम्बन्धी इनका अध्ययन भारतीय नव प्रस्तर युग के एतद्विषयक अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। धातु-शिल्प विज्ञान कई स्रोतों से आया और केन्द्रीय, दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत की ताम्र-पाषाण संस्कृतियाँ सम्भवतः स्वदेशोद्भव थीं। लौह धातु विज्ञान की समस्या का हाल के वर्षों में काफी विवेचन किया गया है (इंडिक्वा III, पृ० 793-802)।

प्राचीन भारत में लोहे के आविष्कार और प्रयोग का सम्बन्ध लोगों के भौतिक जीवन के साथ है। प्रतीत होता है कि ऋग्वेद कांस्य-युग का प्रतिनिधित्व करता है, पर यजुर्वेद में लोहे का उल्लेख पाया जाता है। अयस् का अर्थ है लोहा और जो इसकी वस्तुएँ बनाता है वह कर्मकार कहलाता है। इस धातु को रक्ताभ कहा गया है। वाजसनेयिसंहिता में 'अयस्' (लोहा), 'हिरण्य' (सोना), 'लोह' (ताँबा), 'श्याम' (लोहा), 'सीस' (शीशा) और 'त्रपु' (राँगा) का उल्लेख है। चित्रित धूसर

भांड का प्रयोग करने वाले लोहे का इस्तेमाल करते थे तथा कई स्थलों पर लोहे का पाया जाना भारत में लोहे के विकास का प्रतीक है। हाल के कई उत्खननों में लोहे की वस्तुएँ मिली हैं और प्रतीत होता है कि भारत ई० पू० प्रथम सहस्राब्द के उत्तरार्ध में आकर लौह-युग में पदार्पण कर चुका था। लोहे को गलाने की प्रक्रिया ज्ञात थी और सात सौ ई० पू० तक भारत में आर्यजन लोहे का उपयोग करने लगे थे। उज्जैन में लोहे की वस्तुओं का निर्माण व्यापक रूप से होता था। व्हीलर को ब्रह्मगिरि में लोहे का इस्तेमाल करने वाले लोगों का पता चला और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में लोहे की विविध वस्तुएँ मिली हैं। उज्जैन में लोहे के हथियार मिले हैं, जिससे लौह-युग के नगरीय जीवन का पता चलता है।

डी० डी० कोशाम्बी ने, 'सुत्तनिपात' के आधार पर, लोहे के फालों का स्पष्ट उल्लेख बताया है। कृषि में लोहे के व्यापक प्रयोग का अर्थ है कि उसका आरम्भ अवश्य ही उससे पहले हुआ होगा और उन्होंने यह तिथि सात-आठ सौ ई० पू० रखी है (जएसोहिग्रो—VI 309-318)। बी० सी० गोर्डन ने बताया है कि लोहे का आविष्कार भारत में 600-700 ई० पू० में ही हो गया था। बी० आर० सुब्रह्मण्यम ने पुरातात्त्विक तथ्यों के आधार पर बताया है कि लोहे के अस्तित्व का प्राचीनतम साक्ष्य दोआब में ग्यारहवीं-दसवीं शताब्दी ई० पू० में मिलता है (जग्रोइ—XIII, 349-359) और द्वितीय शताब्दी ई० पू० में आकर तो सारा भारत लोहे से परिचित हो चुका था। दक्षिण भारत और उड़ीसा ने ई० पू० चौथी शताब्दी में लौह-युग में प्रवेश किया। चित्रित धूसर भांड संस्कृति भारत में लोहे का उपयोग करनेवाली प्राचीनतम संस्कृति है और यह उन आर्यजनों का प्रतिनिधित्व करती है जो इस शिल्प-विज्ञान को लानेवाले थे (जऐइहि—III, पृ० 293-94)। डी० के० चक्रवर्ती ने प्रतिपादित किया है कि मध्य भारत ही (1000 ई० पू० के आसपास) इस उपमहादेश में लोहे का उपयोग करनेवाला सबसे पुराना केन्द्र है (इस्ट-पाप्रे—XIV. 329-38)। लोहे के उपयोग से कृषि में बेहतर दृढ़ता आई और लोगों की भौतिक समृद्धि में महान् परिवर्तन आया। यद्यपि भारत में लोहे के उपयोग का असर आरम्भ में मन्द रहा, तथापि ई० पू० छठी शताब्दी में दिखाई देता है कि इसकी सामाजिक परिवर्तन क्रान्तिकारी भूमिका है। पूर्वकालीन सामग्री का लोहे के उद्योग-पूर्व व्यापक उपयोग के साथ पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, इसका अध्ययन अभी तक नहीं हो पाया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारत जैसे विशाल देश में शिल्प विज्ञान या उत्पादनतन्त्र एक ही काल में सर्वत्र उदित हुआ हो और उसका असर सर्वत्र समान रूप से पड़ा हो, यह सम्भव नहीं है।

'छान्दोग्य उपनिषद' में लोहे के उपयोग का उल्लेख है। सूत्र-साहित्य में 'अयस्' के दो भेद किए गए हैं – लाल और काला। 'अमरकोश' में लोहे के सात नाम और लोह को जंग के दो नाम दिए गए हैं। एक लुहार द्वारा इस्पात की हथोड़ी से एक लोहे के टुकड़े के पीटे जाने की चर्चा आई है। भारतीय लोहा ई० पू० छठी शताब्दी में आकर परिपक्व अवस्था पर आ चुका था और हेरोडोटस ने इस बात की पुष्टि की है। क्लेसियस (Klesias) ने भारतीय इस्पात की तलवार की प्रशंसा की है। कटियस के अनुसार पोरस ने सिकन्दर को तीस पाउंड भारतीय इस्पात उपहार में दिया था। प्लिनी ने भारतीय इस्पात की तलवारों की चर्चा की है। 'पेरिप्लस' में बताया गया है कि भारतीय लोहे का आयात अबीसीनिया की बन्दरगाहों पर होता था। रोम के सौदागरों द्वारा भारत के लोहे का व्यापार तत्कालीन व्यापार की एक विशिष्ट बात थी। लौह कर्म की तकनीकी जानकारी गुप्तकाल में मानो चोटी पर थी। मेहरौली का लौहस्तम्भ भारत में लौहशिल्प के चरमोत्कर्ष की अचल निशानी है और सुल्तानगंज में प्राप्त बुद्ध की कांस्य-प्रतिमा पूर्वकालीन भारतीयों की धातु-विज्ञान सम्बन्धी जानकारी का उत्कृष्टतम उदाहरण है। 'अमरकोश' में फाल के पांच नाम गिनाए गए हैं।

जब काले ओबदार उत्तरी भांड (Northern Black Polished Pottery) संस्कृति का काल आया, जो भारतीय इतिहास में एक सुभिन्न सांस्कृतिक प्रक्रम है, लोहा परम प्रचलित और प्रमुख धातु हो चला था। समुन्नत लौहशिल्प-विज्ञान प्रतिफलित है, काले ओबदार उतर भांड के लेप के उस काले रंग में जो और कुछ नहीं, काले चुम्बकीय लौह आक्साइड ही एक खास ढंग से पकाया हुआ है। बुद्ध के युग में शिल्पों में जो द्रुत गति से विशेषीकरण हुआ, उसमें भी लोहे का हाथ है, और 'दीघ निकाय' में अट्ठाईस शिल्प गिनाए गए हैं। लोह के औजारों और खपड़े के पाटों से ही कुआं और कुंड बनाना सम्भव हुआ।

लोहे के व्यापक प्रयोग से ही प्रकृति से फायदा निकालने का दायरा बढ़ा और भौतिक सभ्यता की नींव सुदृढ़ हुई। खेती की परिपाटी विशाल क्षेत्र में फैल गई और इस प्रकार जो ज्यादा उपज हुई, उससे नगर-क्षेत्र की बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई। इससे उत्पादन के तरीके में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, कृषिकर्म में विस्तार हुआ और मकान, गाड़ी और नाव बनाना आसान हुआ। तांबे की तुलना में लोहा बहुत सस्ता था और किसानों व शिल्पियों को लोहे के औजार खरीदने की औकात थी। लोहे के सुधरे औजारों से न केवल विकास की प्रक्रिया में तेजी आई, बल्कि खेती में श्रम का बोझ हल्का हुआ और लोगों को फुरसत

अधिक मिलने लगी जिससे फुरसत वाला वर्ग धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के विषय में अधिकाधिक मीमांसा करने में समर्थ हुआ। ऐसी ही स्थिति में जैनशास्त्र और बौद्धशास्त्र का उदय हुआ। मगध का जो उत्थान हुआ, उसका भी कारण यही है कि बिहार में लोहा बहुत था और उसका व्यापक उपयोग हुआ।

लोहे के आविष्कार और प्रयोग से निम्नलिखित मौलिक परिवर्तन हुए :—

(i) जमीन को साफ करना आसान हो गया और लोहे की कुल्हाड़ी से घने जंगल काट दिए गए।

(ii) उत्पादन के उपकरणों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होने से निजी सम्पत्ति अस्तित्व में आई।

(iii) समाज में धातुशिल्पियों की प्रतिष्ठा बढ़ी—लोहे के हथियारों की माँग बहुत बढ़ गई।

(iv) समृद्ध भूस्वामियों और व्यापारियों के वर्गों का उदय हुआ।

(v) लोहे की बदौलत भारी मात्रा में फाजिल खाद्यान्न उपलब्ध हुआ जिससे नगर निवासियों का भरणपोषण होने लगा। प्राचीन काल में जो यह नगरीकरण हुआ, वह धातु की मुद्राओं और अन्य वस्तुओं के प्रचलन से लक्षित होता है।

उत्पादन के साधनों की उन्नत्ति, व्यापार के विकास और नये-नये नगरों की स्थापना का अर्थ था नई सम्पत्ति का जमाव। लोहे की बदौलत राजा और अभिजात लोग अपने कबीले के अन्य लोगों से अलग शस्त्रधारी योद्धा के एक उत्कृष्ट वर्ग में परिणत हो गए और उनकी एक सुविधा-सम्पन्न जाति बन गई। भारतीय अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास में इस बात का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और हम इसे आर्थिक प्रगति का तकनीकी आधार कह सकते हैं। नगरीकरण से जीवन के हर क्षेत्र में परिमार्जन हुआ। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से नगर-केन्द्र उदित और विकसित हुए और सुसंगठित बाजार स्थापित हुए। बुद्ध के युग में कावेरी और कपिलवस्तु के बीच इकसठ नगरों की नामावली हमें मालूम है। ई० पू० शताब्दी के आते-आते लौह-उद्योग बढ़ते हुए राज्यों-रियासतों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी गतिशील रहा। ई० पू० चौथी शताब्दी में धातुकर्म का जो वंटन और विस्तार देखा जाता है, उससे प्रकट होता है कि लौह शिल्प विज्ञान सारे देश में फैला हुआ था और परिपक्वावस्था में पहुँच गया था। इस काल का एक लोहा गलाने का स्थल गुजरात की खुदाई में निकला है। भारत में इसकी प्रविधि आसान होते हुए भी श्रमसाध्य थी।

लौह शिल्पविज्ञान ने विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को आपस में मिलाया और एक सामान्य सांस्कृतिक ढाँचे के उद्भव को प्रोत्साहित किया। नगरीकरण से सूचित होता है कि तकनीकी विरासत की बुनियाद काफी मजबूत थी। शिल्प-वस्तुओं की बहुतायत से शिल्प की प्रगति और आर्थिक सम्पन्नता प्रकट होती है। दाईमाबाद की कांस्यकृतियों में वृषभ रथ सबसे विलक्षण है। भैंस की प्रतिकृति बहुत स्वाभाविक है। प्रागैतिहासिक काल का होते हुए भी यह शिल्पकौशल चक्र के उद्भव (1800-1600 ई० पू०) में एक पूर्वतन अवस्था का सूचक है। यहाँ यह गौर करना है कि लौह शिल्प विज्ञान के बहुमुखी सम्बन्धों के विषय में कालानुक्रमिक विभाजन पर पुरातत्वविद् और इतिहासविद् परस्पर एकमत नहीं हैं। लोहे के अवतरण में लोगों के जीवनक्रम को बदल देने की अपार क्षमता थी। '**रतिपथ ब्राह्मण**' से ऐसा लगता है कि उस समय की अर्थव्यवस्था केवल जीवन-निर्वाहक नहीं थी, क्योंकि हम पाते हैं कि समाज के कुछ वर्ग खाद्य की फाजिल उपज पर समृद्ध थे। लौह शिल्प विज्ञान की शान दिल्ली के विशाल लौह स्तम्भ, कोणार्क में लगी बारहवीं शताब्दी की धरनों और धार स्थित पन्द्रहवीं शताब्दी के लौह-स्तम्भ में देखी जा सकती है।

3 ई० पू० छठी शताब्दी तक आर्थिक जीवन का सामान्य सर्वेक्षण।

सिन्धु-सभ्यता ताम्रपाषाणिक और नगरीय थी। इसके चारों ओर गाँव थे जिनकी कृषि-उपज से नगरों का निर्वाह चलता था। प्रागैतिहासिक काल की आर्थिक स्थिति की जानकारी हमें अभी तक बहुत थोड़ी है, किन्तु विभिन्न स्थलों पर जो पुरातात्विक खुदाई हुई है, उससे लक्षित होता है कि इस सभ्यता के स्रष्टा लोग अन्न संग्राहक थे और उनका समय पूर्व पाषाण युग था। हड़प्पा से पूर्वकाल की बस्तियों से प्रकट होता है कि वे कृषि जानते थे और मृद्भांड-निर्माण में उन्होंने कुछ प्रगति की थी। ये मृद्भांड बहुरंगी और ज्यामितीय चित्रों से युक्त होते थे। लाल और पीले पर काला रंग रहता था।

सिन्धुघाटी की कृषि-उपजों में गेहूँ, जौ, तिल, माष आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ खास प्रकार की कपास भी उगायी जाती थी। भूगर्भी निकास-नहरों से परिवेष्टित स्वच्छता-व्यवस्था, पायेदार हॉल, जल चिकित्सा व्यवस्था से युक्त विशाल स्नानागार और बहुमंजिले मकान इस बात के सबूत हैं कि उस समय आर्थिक प्रगति और आभियान्त्रिक कौशल कितना बढ़ा-चढ़ा था। हर साल बाढ़ आती थी जिससे मिट्टी की उर्वरता बनी रहती थी। वे धातुकर्म में परम प्रवीण थे।

धातुशिल्पी ढालकर और पीट कर तांबे और कांसे के आयुध और औजार बनाते थे। लगता है कि कोई केन्द्रीय शासन लोगों के आर्थिक जीवन को विनियमित करता रहा हो। मापों और बाटों की क्रमबद्ध प्रणाली, अन्नागार और यहां तक कि ईंटों के समरूप साइज इस बात की पुष्टि करते हैं। विविध पत्थरों और धातुओं के परीक्षण से पता चलता है कि देशी, विदेशी, स्थलमार्गीय, नदीमार्गीय और समुद्रीय व्यापार होते थे और ये व्यापार ही अर्थव्यवस्था के आधार थे। भारत और पश्चिम एशिया के बीच सीधा व्यापार चलता था।

सिन्धुघाटी के विपरीत, आर्यजन मुख्यतः कृषिजीवी थे। ऋग्वैदिक जनों को कृषि-कर्म का और ऋतुओं का उत्कृष्ट ज्ञान था। पशुपालन एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था। गोचर भूमि सार्वजनिक उपभोग की वस्तु होती थी। वास्तु (बसगीत जमीन) और क्षेत्र (खेती की जमीन) पर व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य था, किन्तु भूमि को सुप्रतिष्ठित ढंग की निजी सम्पत्ति की मान्यता नहीं थी। राजा केवल उपज का कुछ अंश (बलि) लेता था। हल बैल से चलाया जाता था। फसल हँसुए से काट कर बोझ बाँधकर खल (खलिहान) में लाई जाती थी और वहाँ अनाज निकाला जाता था। खेती मुख्यतः वर्षा पर निर्भर थी, किन्तु सिंचाई भी अज्ञात नहीं थी (खनित्रिमापः)। पानी 'चक्र' (घिरनी) के सहारे ऊपर उठाया जाता था। उपज में 'यव' और 'धान्य' आते थे। काष्ठकर्म, बुनाई, कताई और चर्म शिल्प ज्ञात थे। चर्म शिल्पी चमड़े के थैले और बरतन बनाते थे। कुम्भकारी की कला ज्ञात थी और मदिरा ('सोम', 'सुरा') बनाना भी ज्ञात था। सोना और ताम्बा ज्ञात थे। शारीरिक श्रम में कोई हीनता की भावना नहीं थी। जनक ने हल चलाया था और बलराम 'हलधर' कहलाते थे। आर्थिक जीवन सरल था। बाद में गेहूँ, धान, जौ आदि अनेक तरह के अन्न मालूम हुए और व्यवहार में आए। कपास का उल्लेख सर्वप्रथम पाणिनि में मिलता है।

वेद के परकालीन भागों में 'लोहितायस्' और 'कृष्णायस्' का भेद किया गया है। इससे एक विलक्षण प्रगति आई। छोटे-छोटे नगर उद्भूत हुए। अथर्ववेद में व्यापार की स्वस्ति के लिए प्रार्थना की गई है। उत्तर वैदिक काल में विविध प्रकारों की शिल्प-कलाओं का विकास हुआ। कृषि और विविध शिल्पकर्म की बदौलत लोग स्थिरजीवी हो सके। किसान (प्रजा) लोग अपने प्रभु को अजस्र राजस्व (बलि) दिया करते थे। वैदिक समाज में सम्पत्ति के स्वामित्व के आधार पर वर्गभेद लक्षित होता है और हमें समृद्ध अभिजात स्तर और नितान्त दरिद्र स्तर दोनों तरह की आबादी का दर्शन होता है। उत्तर वैदिक काल में

भूमि के दान और खरीद का ब्योरा आया है, हालांकि सम्पत्ति का अधिकार कबीले की इच्छा पर निर्भर था। आबाद खेत के चकले कबीले के अलग-अलग सदस्यों को सौंपे गए और कालक्रमेण वे धनी होकर सुविधासम्पन्न स्थिति में पहुँच गए; जबकि अन्य सदस्य गरीब होते गए। दास-प्रथा समाज के अंग-सी हो चली। अर्थव्यवस्था कृषिमूलक थी। आबाद जमीन पर निजी स्वामित्व का प्रमाण या आभास मिलता है। जमीन जंगल काट कर आबाद की जाती थी। वणिक्-समुदाय के उदय के फलस्वरूप विनिमय के एक स्थिर माध्यम का उद्भव हुआ। वाणिज्य-वस्तुओं में वस्त्र, चादर और मृगचर्म प्रसिद्ध थे। बिक्री, वस्तु विनिमय (बार्टर) और मालों की अदला-बदली चलती थी।

रथकार का आदर था और शिल्पियों में वह सबसे महत्वपूर्ण था। एक जगह सौ डाँड़ोवाले पोत की भी चर्चा है। वैदिक आर्य सोने के आभूषण पहनते थे। ताँबे का प्रयोग कृषि, घर-गृहस्थी और लड़ाई के औजारों के निर्माण में किया जाता था, जैसे शिरस्त्राण, कवच आदि। ऋग्वैदिक जन चाँदी और लोहा जानते थे। वैदिक साहित्य में कृषिकर्म की विधियाँ वर्णित हैं। व्यापार-वाणिज्य उस समय तक आर्यों को आकृष्ट न कर सका था, हालांकि उत्तर वैदिक काल में इस स्थिति में परिवर्त्तन आ गया। 'वाजसनेयिसंहिता' में कृषि-उपज की विविध वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। अलसी और पाट के रेशों का उपयोग वस्त्र बनाने में होता था। धातुशिल्प विज्ञान के क्षेत्र में एक लम्बी छलाँग आई लोहे के रूप में, जिसने आर्थिक जीवन में क्रान्ति ला दी।

विनिमय के माध्यम को एक निश्चित रूप मिला। अपनी जीविका व्यापार और वाणिज्य से चलानेवाली वणिक् जाति के उद्भव से विनिमय का एक स्थिर माध्यम प्रचलित हुआ। व्यापार और वाणिज्य पर जीने वाले एक वणिक्-समाज का उदय हुआ और फलतः एक स्थिर विनिमय माध्यम चल पड़ा। निष्क (यद्यपि इसका अर्थ गले का हार था) कुछ दिनों तक मुद्रा के रूप में चालू रहा। लगता है, इसका कोई निश्चित वजन होता था। उत्तर वैदिक काल में 'कृष्णल' और 'शतमान' प्रचलित हुए। पाद (शतमान का चौथा भाग) भी विदित था। पाणिनि ने मुद्रांकित सिक्कों का उल्लेख किया है, जैसे कांस्य, शतमान, कार्षापण, पण, पाद, रूप्य आदि।

व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में, भारतीय व्यवसाय का इतिहास बहुत दूर तक जाता है। प्राक्-सर्गोनिक काल (लगभग 2300 ई० पू०) में भारत और पश्चिम एशिया के बीच सीधा व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापार का

अधिकतर भाग समुद्र मार्ग से चलता था। स्थल मार्ग ईरानी मकरान की पश्चिमी सीमा से आगे नहीं गया था। व्यापार और वाणिज्य हड़प्पा जनों के अर्थतन्त्र का मुख्य आधार था। हड़प्पा के व्यापारियों का सुमेर के नगरों में अपना खास अड्डा था। कपास भारत से निर्यात की एक मुख्य वस्तु थी। व्यापार के सुपरिचित मार्ग होते थे। ऊँट के साथ-साथ घोड़े की पीठ पर भी माल ढोए जाते थे। नदीय और समुद्री व्यापार नावों से होता था। **लोथल** एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था।

वैदिक साहित्य में व्यापारियों का हवाला है। अथर्ववेद में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि दुष्टों, जंगली जानवरों और दस्युओं से रक्षा करो। लगाई गई पूंजी का नाम '**धन**' था। ऋग्वेद में जो 'समुद्र' शब्द आया है, उसका अर्थ सम्भवतः सिन्धु नदी की निम्न धारा या समुन्दर रहा होगा। वरुण का समुद्र-मार्ग-ज्ञान, भुज्यु के पोत का डूबना और बाद में एक सौ डाँड़ वाले पोत के जरिए अश्विनों द्वारा उसका उद्धार इत्यादि उल्लेखों से यह भलीभाँति सूचित होता है कि उस समय समुद्री व्यापार चलता था। मिस्र के ममियों (पितर शवों) के वस्त्रों में भारतीय नील का प्रयोग, नेबूचादनेजार (Nebuchadnezzar) के महल में भारतीय देवदास का प्रयोग तथा उर (Ur) के चन्द्रदेव के मन्दिर में भारतीय सागवान का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि पश्चिम एशिया के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध निरन्तर जारी रहा। ऋग्वेद के पणिजन अर्थलोलुप वणिक्‌वर्ग थे।

साहित्यिक स्रोत **रामायण, महाभारत, पुराण** और पालिग्रन्थों से ज्ञात होता है कि गंगा के मैदान के आर-पार बीसों नगर बसे हुए थे। ईसा की प्रथम शताब्दी में या उससे भी कुछ पहले, जनपदों का उद्भव हुआ जिनमें छोटे पैमाने पर कृषिमूलक अर्थतन्त्र लक्षित होता है। ये जनपदवासी ओपदार धूसरभांड (PGW) वाले लोग थे। इनके बाद नव बभ्रु मृद्‌भांड (NBP) वाले दिखाई देते हैं और इस अवधि में क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हुई। इसी अवधि में लोहे का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। आर्थिक क्षेत्र में स्पष्ट विकास लक्षित होता है, खास तौर से खेती का ज्ञान उत्तरोत्तर अधिक होता गया और इसके फलस्वरूप ठोस कृषिक बुनियाद कायम हुई जिसकी संपुष्टि 'शतपथब्राह्मण' से होती है। इस काल में मुद्रा का उदय हुआ और व्यापारिक क्रियाकलाप उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस प्रकार ई० पू० चौथी शताब्दी में आकर नगरीय अर्थतन्त्र की समृद्धि के लिए आवश्यक उपादान जुट गए—फाजिल खाद्यान्न, शिल्प का विशेषीकरण,

व्यापार, विनिमय-केन्द्र, मुद्रा का प्रयोग, शान्ति-व्यवस्था के लिए राजनैतिक-संगठन और शिक्षित समाज। इसके फलस्वरूप फुरसत में रहने वाले धनी वर्गों की रूचियों और कामनाओं की पूर्ति करने वाले जहूरियों और शिल्पियों को, वेश्याओं को, सरायों और जुआघरों आदि को सम्पोषण मिलने लगा। मौर्यों ने अपनी आर्थिक बुनियाद को मजबूत किया और इस अवधि की विशेषता केवल सांस्कृतिक और आर्थिक धरातल पर एकरूपता में ही नहीं, बल्कि अर्थतन्त्र को व्यापक रूप से मुद्रात्मकता प्रदान करने में भी निहित है। 150 ई० पू० से लेकर 320 ई० तक की अवधि में हम नगरीकरण की पूर्ण परिपक्व अवस्था की झलक पाते हैं।

❀

अध्याय 3

ई० पू० चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी ई० तक के आर्थिक जीवन का सिंहावलोकन ।

I. 600-300 ई० पू०

ऊपर यह बताया जा चुका है कि लोहे के व्यापक उपयोग ने छठी शताब्दी ई० पू० में प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। भारत लौह-युग में आ तो गया, पर इसके अलग-अलग क्षेत्रों में विकास समान मात्रा में नहीं हो सका। लोहा फाजिल अनाज उपजाने में तथा यातायात की सुविधा बढ़ाने में साधक हुआ जिससे व्यापार को और भी बढ़ावा मिला। लोहा स्वयं भी व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण माल हो गया। इससे सार्वमुखीन आर्थिक विकास को मदद मिली। बौद्धों ने पशुओं की रक्षा पर जोर दिया और 'सुत्तनिपात' में साफ शब्दों में कहा गया है कि गाय से अन्न, बल, कान्ति और सुख मिलते हैं। अतः गाय का वध नहीं करना चाहिए। खेती के औजार लोहे के बनते थे। 'सुत्तनिपात' में एक ब्राह्मण की कहानी है जो हल चलाकर खेत जोत रहा था। हल का फार (जो अवश्य ही लोहे का होगा) इतना गर्म हो गया कि उसे पानी में डुबोना पड़ा।

परती जमीन को तोड़कर खेत बनाने की कोशिश हुई। इसके लिए सामूहिक प्रयास चला। दासों और कर्मकरों (दैनिक मजदूरों) को इस काम में लगाया गया। पाणिनि ने 'क्षेत्रकरों' द्वारा खेतों की विधिवत् मापी का उल्लेख किया है। बौधायन ने छह 'निवर्तन' के बराबर खेत को उत्तम (आदर्श लाभकर होल्डिंग) बताया है। बौद्ध साहित्य में 'गहपतियों' (गृह स्वामियों) और 'कुटुम्बिकों' (धनी किसानों) की चर्चा है जो खेतों के स्वामी होते थे। कृषि का विकास गहन और व्यापक दोनों रूपों में हुआ। गहपति और कुटुम्बिक अपनी खेती कर्मकर (मजदूरों) और दासों (स्थायी सेवकों) से कराते थे। गंगा का मैदान सर्वाधिक आर्थिक विकास का केन्द्र था। सिंचाई ज्ञात थी। कृषि उत्पादनात्मक श्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप हो गई। पशुपालन भी महत्त्व रखता था। एक धनी किसान को 27,000 दुधारू गाएँ थीं। किसका मवेशी है यह विवाद न

हो इसके लिए मवेशी को दागा जाता था। किसान सीधे राजा को कर चुकाते थे। राजा और खेतिहर के बीच दरमियानी हकदार बहुत कम और विरल थे, हालाँकि 'भोगगामों' (ब्राह्मणों को प्रदत्त भूराजस्वाधिकार) के उल्लेख मिलते हैं। जिनकी लगान छठे हिस्से से बारहवें हिस्से तक लिया जाता था और संकट के समय 'बलि' (नकद कर) भी ली जाती थी।

भारतीय अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से किसानों के स्वामित्व वाले जनपदों की पद्धति पर खड़ी थी। सामन्तों का उल्लेख नहीं पाया जाता है। अधिकतर होल्डिंग छोटे-छोटे होते थे, फिर भी ब्राह्मणों की जोन में एक-एक हजार 'करीष' या उससे भी बड़े-बड़े इस्टेट होते थे। काशी भारद्वाज के पास पाँच सौ हल थे। पराये के हाथ में जमीन जाने देने के विरुद्ध भावना और सामुदायिकता की भावना जाग्रत थी। इस रुख के चलते बिक्री या बन्धक द्वारा जमीन का निपटारा दुष्कर था। चरागाह सामुदायिक वस्तु होती थी।

यद्यपि आपस्तम्ब और बौधायन ने नगरों की निन्दा की है, तथापि लोहे के प्रचलन से आर्थिक दृष्टिकोण में एक स्पष्ट परिवर्त्तन आ गया था और इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी कई केन्द्र स्थलों में शहरी आर्थिक ढाँचे का विकास होना। शहरों की संख्या तेजी से बढ़ती गई और शहरों में उद्योग-धन्धों का अधिकाधिक क्षेत्रीयकरण और विशेषीकरण होता गया और आगे चलकर वे वृत्ति संघों (गिल्डों) के रूप में परिणत हो गए। बौद्ध साहित्य में अठारह कलाओं या व्यापारी संघों का उल्लेख है। व्यापारियों और शिल्पियों को 'महासेट्ठियों', 'सेट्ठियों' और 'अनुसेट्ठियों से पूँजी मिलती थी। साझा व्यापार प्रतिष्ठान तथा सौदागरों के कारवाँ भी होते थे। बौद्ध काल के आदि भाग में व्यापार खूब चलता था। ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में साइलैक्स ने सिन्ध का पता लगाया जिससे समुद्री रास्ते खुल गये और फलस्वरूप ऐकिमिलियन साम्राज्य के भारतीय क्षत्रपों की बहुतायत हुई। जैन साहित्य में कई प्रकार के नगर-निवेशों का वर्णन है। अरिस्टोबुलस ने हजारों से अधिक नगरों के खंडहर देखे थे। साठ प्रख्यात नगर चम्पा से भृगुकच्छ तक और कावेरी पतनम् से कपिलवस्तु तक फैले थे। इनमें बीस बड़े-बड़े नगर थे और छह—चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी और कुशीनारा तो पर्याप्त महत्त्व के थे। आकार में पाटलिपुत्र सबसे विशाल नगर था और प्राचीन भारत की एक महानगरी में इसकी गणना थी। इसमें पाँच सौ सत्तर स्तम्भ और सत्तर से अधिक फाटक थे। इन नगरों की ख्याति इनकी कला और शिल्पों के आधार पर होती थी। नगरों

में शिल्पयों का निवास रहता था; कहीं वणिकों-श्रेष्ठियों का जमाव रहता था तो कहीं शिल्पियों का। वैशाली के सद्दलपुत्र को कुम्भकारों की पाँच सौ दूकानें थीं। राजगीर में अट्ठारह वृत्ति सघ थे और दो अवसरों पर राजकीय शोभा-यात्रा में ये अठारहों संघ शामिल हुए थे। वृत्तिसंघ की प्रणाली के फलस्वरूप शिल्पों में विशेषीकरण होने लगा। कारीगरी उच्च कोटि पर पहुँची और उत्तमोत्तम वस्त्रों का निर्यात बेरीगाज़ा होते हुए पश्चिम एशिया में होने लगा। इन पर राजा को सामान्य नियन्त्रण रखना पड़ता था और वृत्ति-संघों के नियमों को मान्यता देनी पड़ती थी।

शहरी केन्द्रों पर सेट्ठी लोग हावी हो गए। वे व्यापार और उद्योग पर नियन्त्रण रखते और ग्रामीण क्षेत्रों के सेट्ठियों से नियमित सम्पर्क बनाए रहते। विद्वानों का कहना है कि सेट्ठी की उपाधि एक प्रतिष्ठित पदवी के रूप में राजा से मिलती थी और ऐसे सेट्ठियों को भोगगाम' भी दिए जाते थे। वृत्ति संघ के साथ इनका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। गाँव अपनी फाजिल उपज नगरों को भेजते थे और नगर उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ गाँवों को उपलब्ध कराते थे। पालि ग्रन्थों में तीन प्रकार के ग्रामों का उल्लेख है :—

(i) विविध वर्णों और जातियों की बस्ती वाला साधारण ग्राम जिसका मुखिया 'भोजक' होता था।

(ii) उपनगरीय ग्राम जो शिल्प ग्राम के ढंग के होते थे। ये अन्य ग्रामों के बाजार होते थे और नगर के साथ ग्रामों को जोड़ते थे; तथा

(iii) अन्त्य ग्राम (सरहदी गाँव), जिनमें शिकारी, बहेलो और अधम स्तर के लोग बसते थे।

करों की वसूली राजा के अधिकृत पुरुष करते थे और किसान व राज्य के बीच कोई दरमियानी हकदार नहीं होते थे। इस अवधि का आर्थिक स्वरूप उत्तर वैदिक काल के ग्रामीण आर्थिक ढाँचे से भिन्न था। व्यापारी लोग विविध दूरगामी मार्गों से यातायात करते रहते थ। जातकों में पाँच सौ गाड़ियों के एक सार्थवाह (कारवाँ) का उल्लेख है। जलमार्गीय यात्रा में सुविधा के लिए व्यापारी लोग तटान्वेषी पक्षियों से काम लेते थे।

मुद्रामूलक अर्थव्यवस्था नगरीकरण की एक मुख्य विशेषता थी। यह अर्थव्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में भी घुस आई। कहा गया है कि सेट्ठियों के पास अस्सी कोटि रुपये थे। वणिक्-सघ अपने-अपने सिक्कों पर अपनी-अपनी छाप लगाते थे। साहूकारी का प्रचलन हुआ। ग्रामीण और नगरीय अर्थव्यवस्था साथ-

साथ विकसित हुई । जहाँ तक हमारी जानकारी है, यह ठीक-ठीक बताना सम्भव नहीं है कि मौर्य-पूर्व काल में राज्य की भूमिका क्या थी । यह कहना कठिन है कि ये आहत मुद्राएँ शासकों की ओर से जारी की जाती थीं या व्यापारियों के संघ की ओर से ही । मुद्रामूलक अर्थव्यवस्था के चालू होते ही देश में आर्थिक कार्य-कलाप में अभूतपूर्व वृद्धि हुई ।

2. 300 ई० पू० से 185 ई० पू० तक

मौर्यों के उत्थान के फलस्वरूप देश में बड़े पैमाने पर राजनैतिक एकीकरण तथा वैज्ञानिक तरीके से प्रशासन-तन्त्र के संगठन की प्रक्रिया शुरू हुई । मौर्यों को देश के आर्थिक जीवन पर अच्छा काबू था । राजा सबसे बड़ा व्यापारी और नियोजक था । मेगास्थनीज के साक्ष्य पर विदित होता है कि पाटलिपुत्र में भारी संख्या में विदेशी रहते थे । मुद्रा जड़ जमा चुकी थी । कौटिल्य ने कई विभिन्न मानों के सिक्कों का उल्लेख किया है, जैसे **'कार्षापण'**, **'काकिणी'**, **'सुवर्ण'**, **'पण'** आदि । टकसालों की देखभाल के लिए मुद्राधीक्षक रहता था । उधार, ब्याज और महाजनी की अवधारणा भली-भाँति हो चली थी । स्थल मार्गीय व्यापार के साथ-साथ नदी और समुद्रीय मार्गों का भी उपयोग होता था । मौर्य राज्य में विशाल सेना स्थायी रूप से रखी जाती थी ।

वैयक्तिक स्वामित्व लगता है, मान्य हो चुका था । भूमि के भोग और स्वामित्व में अन्तर आ चुका था । 'स्वत्व', 'स्वामित्व' और 'भोग' ये शब्द निश्चित रूप से भूमि पर वैयक्तिक प्रभुत्व के ज्ञापक हैं । सूत्रों और स्मृतियों में कहा गया है कि खरीद से और उपलब्धि से सम्पत्ति में स्वामित्व प्राप्त होता है । कानूनी अधिकारों का भी विकास हुआ । मनुस्मृति में कृषिभूमि सम्पत्ति के प्रकारों में मुख्य मद के रूप में गिनाई गई है । भूमि तीन प्रकार की थी—वैयक्तिक, सामुदायिक और राजकीय । सम्पत्ति विषयक अधिकारों की रक्षा की जाती थी । डिओडोरस के विवरण में यथार्थ स्थिति का चित्रण नहीं है और स्थानीय स्रोतों में मिली सामग्री से उसका मेल नहीं है । नारद के अनुसार राजा को वैयक्तिक स्वामित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए ।

राज्य के आर्थिक कार्यकलाप की मुख्य विशेषताएँ ये थीं :—

(i) कृषि, उद्योग और व्यापार पर राज्य का नियन्त्रण तथा विविध कर लगाए जाते थे ।

(ii) संकट की घड़ी के लिए पर्याप्त संचय रखा जाता था ।

(iii) बहुत-से आर्थिक कार्यकलाप का नियन्त्रण राज्य के हाथ में था।

(iv) चूँकि राज कोष पर सेना और कर्मचारी का भारी बोझ था, इसलिए नए-नए कर लगाकर कोष की पूर्त्ति करनी पड़ती थी।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था

नई बस्तियाँ बसाकर अधिक आबादीवाले फाजिल आबादी को स्थानान्तरित करके तथा उजड़ते हुए गाँवों को फिर से बसाकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास किया गया। शूद्रों को नियोजित कर किसान के रूप में बसाया गया। मवेशी, बीज, पूँजी और सिंचाई की सुविधाएँ दी गईं। कर से छुटकारा और अन्य रियायतें दी गईं। सेवा निवृत्त अधिकारियों और पुरोहितों को ऐसे इलाकों में जागीर दी गई। ऐसे नव-बासित क्षेत्रों में भूमि की बिक्री, बन्धक और विरासत पर प्रतिबन्ध लगाया गया। लापरवाह किसानों को हटाकर उनकी भूमि उत्साही किसानों को दी गई।

ग्रामों का वर्गीकरण तीन कोटियों में किया गया—उत्तम, मध्यम और अधम। चौथी कोटि में कर मुक्त ग्राम थे। हर गाँव में एक सार्वजनिक चरागाह थी। ग्रामों की सीमाएँ निर्धारित थीं।। हर गाँव में सार्वजनिक भवन थे। हर गाँव की स्वतन्त्र आन्तरिक अर्थव्यवस्था थी। ग्रामों से सरोकार रखनेवाले विभिन्न विभागों के संचालन के लिए छह प्रधान अधिकारी होते थे। मछली, घाट, व्यापार और सिंचाई के अधिकार राजा के हाथ में थे। सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए ग्राम के लोग एकजुट रहते थे तथा सहकारिता के आधार पर लोक-हित के काम करते थे। ग्रामीण क्षेत्रों का मुख्य उद्योग खेतीबाड़ी था।

मौर्य काल में लगने वाले करों की सूची से प्रकट होता है कि किसानों से उसकी बचत को जहाँ तक हो सके, खींच लेने का प्रयास राज्य की ओर से जान-बूझकर किया जाता था और जब इतने से भी राज्य के निरन्तर बढ़ रहे खर्च को पूरा करना सम्भव नहीं होता था; तब 'प्रलय' आदि जैसे संकटकालीन कर लगाकर देव-प्रतिमाएँ स्थापित करके उन्हें चढ़ाए गए धन बटोर कर, तथा मजबूरन दोहरी फसलें पैदा करवा कर खर्च पूरा किया जाता था। सारी अर्थव्यवस्था का संचालन केवल राज्य की वित्तीय आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए ही होता था। मुख्य कर थे छठे भाग के बराबर (यूनानी विवरण के अनुसार चौथे भाग के बराबर) राजांश, 'पिंडकर' (जो ग्रामों के समूहों पर लगता था), सेनाभुक्त (जिसमें राजा की सेना के लिए ग्रामों की ओर से रसद की व्यवस्था का दायित्व निभाना पड़ता था), 'हिरण्य' (नकदी कर), वृत्तिसंघों पर कर आदि।

राज्य-शक्ति का मुख्य आधार था खान-खुदाई और धातु कर्म । खान खोदने तथा खनिज का व्यापार करने में, राज्य का एकाधिकार था । केवल राज्य ही सैनिकों को धातु के हथियार तथा उद्योगों को आवश्यक औजार और साज-सामान दे सकता था व्यापार और उद्योग की देख-रेख कई अध्यक्षों द्वारा कराई जाती थी और राज्य के आर्थिक कार्य-कलापों के संचालन के लिए ऐसे सत्ताईस अध्यक्ष बहाल थे । देश की अर्थ-व्यवस्था को सँभालने में इन अधिकारियों की क्या भूमिका थी, इसके विचार का अवसर आगे आएगा ।

3. 185 ई० पू० से 200 ई० तक

आर्थिक दृष्टि से यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण है । यह भरपूर आर्थिक चहल-पहल का काल है । राजकीय प्रयासों का स्थान लगता है, व्यक्तिगत प्रयास लेते गए हैं । यह सिद्ध करने का प्रमाण मिलता है कि वैयक्तिक स्वामित्व का सिद्धान्त धीरे-धीरे जड़ जमाता गया है । 'मिलिन्दपञ्ह' 'दिव्यावदान', मनु, गौतम, पारस्करगृह्य सूत्र' ये सभी भूमि में व्यक्तिगत प्रयास और व्यक्तिगत स्वामित्व के पक्षधर हैं । हमें ऐसे स्वायत्त ग्रामों के उदाहरण मिलते हैं, जहाँ ग्राम के मुखिया न्याय-कार्य करते हैं और कर उगाहते हैं । वैश्य खेती का व्यवसाय करते थे और उन्हें इस काम की तकनीकी जानकारी रहती थी । मनु कहते हैं कि ब्राह्मण के लिए परती भूमि का दान लेना उतना निन्दनीय नहीं है जितना जुते खेत का । इसका आशय यह है कि ब्राह्मण परती भूमि प्राप्त कर उसे आबाद करेगा । राज्य की ओर से बीज दिए जाते थे और सिंचाई की व्यवस्था भी की जाती थी ।

सिंचाई का महत्त्व भलीभाँति माना जाता था । जलाशयों और नहरों आदि को क्षति पहुँचाने वालों के लिए कठोर दंड (मृत्यु दंड तक) का विधान था । सिंचाई के लिए कुओं और पोखरों के निर्माण को बड़ा कीर्तिकर माना जाता था । खारवेल्ल ने न केवल कलिंगपुरी में एक पोखरे का जीर्णोद्धार और घेराबन्दी कराई, बल्कि एक पुरानी नहर को (जो नन्दों ने बनवाई थी) आगे बढ़ाया और खोदा; और इस काम में एक सौ हजार (अर्थात् एक लाख) 'पण' खर्च पड़ा । रुद्रदामन बिना कोई कर लगाए, बेगारी लिए या आपातिक दबाव डाले विशाल राशि खर्च करके सौराष्ट्र के सुदर्शन-सर के भग्नांश का जीर्णोद्धार कराया । शक और कुषाण राजाओं ने भी सिंचाई के लिए पोखरे बनवाए । कुएँ ग्रामवासियों के सामूहिक प्रयास से भी खोदे जाते थे ।

शिलालेखों में यह बात उल्लिखित मिलती है कि सेट्टी लोग, उपासक लोग और राजा बौद्ध भिक्खुओं को जीवन-निर्वाह तथा सम्बद्ध धार्मिक कर्म के लिए

भूमि दान देते थे। राजा द्वारा प्रदत्त भूमि कर मुक्त होती थी और उसके उपभोग पर किसी प्रकार की विघ्न-बाधा (हस्तक्षेप) नहीं की जाती थी। कृषि की रक्षा के लिए राजा कानून बनाता था। खेती के औजार चुराने वाले को सजा दी जाती थी। बारंबार हो रहे विदेशी आक्रमणों के बावजूद कृषि की स्थिति समुन्नत थी; किन्तु खेती अच्छी नजर से नहीं देखी जाती थी। सीमा चिह्न मिटाने वालों और गड़बड़ बीज बेचने वालों के लिए दंड का विधान था। गाँव का मुखिया राजा की ओर से कर उगाहता था। वृत्तिसंग महाजनी (बैंक का काम) करते थे।

शिल्पकार राजकीय नियन्त्रण से मुक्त थे। 'दीघ निकाय' में लगभग दो दर्जन व्यापारों का उल्लेख है और 'मिलिन्दपञ्ह' में पचहत्तर धंधों का उल्लेख है, जिनमें साठ विविध प्रकार के शिल्पों से सम्बद्ध हैं। वस्त्र बुनने का उद्योग विकसित अवस्था में थी। चीनी ऊनों के अलावा भारतीय ऊनों के तीस प्रभेदों का उल्लेख मिलता है। सूती वस्त्र कितने उत्कृष्ट होते थे, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसकी उपमा दूध की भाप (Vapour from milk) और साँपों की केंचुली से दी जाती थी। मथुरा का 'शाटक' (एक खास प्रकार का कपड़ा, जिसका उल्लेख पतंजलि ने किया है) नामी था। मनु ने जुलाहों से कर लेने का विधान किया है। 'दिव्यावदान' में तेली के कोल्हू का उल्लेख है। बहुत-सारे शिल्प उन्नति पर थे। भारत कीमती हीरा, जवाहर, मोती, वैदूर्य, स्फटिक, सूर्यकान्त आदि का सबसे बड़ा उत्पादक था।

व्यापार विकास के ऊँचे स्तर पर पहुँचा था। व्यापारियों को अन्य देशों के उत्पादनों और उनकी जरूरतों की जानकारी रखनी पड़ती थी। व्यापार और व्यापारियों के सम्बन्ध में जो बहुत-सारे नियम और कई तरह के कर्तव्य निर्धारित मिलते हैं, उनसे अनुमान किया जा सकता है कि वाणिज्यिक गति-विधि कितनी तेज रही होगी। सीरिया में अराजकता छा गई, पार्थिया में विरोधी साम्राज्य खड़ा हो गया, ओक्सस (वंक्षु) नदी के उस पार से शकों ने बैक्ट्रिया में प्रवेश किया, सिकन्दर ने टायर (Tyre) के महत्त्वपूर्ण व्यापार केन्द्रों को ध्वस्त कर दिया— इन सभी कारणों से भारत की तिजारत को उत्तरी मार्गों से मुँह मोड़ लेना पड़ा और अलेग्जेंड्रिया व्यापार का केन्द्र बन गया। ४१ ई० में ही मिस्र होते भारत आने का मार्ग यूरोपियनों को मालूम हो गया। हिपालस द्वारा मानसून का पता लगने से व्यापार को बहुत बड़ा बल मिला। अब नाविकों को नौचालन की बेहतर जानकारी हो गई। इसकी बदौलत वे भृगुकच्छ (भरोच) और अरिकमेडु (पांडिचेरी) की भारतीय बन्दरगाहों में पहुँच गए। आर्थिक समृद्धि समुद्री व्यापार पर निर्भर

थी। भारत रेशम के व्यापार में बिचौलिया बना। व्यापार में अच्छा मुनाफा मिलने के फलस्वरूप भारत में एक स्वर्ण-मान (गोल्ड स्टैंडर्ड) सृजित हुआ। कुरुमंडल (कोरोमांडल) समुद्र तट के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार करने लगे और उस क्षेत्र में उनका कारबार बढ़ता गया। एक ओर जहाँ रोम के साथ भारत का व्यापार नीचे गिरा, वहाँ दूसरी ओर उसका वाणिज्य सम्बन्ध दक्षिण-पूर्व एशिया से मजबूत होता गया।

एक ओर रोम के अधीन भूमध्यसागरीय क्षेत्र और लाल सागर तटीय क्षेत्र का एकीकरण तथा दूसरी ओर कुषाणों के अधीन वंक्षु और सिन्धु घाटियों का एकीकरण इन दोनों क्षेत्रों के बीच व्यापार में वृद्धि का बहुत बड़ा सहारा हुआ; क्योंकि इससे चीन और रोम के बीच एक सुविधाजनक स्थिति प्राप्त हुई। कुषाणों के अधीनस्थ देशों ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से अपार आर्थिक लाभ प्राप्त किया। गन्धार और मथुरा महत्वपूर्ण व्यापार-मार्गों के संगम-स्थल थे और इससे बौद्ध धर्म को एक नया आयाम मिला। आर्थिक समृद्धि से कला और धर्म के विषय में नई-नई उद्भावनाओं में बड़ा बल मिला। उत्तर-पश्चिम भारत के मार्ग पश्चिमी देशों और एशिया के बीच चल रहे अग्रसारण व्यापार-से गुलजार रहते थे। इससे होकर यातायात दीर्घ काल तक चलता रहा। भारत को मध्य एशिया के अलाई पर्वतों से प्रचुर मात्रा में सोना हाथ लगा।

कला और शिल्प में लगे लोग वृत्ति संघों के रूप में संगठित थे। ये संघ राजशक्ति के एक मुख्य सम्पोषक थे। संघों से कार्यदक्षता बढ़ी और कार्य का विशेषीकरण (बँटवारा) हुआ। वृत्तिसंघ अनेक थे (जिनका सविस्तार विवेचन आगे एक अलग अध्याय में किया जाएगा)। इसी अवधि में हम वृत्ति-संघ के अस्तित्व का शिलालेखीय साक्ष्य पाते हैं। ब्राह्मणों को जीवनोपयोगी वस्त्रादि देने के लिए तथा ब्राह्मण भोजन कराने के लिए इन वृत्ति संघों को धन न्यस्त किया जाता था जिसे **'अक्षय निधि'** कहते थे। संघ के अन्तर्गत शिल्पी लोग अपना कार्यकलाप स्वतन्त्र रूप से करते थे।

दीनार टाइप की स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग कुषाणों के द्वारा शुरू किया गया और वह गुप्त-काल में प्रचुर मात्रा में चलने लगी। पतंजलि ने कर्मकरों की मजदूरी 'निष्क' में चुकाने का उल्लेख किया है। मुद्रामूलक अर्थव्यवस्था डेकन और समुद्रतटीय क्षेत्रों में भी चलती थी। यह नगरों और उपनगरों की आम जनता में भी भीतर तक पहुँच गई थी—यह एक ऐसा विकास था जिससे कला-शिल्पों की समृद्धि और देश का पश्चिम के साथ अच्छा-खासा व्यापार सम्भव हुआ। मनु के अनुसार

ग्रामीण क्षेत्रों में प्राकृतिक अर्थव्यवस्था प्रमुख थी और राजा के अधिकारियों को जमीन की जागीर के रूप में वेतन दिया जाता था।

सातवाहनों के समय में उत्तरापथ और दक्षिणापथ के तत्वों का सम्मिलन हुआ और सातवाहन राजाओं ने ही ब्राह्मणों को भूमि-दान (ब्रह्मोत्तर) देना शुरू किया। उन्होंने दक्षिण भारत के खनिज-स्रोतों का उपयोजन किया और बहुत ही उन्नत ग्रामीण अर्थव्यवस्था कायम की। किसान लोग राजकीय सेना के भरणपोषण के लिए पर्याप्त उत्पादन करते थे। दक्षिणी छोर पर, व्यापार राजस्व का मुख्य स्रोत था, पर इसकी वास्तविक नींव कृषि से होने वाली नियमित आमद ही थी।

[illegible] तथा मुद्रा के अधिकाधिक प्रयोग की बदौलत बहुत-सारे नगर समृद्ध होते गए। कुषाणों के भौतिक पुरावशेषों से प्रकट होता है कि नगरीकरण का सिलसिला चोटी पर पहुँच चुका था। उज्जयिनी दो व्यापार-मार्गों की संगम-स्थली थी—एक कौशाम्बी से आता था और दूसरा मथुरा से। यहाँ से अकीक (एजेंट) और कार्नेलियन पत्थरों का भी निर्यात होता था। सातवाहन राजाओं के समय नगरों की समृद्धि बढ़ी और रोमन साम्राज्य के साथ अच्छा व्यापार चलता रहा। जब तीसरी शताब्दी ई० के बाद से रोमन साम्राज्य ने भारत के साथ व्यापार पर रोक लगा दी, तब शहरों को कुछ धक्का लगा। उत्तर में कुषाण राज्य और दक्षिण में सातवाहन राज्य के अन्त होने से शहरी केन्द्र मरणासन्न हो गए; क्योंकि शहर शिल्पियों और वणिकों का सम्पोषण करने में असमर्थ हो गए।

विविध राजवंशों द्वारा आलोच्य अवधि में जारी किए गए सिक्कों की बहुतायत से यह प्रकट होता है कि मुद्रामूलक अर्थव्यवस्था विकसित हो चुकी थी और विदेशों के साथ हुए लाभकर व्यापार से देश की आर्थिक स्थिति ठोस हो गई थी। राजनैतिक शक्तियाँ अर्थतन्त्र को कोई नया दिशा-निर्देश नहीं कर सकीं; क्योंकि इस काल के इतिहास में राजनैतिक सुसंहति का अभाव-सा था और कुषाणों, क्षत्रपों और सातवाहनों को छोड़, और किसी भी राजसत्ता को कोई अखंड राजकीय नीति अपनाने का रास्ता नहीं था।

4. 200 ई० से 600 ई० तक

इस काल की मुख्य आर्थिक विशेषता है उत्पादन की स्थानीय इकाइयों का उदय, भूमि का आंशिक सामन्तीकरण और मन्दिरों, मठों एवं ब्राह्मणों को आबाद भूमि का दान। करदाताओं की संख्या घटती गई और फाहियान का कथन कि "भूराजस्व वही लोग चुकाते थे जो राजा की जमीन जोतते थे" इस बात का पर्याप्त

प्रमाण है । राज्य स्वतन्त्र किसानों पर अपना प्रभुत्व कर लगाकर रखता था। स्थानीय अधिकारी लोग धीरे-धीरे आर्थिक शक्ति हथियाने लगे और ग्रामीण जनता से तरह-तरह के लाभ, जिनमें बेगारी भी शामिल है, दुहे जाने लगे । सिंचाई तक स्थानीय कर्त्तव्य समझी जाने लगी और सुदर्शन-सर का जीर्णोद्धार स्थानीय शासक ने ही कराया । वृत्तिसंघ अधिक शक्तिशाली हो गए; वे मुद्राएँ (सील) और सिक्के जारी करते थे और अपनी फौज भी रखते थे जो 'श्रेणिबल' कहलाती थी । बृहस्पति ने यहाँ तक कहा है कि वृत्तिसंघ जो भी करें, राजा को वह अनुमोदित करना चाहिए और नारद भी इस बात की पुष्टि करते हैं । वृत्तिसंघ उत्पादन की स्वतन्त्र इकाई के रूप में काम करते थे ।

इस काल की सबसे बड़ी विलक्षणता है स्थानीय किसानों को दबाकर पुरोहितवर्गी जमींदारों का उदित होना । ये जमींदार स्थानीय जनजातीय किसानों की छाती पर ऊपर से लाकर बैठा दिए गए । भूमिदानों के विषय में, मध्य प्रदेश के दान बंगाल के दानों से भिन्न तरह के हैं । बंगाल के दान अलग-अलग व्यक्तियों से कराई गई बिक्री द्वारा प्रदत्त हैं, जिसमें भूमि का हस्तान्तरण हुआ है, किन्तु मध्य देश के दान सामन्तों द्वारा किए गए ग्रामों (मौजों) के दान हैं । बंगाल के दान केन्द्रीय शासन के अधिकारियों की सम्मति से किए गए हैं और इनमें केवल करों से छूट शामिल है, लेकिन मध्य देश के दानों में प्रशासनिक हस्तक्षेप से मुक्ति भी शामिल है । अपार लोग पुरोहितों, ब्राह्मणों, मन्दिरों आदि को अपना-अपना कर चुकाते थे और इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता की उपेक्षा भी करते थे । इसके परिणाम-स्वरूप भूमि के मध्यवर्ती मालिकों का जन्म हुआ । ये खेतिहरों को लगान पर जमीन देते थे और ऐसे खेतिहर यदि खेती करने में लापरवाही करते थे तो सजा पाते थे । ये खेतिहर अस्थायी किसान के ढंग के होते थे ।

स्वामित्व के क्षेत्र में, वैयक्तिक भूमि स्वामित्व का और भी विस्तार दिखाई देता है । धीरे-धीरे भूमि निजी हाथों में संचित होती गई है । किसान क्रमशः भूमि-स्वामियों के वश में आते गए और काश्तकार पूर्णतः पराश्रित हो गए । मुक्त खेतिहरों की स्थिति के बारे में कुछ परिवर्तन हुए । भूमि का हस्तान्तरण उस भूमि के खेतिहर के साथ होने लगा । तीसरी शताब्दी के एक पल्लव अभिलेख में कहा गया है कि जो भूमि ब्राह्मण को दी गई उसका बटाईदार खेतिहर पूर्ववत् उस जमीन पर कायम रहेगा । ऐसी ही बातें वाकाटक अभिलेखों में भी मिलती हैं । सामन्तीय अर्थव्यवस्था ने अपना एक रूप धारण किया है ।

भूमि पर अधिकाधिक निर्भरता वास्तविक स्थिति हो गई । गाँवों को आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई समझ कर अपनी टाँगों पर छोड़ दिया गया । उद्योग-

धन्धे वृत्तिसंघों के रूप में संघटित रहे। ये संघ महाजनी (बैंकिंग बिजिनेस) भी करते थे। महाजनी का काम मन्दिर-समितियाँ भी करती थीं। ५५० ई० तक भारत पूरबी रोम साम्राज्य के साथ कुछ-कुछ व्यापार चलाता रहा, किन्तु तब तक पूरबी रोम-साम्राज्य के लोग रेशम पैदा करने की कला चीनियों से सीख चुके थे। इससे भारत के निर्यात व्यापार को धक्का लगा और भारतीय बुनकर अपना धन्धा छोड़ और-और धन्धों में लग गए।

चौथी से सातवीं शताब्दी ई० तक के काल की विशेषता है—उन्नत ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रसार, राज्य-पद्धति का उद्भव आदि। जनजातीय और जंगली क्षेत्रों में भूमि-दान देकर ब्राह्मणों को प्रतिष्ठापित करने से बहुत-सारी परती जमीन आबाद हुई तथा मौसम की अच्छी जानकारी के साथ खेती के सुधरे तरीके प्रचलित हुए। सामन्तीय विकास का प्रभाव नये क्षेत्रों पर भी पड़ा। भूमिदान से नई किस्म के अधिकारों का जन्म हुआ और इनकी देखभाल करने के लिए एक अधिकारी नियुक्त हुआ, जिसका पदनाम 'अग्रहारिक' था।

गुप्तोत्तर काल में, अधिकारियों को पुरस्कार या वेतन के रूप में भूमिदान (जागीर) देने की सामन्तीय परिपाटी लगता है, हर्ष के राज्यकाल में प्रचलित हुई। विन्ध्यपार क्षेत्र में राज्यों की संख्या बढ़ती हुई नजर आती है। हर राज्य के अधीन अनेक सामन्त थे, हरेक को अपनी-अपनी सेना और अपनी-अपनी करारोपण-प्रणाली थी। ऐसे हर राज्य को आर्थिक स्रोत चाहिए, जो ग्राम ही हो सकता था। किसान ही अपार साधन स्रोत जुटाते थे और कृषिजीवियों पर लादा गया यह बोझ कमो-बेश सर्वत्र एक-सा था। राष्ट्रकूट बड़े-बड़े बन्दरगाह से काफी राजस्व प्राप्त करते थे; हालाँकि समुद्रतटीय व्यापार बहुत कम होता था बनिस्पत विदेश-व्यापार से, जिसका बहुत पतन हो चुका था। प्रतिहार-उत्कीर्ण लेखों में वणिकों को 'व्यावहारिक' कहा गया है। गुप्तोत्तर काल के सिक्के कम, अपरिष्कृत और घटिया किस्म के मिलते हैं जो आर्थिक पतन का सूचक है। पल्लवों और चोलों ने दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ समुद्री व्यापार को चलता रखा और आठवीं शताब्दी के बाद से भारतीय व्यापारियों को उन अरब सौदागरों से कड़ी होड़ का सामना करना पड़ा, जो कम से कम अरब सागरीय व्यापार में एकाधिकार जमाए हुए थे। व्यापार के पतन नगरों का पतन हुआ और गतिहीनता की स्थिति आ गई।

अध्याय 4

ग्रामीण व्यवस्था

प्राचीन भारत में ग्राम अर्थात् गाँव भारतीय ग्रामीण अर्थ-तन्त्र का मूलाधार था। यह बुनियादी आर्थिक एवं सामाजिक एकक था। ग्राम का अर्थ था आबाद, परती और गोचर भूमि सहित घरों की एक टोली। मानवों की बस्ती के रूप में गाँव के निम्नलिखित अभिलक्षक अंग हैं:

(1) वास्तु (घरों से आच्छन्न क्षेत्र);
(2) चैत्य (धर्मस्थलीय वृक्ष पुंज);
(3) देवगृह (मन्दिर);
(4) सेतुबन्ध (बाँध और छहर);
(5) श्मशान (मुर्दा जलाने की जगह);
(6) सत्र (भिक्षागृह);
(7) प्रपा (पानी-घर);
(8) पुण्य स्थान (धार्मिक स्थल); और
(9) प्रेक्षा (सार्वजनिक मनोरंजन का भवन)।

कौटिल्य के अनुसार ग्राम की भूमि के निम्नलिखित घटक होते थे :—

(1) कृष्ट (जुती भूमि),
(2, अकृष्ट (अनजुवी परती),
(3) स्थल (ऊँची और सूखी भूमि),
(4) केदार (फसल लगा खेत),
(5) आराम (बाग),
(6) षण्ड (फलोद्यान),
(7) मूलवाप (आदी, हलदी जैसे कंद उपजाने का खेत),
(8) वाट (ईख का खेत),
(9) वन (जंगल),
(10) पथिन (रास्ते की जमीन) और
(11) विवीत (चरागाह)

चरागाह के बाहर अरण्य (अर्थात् अनजुती जमीन) रहता था जिससे ग्राम को ईंधन मिलता था। इस प्रसंग में, बौद्धों का विवरण वैसा ही है जैसा पाणिनि

से प्रकट होता है। ग्राम कई प्रकार के होते थे, जैसे 'गाम', 'गामक', 'द्वारगाम', 'पच्छन्तगाम' आदि। भारत शतशः अलग-अलग और भिन्न-भिन्न भूधृति-समूहों (होल्डिंग-ग्रूपों) में विभाजित था, जिसका क्षेत्रफल कई सौ एकड़ों से कई हजार एकड़ों तक था। बड़ी-बड़ी बस्ती वाले गाँव भी थे। मगध, काशी और विदेह में हजारों गाँव थे। गाँव की बस्ती (well saturated) मैदानों में या नदियों के किनारे रहती थी। आबादी तीस से लेकर एक हजार परिवार तक रहती थी। गाँव केवल भौमिक इकाई (धरती का टुकड़ा) नहीं, बल्कि मूलतः मानवीय इकाई परस्पर निकट सम्पर्क-सूत्र में बंधे मनुष्यों का समवाय होता था। आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताएँ इन्हें एकजुट किए रहती थीं। इसके केन्द्रबिन्दु तो किसान होते थे, पर उनके साथ-साथ इसमें कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मोची, धोबी, भंगी, ग्वाला, नाई और विभिन्न धन्धों वाले अन्यान्य लोग रहते थे जिनकी जरूरत खेतीबाड़ी के विकास में होती थी और इस प्रकार ये गाँव के आर्थिक जीवन को सफलतापूर्वक निभाते थे। नये बसे गाँवों में एक सौ से पाँच सौ तक परिवार होते थे। संहत ग्राम में ऐसी धृतियाँ (होल्डिंग्स) स्थायी कृषि-व्यवस्था के लिए आवश्यक तत्त्व थीं। गाँव के लोग अपनी पारस्परिक रक्षा स्वयं एकजुट होकर करते थे और गाँव इस प्रकार अलग आत्मनिर्भर इकाई बन गया था और राजसत्ता राजस्व के अर्जन के लिए इस इकाई के रूप में गाँव का उपयोग करते थे।

'प्रज्ञापनोपांग' के अनुसार ग्राम वह एस्टेट या मौजा है जो अठारह प्रकार के सर्वेक्षण कर चुका सकता हो। ग्राम का प्रयोग शासकीय अभिलेखों में एस्टेट (भूसम्पदा) के अर्थ में होता था और साहित्यिक लेखों में गाँव या बस्ती के अर्थ में होता था। विजयचन्द्र अपने **'अभिधान राजेन्द्र'** नामक शब्द-कोश में बताते हैं कि ग्राम वह भूसम्पदा है जो अठारह प्रकार के राज-कर चुकाए या जिसकी जमाबन्दी राजस्व के लिए अलग की जाती है। भूसम्पदा रूपी ग्राम के अन्तर्गत आबाद जमीन, परती जमीन, चरागाह, मकान, कुआँ आदि आते थे तथा वह भूखंड आता था जो राजस्व-प्रशासन के वास्ते एक अलग क्षेत्रीय इकाई माना जाता है।

ग्राम-समुदाय प्राचीन भारत के सामाजिक-सह-आर्थिक ढाँचे का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था। हर गाँव की सीमा निर्धारित थी। इसमें भूस्वामी, काश्तकार, दास, कर्मकर तथा कई तरह के अन्य वर्ग के लोग बसते थे। धनी-वर्ग मजदूरों को खेती के काम में खटाते थे। गाँव के अधम स्तर में शोषित वर्गों के लोग रहते थे। इन वर्गों के पास उत्पादन का कोई साधन नहीं रहता था। शिल्पकर्म और कृषि कर्म के संयोजन से ग्रामीय समुदाय के सदस्यों के बीच सेवा-विनिमय की परिपाटी

उदित हुई । अपने आन्तरिक मामलों में ग्रामीण समुदाय स्वतन्त्र था और वह अपनी सुसंहत प्राचीन सामान्य परम्परा को कायम रखे हुए था । दासों, कर्मकरों और सेवकों को राजनैतिक अधिकार नहीं था । ग्रामीण अर्थव्यवस्था का केन्द्र गृह-समूह और परिवार-समूह रूपी ग्राम होता था । बिल्ववन (राजगीर), अंजनवन (साकेत), जेतवन (श्रावस्ती) जैसे उपवन ग्राम की बस्ती की शोभा बढ़ाते थे । गाँवों में फाटक, घेरा, बाड़ा और खेत के रखवार होते थे । गोपालक पशुओं को सँभालते थे । कौटिल्य ने जो ग्राम-निवेश की रूपरेखा दी है, उसमें धार्मिक अध्ययन और साधना के लिए शान्ति कुटीरों (sylain retreat) की भी व्यवस्था थी ।

ग्राम के गठन में राज्य की ओर से सोच-समझकर किए जानेवाले क्रिया-कलाप का भी हाथ था । अन्य राज्य के लोगों को आकर बसने के लिए प्रेरित करके अथवा घनी आबादी वाले इलाके से फाजिल लोगों को निकाल कर राजा नये स्थलों पर या पुराने डीहों पर ग्राम बसा सकता था । ऐसे ग्रामों में प्रति ग्राम कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक पाँच सौ कृषक-परिवार या शूद्र-परिवार होने चाहिए, हरेक की एक क्रोश से दो क्रोशों तक विस्तृत सीमाएँ होनी चाहिए तथा एक दूसरे की रक्षा करने की क्षमता होनी चाहिए । बहुत आगे तेरहवीं शताब्दी में भी दक्षिण भारत में प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि राजा ने प्रयास करके गाँव बसाया । इस गाँव के वासस्थल के लिए पुराने हकदारों से पर्याप्त जमीन खरीदी गई और वह नये वाशिन्दों को हस्तान्तरित की गई । जमीन चरागाह के लिए, नव-वासित परिवारों के निर्वाह के लिए तथा ग्राम के अधिकारियों एवं पँसारियों के पारिश्रमिक के लिए भी दी गई ।

ग्राम एक दूसरे के सम्मुख बसाए जाते थे । पूरब में पड़नेवाले ग्रामों में आबादी अधिक होती थी । ग्राम शान्त, सुव्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण जीवन का आश्रय माने जाते थे । मवेशी को भी ग्राम में सुविधाजनक स्थान मिलता था । बड़े-बड़े ग्रामों का भी उल्लेख है । ग्राम परिवारों का समूह होता था । भारत प्रमुख रूप से ग्रामों का देश है । ग्राम-निवेश में जो बिखराव है, उसका कारण यह बताया जाता है कि देश की विशालता को देखते हुए यहाँ कबीलों और कुलों की संख्या कम है । राजा विदेह के राज्य में सोलह हजार 'ग्राम' थे । वन और गोचर भूमि पर ग्रामीणों का सामान्य अधिकार होता था ।

ग्राम राजनैतिक संगठन का सबसे छोटा एकक भी समझा जाता था । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ग्राम की तीन कोटियाँ की गई हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । कुछ ग्राम कर-मुक्त थे, कुछ ग्राम फौजी जवान देते थे और कुछ ग्राम अनाज, मवेशी, सोना और कच्चे माल के रूप में कर चुकाते थे, कुछ ग्राम कर के

बदले बेगारी करते व गोरस देते थे। हमें ग्राम के निम्नलिखित प्रकारों का भी हवाला मिलता है :—

(1) संयुक्त ग्राम—जहाँ हर जाति और धन्धे के लोग रहते थे;

(2) औद्योगिक ग्राम (कारुग्राम)—ऐसा ग्राम एक-न-एक शिल्प में खासियत पाये रहता था;

(3) ऐसे ग्राम जहाँ ब्राह्मणों (जो खेती भी करते थे)—क्षत्रियों, वैश्यों, चाण्डालों, निषादों, दस्युओं, बटमारों आदि का वास होता था;

(4) अन्त्य ग्राम—सीमा-सरहद के गाँव जो नितान्त खतरनाक और अस्थिर रहते थे;

(5) शिकारी, बढ़ई, लुहार, कुमार, जुलाहे, टोकरी बनाने वाले, मछुए, ग्वाले आदि की बस्ती वाला ग्राम।

श्रम-विशेषीकरण का जो अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त है उसके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग भिन्न-भिन्न ग्रामों में केन्द्रित हुए और समान धन्धे तथा समान जाति के लोग समूहित होते गए।

ग्राम में अनेक सामाजिक स्तर (तबके) थे; जैसे—

(1) विभिन्न हैसियत वाले काश्तकार, किसान खेतिहर और कृषि मजदूर;

(2) शिल्पी, पशुपालक, पराश्रित कृषक, अनुपादी वर्गों के रूप में काम करने वाले।

जीवन और उत्पादन के संगमस्वरूप ग्राम ने अपने सह-अस्तित्व और सहकर्मिता के लिए, रूढ़िमूलक एवं विधिमूलक सिद्धान्तों के आधार पर, नियम-संहिता बनाई। कौटिल्य ने स्वतन्त्र उत्पादकों के बारे में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। ग्राम पूर्ण स्वाश्रित थे और किसानों में सामाजिक भेदभाव और आश्रितता थी। आश्रित काश्तकारों का शोषण भूस्वामी और महाजन करते थे, जबकि स्वतन्त्र किसानों से राजा और अधिकारी लाभान्वित होते थे। यही भारतीय सामन्तवाद का किसी अन्य सामन्तवाद से अन्तर था। यहाँ केन्द्रीय सत्ता ग्राम के आर्थिक और राजनैतिक जीवन के हाथ में रखता था। यद्यपि किसानों को अपने उत्पादन-साधनों पर अपना अधिकार था, तथापि सामूहिक रूप से उनका दोहन होता था। मौर्यों के बाद यह सामूहिक दोहन व्यक्तिगत दोहन के रूप में बदल गया। राजा अपना करग्रहणाधिकार और अन्य परमाधिकार दानग्राहियों को सौंपने लगे। सामाजिक भेदभाव के फलस्वरूप जाति-प्रथा (जो जजमानी सम्बन्ध का मूलाधार बनी) का जन्म हुआ और इससे नई स्थितियों में पड़े ग्राम को कुछ सामाजिक स्थिरता मिली। गाँव के पँसारी कई काश्तकारों से स्थायी रूप से आबद्ध हो गए और उनसे कटनी

में से एक निश्चित अंश अपने मिहनताना के रूप में पाने लगे। व्यवसायमूलक जाति-उपजाति का उद्भव पाँचवीं शताब्दी से होने लगा। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक और तकनीकी प्रगति में ह्रास हुआ। आर्थिक अधिशेष (फाजिल उपज) का भोग परजीवी वर्ग करने लगा और समाज जकड़ गया।

यूनानी लेखकों ने अधिक आबादी वाले गाँवों का उल्लेख नगर के रूप में किया है और उनमें एक स्त्राबो ने पाँच हजार नगर बनाए हैं (जो वास्तव में गाँव थे)। दिओदोरस के अनुसार किसान लोग दिहात में रहते थे और शहर जाने से एकदम परहेज करते थे। धर्मसूत्र में कहा गया है कि धर्मात्मा लोगों को गाँवों में रहना चाहिए जहाँ ईंधन, चारा और पानी आसानी से मिलते हैं। गाँवों में भी बाहरी ख़तरे से बचाव की काफ़ी व्यवस्था थी। आपस्तम्ब और बौधायन ने नगर के जीवन की निन्दा की है। जातकों में गाँव के भद्र जीवन की चर्चा है (3/524)। भास ने भी नगर-जीवन की निन्दा की है। रामायण, महाभारत और पवित्र कुराल (Kural) में भी गाँव की महिमा गाई गई है।

राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गाँवों को भी छोटे-से राजनैतिक संगठन की जरूरत होती है। भारत के प्रशासनिक इतिहास में गाँव का मुखिया बहुत पहले दृष्टिगत होता है। किन्तु जहाँ भूस्वामियों की मंडली में प्रभावशाली वर्ग के लोग रहते थे; वहाँ गाँव के सवालों पर नियन्त्रण श्रेष्ठ जनों की एक परिषद् रखती थी। दो प्रमुख प्रकार के गाँवों में, एक है—व्यक्तिस्वामिक या रैयतवारी गाँव जहाँ ग्राम-प्रमुख उसके कार्यकलाप की देखभाल करता है। इसी प्रकार का गाँव हमें मनु और महाभारत में मिलता है। यह भारत में कृषि-प्रधान गाँव का शायद प्राचीनतम संगठित ढाँचा है। इसके विपरीत ढंग का है वह संयुक्त ग्राम जहाँ की बागडोर ग्राम प्रमुख के हाथ में नहीं, बल्कि एक पंचायत के हाथ में होती है। प्रभावशाली वर्ग बहुत-सारे किसानों को अपने वश में रखते थे। परती जमीन सारे गाँव की संयुक्त सम्पत्ति होती थी।

गाँव का संघटनात्मक ढाँचा किसी खास सामाजिक स्थिति का सहज प्रतिफलन नहीं है, बल्कि यह राज्य की ओर से सोच-समझ कर किए गए आयासों का आंशिक परिणाम है। वैदिक काल में गाँव का प्रमुख ग्रामणी होता था जो राजदरबार का अन्यतम 'रत्निन' होता था। वैश्य इस पद को पाने के लिए लालायित रहते थे। राजा को चुनने में ग्रामणी का भी हाथ होता था। लगता है कि आलोच्य काल में गाँवों में पर्याप्त मात्रा में जनतान्त्रिक जीवन का विकास हुआ और गाँव अपने मसलों का फ़ैसला आप करता था। इसमें धनी और गरीब सबों का योग रहता था। वैदिकोत्तर काल में ग्राम-प्रमुख बड़ा ही

महत्त्वपूर्ण पुरुष हो गया। स्मृतियों से प्रकट होता है कि इसकी नियुक्ति केन्द्रीय शासन द्वारा गाँव के देयों की तहसील के लिए नियमित रूप से की जाती थी। वह शासन का वित्तीय अभिकर्ता होता था। गाँव अपना काम-काज स्वयं करते थे; सभावेदिकाएँ, विश्रामशालाएँ, जलाशय, सड़कें तथा पड़ाव बनाते थे। महिलाएँ भी ऐसे सर्वजनोपयोगी कामों में हाथ बटाती थीं। हर गाँव पर, हर दस गाँवों पर, हर सौ गाँवों पर और हर हजार गाँवों पर एक-एक ग्राम-प्रमुख होता था। ग्राम सभाओं के बन्धेजों को तोड़ने वाले गाँव से निकाल दिए जाते थे। गाँव जीवन में कुछ हद तक सामूहिक जिम्मेवारी की भावना रहती थी।

कौटिल्य ग्राम-प्रमुख की सत्ता को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। ग्राम-प्रमुख को सारे गाँव के प्रतिनिधि के रूप में काम करना है और वह आवश्यकता पड़ने पर ग्रामवासियों से कोई भी सहायता ले सकता है। ग्राम प्रमुख कोई नामों से विदित है,जैसे **'ग्रामिक'**, **'गामिक'**, **'ग्रामकूट'**, **'ग्रामणी'**, **'ग्रामस्वामिन'**, **'करवटिक'**, **'मुलुद'**, (=), गाम-भोजक' आदि इसकी नियुक्ति तो राज्य की ओर से होती थी, पर कभी-कभी यह पद आनुवंशिक रूप से भी भरा जाता था। इसके कर्त्तव्य थे विधि-व्यवस्था, राजकीय पावनों की तहसील, जुरमानों की उगाही, पशुवध के विरुद्ध तथा मद्य की बिक्री के विरुद्ध आदेश जारी करना, विपत्ति के समय जनता की सहायता करना तथा गाँव की उपज और सम्पत्ति पर सामान्य नियन्त्रण रखना। मौर्योत्तर काल में, **'ग्रामेयिक आयुक्त'** (ग्राम-प्रमुख के अधीनस्थ कर्मचारी) ग्राम-स्तर के महत्त्वपूर्ण अधिकारी प्रतीत होते हैं। ग्राम-सभा के नाम थे—**गोष्ठी, निकाय, परिषद, संघ** आदि। गाँव के जीवन में राज्य के क्रियाकलाप भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण थे।

ग्राम-प्रशासन में कई वेतनभोगी कार्मिक **'ग्रामभृतक'** रखे जाते थे जिनमें शामिल हैं **'कुट्टक'** (बढ़ई), **,कर्मार' या अयस्कार** (लोहार), **कुम्हार, नाई, धोबी, खेवक**, (मिट्टी खोदने वाला), 'रज्जुवर्तक' (रस्सी बनाने वाला), हाथी पालने वाला, **'अश्वदमक'** (अश्वशिक्षक) आदि। ग्राम बल (ग्राम-रक्षादल) में भरती **वागुरिकों** (बहेलियों), **शबरों** (भीलों), **पुलिन्दों** (किरात), **चण्डालों, अरण्यचरों** आदि से की जाती थी तथा उसमें गाँव के कई प्रशासन-कार्मिक भी रहते थे। **'मयमत'** और **'मानसार'** में गाँवों का वर्गीकरण उनके आकार और होल्डिंग के आधार पर कई कोटियों में किया गया है। आम तौर से गाँव छोटे-छोटे होते थे। परवर्ती काल में ग्राम-प्रमुख को **'ग्रामाधिपति'** (Country squire) कहा गया है। क्षेमेन्द्र ने एक **'ग्रामादिवीर'** (कायस्थ या गाँव के मुनीम) का बड़ा सुन्दर खाका खींचा है, जो जाली हस्ताक्षर बनाने और अभिलेख में जाली प्रविष्टियाँ दर्ज करने

में पक्का था। कश्मीर में, एक ऊँचे दर्जे का गाँव का अधिकारी 'नियोगी' (राजस्व अधिकारी) कहलाता था। वह गाँव के कायस्थ (लेखाकार) को बहाल और बरखास्त कर सकता था। वह ग्रामवासियों का अपमान करता था और उन्हें डराता-धमकाता था। कश्मीर में 'डामर' गाँव के मालिक होते थे।

'गामभोजक'—पूर्व काल के **'गामभोजक'** की भूमिका प्राचीन भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बहुत प्रमुख रही है। वह काफी धनी-मानी पुरुष होता था और उसकी गलती को राजा से नीचे दर्जे का कोई भी अधिकारी नहीं काट सकता था। उसे अपने क्षेत्र के भीतर पशुवध रोकने की शक्ति रहती थी (जातक, 4/115) वह **'अमच्च'** (अमात्य) कहा गया है और उसे अपने कर्तव्य के पारिश्रमिक के तौर पर एक ग्राम का भोगाधिकार प्राप्त था। यह निर्विवाद रूप से बताना सम्भव नहीं है कि वह राजा द्वारा मनोनीत होता था या ग्रामीण क्षेत्र विशेष से निर्वाचित होता था या वंश परम्परा से पद पाता था। इस बात का कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि वह ग्राम-समुदायक का निर्वाचित प्रतिनिधि होता था। हो सकता है कि वह राजा और कर-भूधारियों के बीच सम्पर्क पदाधिकारी के रूप में कुछ अस्पष्ट और असीमांकित कार्य करता हो। स्पष्टतः वह एकल और अन्तिम न्यायकर्ता होता था। राजकीय फरमान द्वारा राजा की आय उसे प्रदत्त रहती थी तथा फीस, जुरमाना, घूस आदि से जो कुछ प्राप्त होता था, वह सब उसका अपना होता था। वह कभी-कभी आर्थिक सोपान की उच्चतम पंक्ति तक चढ़ जाता था और प्रभाव-शाली ब्राह्मणों एवं सेट्ठियों को मिलाकर **प्लूटोक्रेसी** (धनिकतन्त्र) स्थापित कर लेता था। उसे गाँव के सामुदायिक जीवन से थोड़ा ही सरोकार रहता था। उसे न तो राजा के प्रति कोई उत्तरदायित्व रहता था और न ग्राम-कल्याण के लिए गठित परिषद् के प्रति ही। पूर्वकाल में ग्राम-प्रमुख समुदाय का प्रतिनिधि होता था और राजा की निरंकुशता का स्वस्थ प्रतिरोध करता था। परवर्ती काल में, जब निरंकुश राजतन्त्र का उदय हुआ, **'गाम भोजक'** का रूप बदल कर उसे राजा का अफसर बना दिया गया और अफसरों की पंक्ति में बैठा दिया गया। **'ग्रामिकों'** का स्थान **''गोपों'** और **'स्थानिकों'** से नीचे था। **'ग्रामिक'** और **'भोजक'** नागरिक प्रशासन के दीर्घ ढाँचे में जुड़े हुए थे। 'भोजक' को भूमि पर स्वामित्व नहीं रहता था। वह लोक नायक से ज्यादा एक अधिकारी होता था और उसे ग्रामीण जन-तांत्रिक संरचना से कम ही सरोकार रहता था।

सार्वजनिक भवन या **'शाला'** मानो ग्राम-शरीर का धड़कता-हृदय होता था और कई तरह के काम में आता था। बोधिसत्व अपनी बाल्यावस्था में अपने

खेल के साथियों से चन्दा बटोरता है और मिथिला के पूरबी उपनगरों में शाला बनाता है और उसमें साधारण अभ्यागतों, अनाथों, अतिथि बौद्ध भिक्षुओं व ब्राह्मणों, विदेशी व्यापारियों आदि के लिए अलग-अलग कोठरियाँ देता है। ऐसी शालाएँ रुके विदेशियों की शरण होती थीं। यात्रियों का सराय होती थी और ग्रामवासियों का मनोरंजन केन्द्र होती थी।

ग्रामवासी विविध प्रकार के आर्थिक सूत्रों में भी परस्पर बँधे-गुथे रहते थे और कुछ-कुछ सामहिक खेती का भी आभास मिलता है (जातक 2/109; अशा 2/10)। खेती शुरू होने के पूर्व (सीरपंचमी) के दिन किसानों के साथ राजा भी हल चलाता था। गाँव एक सुसंहत आत्मकेन्द्रित एकक था। राजा गाँव की आर्थिक हस्ती को मान्यता देता था। वशिष्ठ गाँव को एक निकाय कहते हैं और उसपर सामूहिक दंड लगाते हैं (3/4)। कृषि-ग्रामों की अपेक्षा औद्योगिक ग्रामों में बन्धेज और एकता कुछ अधिक नजर आती है। वे 'जेठक' के अधीन संघटित रहते थे। लोहार गाँव, शिकारी गाँव, बढ़ई गाँव, नुनिया गाँव, टोकरी बनाने वालों का गाँव आदि का उल्लेख मिलता है। विविध शिल्पों और धन्धों का खास-खास क्षेत्रों में जमाव होने से विभिन्न जातियों और उपजातियों की मिली-जुली बस्तियों का उदय हुआ। गाँव के कार्यकलाप सामाजिक रूप से होने से व्यक्ति में अनुदारता और तटस्थता के दुर्गुण आने लगे।

ग्राम-समुदाय के सदस्य न केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मामले में, बल्कि अन्यान्य अधिकारों और सुविधाओं के मामले में भी अपने-अपने अधिकार बनाए रहे। भूमि का प्रदान नीच से नीच जातियों के लोगों सहित गाँव के सभी लोगों के सामने किया जाता था। 'महत्तरों' का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है जिनमें लगता है ग्राम-प्रमुख, मुखिया और लेखाकार समाविष्ट थे। ग्राम-प्रमुख काफी धनी होता था। ग्राम-समुदाय पूर्व मध्यकाल में शक्तिशाली संघटन था और इसकी भूमिका दक्षिण भारत के सामाजिक-सह-आर्थिक और राजनैतिक जीवन में बड़े महत्त्व की थी। उत्तर में ग्राम-समुदाय कुछ छोटे-छोटे और कम प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। हर गाँव में एक-एक परिषद् (पंचायत) होती थी जिसमें प्रमुख ग्रामवासी रहते थे। भूमि इसी के जिम्मे रहती थी और यही सभी स्थानीय विवादों का निबटारा करती थी। दक्षिण में गाँव की अधिकार-भूमि में सारे जिले (नाडु) की अधिकार-भूमि भी समा सकती थी। ये समुदाय प्रशासन और रक्षा, किसानों के बीच पारस्परिक सहायता और सिंचाई-साधनों के निर्माण की व्यवस्था स्वयं करते थे। सामन्तवाद का उदय होने पर इनकी स्वायत्तता समाप्त हो गई और नगरों की स्वायत्तता भी कमजोर हो गई। सामन्ताधिपति स्वेच्छाचारी हो गए।

अध्याय 5

भूमि-व्यवस्था

स्वामित्व :

प्राचीन भारत में भूमि के स्वामित्व की स्थिति क्या थी और भूमि-व्यवस्था कैसी थी, इस विषय पर यद्यपि बहुत-सारे शोध हुए हैं, फिर भी आज तक मतभेद ज्यों-के-त्यों हैं। भूमि के स्वामित्व या सामान्यतः भूमि-व्यवस्था के प्रश्न पर हर परस्पर-विरोधी मत की पुष्टि में प्राचीन मूलग्रन्थों से उद्धरण दिए जा सकते हैं और हमें भूमि के व्यक्तिगत, समुदायगत और राजगत स्वामित्व के सिद्धान्तों पर समान रूप से सारभूत सामग्री मिलती है। यहाँ एक बात हमें ध्यान में रखनी है कि हमारे देश के सभी भागों का विकास एक साथ नहीं हुआ है। यहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ एकाकार हुई हैं और विविध इकाइयाँ अलग-अलग रहते फूली-फली हैं। परस्पर विरुद्ध स्रोतों के अध्ययन से हमें मालूम होता है कि इस विशाल देश में स्वामित्व के ये तीनों प्रकार प्रचलित थे, भले ही स्थान-भेद से कुछ-न-कुछ अन्तर रहा हो।

स्वामित्व का अर्थ है स्वत्व (टाइटिल)। भोग (कब्जा) और स्वत्व (टाइलिट) के बीच अन्तर पर याज्ञवल्क्य (2/29) और बृहस्पति (9/2) ने जोर दिया है। स्वामित्व का मूल लक्षण है बिक्री, बन्धक और दान द्वारा हस्तान्तरण का अधिकार। मनु (9/44) के अनुसार जमीन उसकी है जो सबसे पहले उसको तोड़े; जैसे हिरन उसका होता है जो उसे सबसे पहले तीर लगाता है। ढीले-ढाले स्वामित्व की अवधारणा (जैसे 'तेरा' 'मेरा' के व्यवहार में है) ऐतरेय ब्राह्मण में पाई जाती है। 'मिलिन्दपञ्ह' के अनुसार जमीन को उपभोग में लाने वाला ही उसका स्वामी है। व्यक्तिगत स्वामित्व अम्बपाली और विशाखा मिगारमाता के मामले में ध्वनित होता है। मगध का एक ब्राह्मण एक हजार करीष भूमि दान में देता है। जातकों में आया है कि राजगृह में जीवक ने, वैशाली में अम्बपाली ने और श्रावस्ती में अनाथपिण्डक ने आरामदान किया था। जेत के साथ अनाथ-पिण्डक के विवाद में जो न्यायनिर्णय किया गया है, वह व्यक्तिगत स्वामित्व और बिक्री द्वारा हस्तान्तरण का निर्भ्रान्त प्रमाण है।

पालि त्रिपिटकों और जातकों से जो अर्थ-व्यवस्था सामने आती है वह मुख्य रूप से भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व पर आश्रित है और 'गहपति' शब्द का अर्थ भूस्वामी है। 'दिव्यावदान' में स्वतन्त्र किसानों (अपने लिए खेती करने वालों) का उल्लेख है। व्यक्तिगत स्वामियों का भी उल्लेख 'सुत्तनिपात' में है तथा क्षेत्रपतियों की चर्चा स्मृतियों और महाभारत में आई है। व्यक्तियों द्वारा खेत का दान भी भूमि के व्यक्तिगत या निजी स्वामित्व का सूचक है। भूमि की बिक्री के सम्बन्ध में जो विस्तृत नियम हैं, उनसे भी प्रकट होता है कि निजी स्वामित्व को कानूनी मान्यता प्राप्त थी। आपस्तम्ब के अनुसार भूस्वामी उपज में हिस्से की शर्त पर अपनी भूमि पट्टे पर दे सकता है। हर व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। कौटिल्य ने लिखा है कि राजस्व की उगाही के वास्ते निजी जमीनों का ठीक-ठीक हिसाब-किताब रखना तहसीलदारों का कर्तव्य है। किसान के स्वामित्व का भी कई तरह का हवाला मिलता है। पतंजलि ने हल्य भूमि (जोतने लायक खेत, में निजी स्वामित्व का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने साफ-साफ बताया है कि किसी की सीमा को या किसी अन्य सम्पत्ति को अपने कब्जे में कर लेने से भोगाधिकार नहीं प्राप्त हो जाता है (III-16)।

स्मृतिकारों ने बताया है कि किन-किन विधिमान्य साधनों से स्वामित्व प्राप्त होता है। गौतम, मनु और बृहस्पति ने सम्पत्ति के अर्जन (आगम) के पाँच और सात साधन बताए हैं (दाय, क्रय, विभाग, हरण, लब्धि, जय, कुसीद (सूद), श्रम और प्रतिग्रह। स्वत्व (आगम) और भुक्ति (भोग) दोनों स्वामित्व की सिद्धि के लिए आवश्यक हैं। कौटिल्य ने व्यक्तिगत भूस्वामियों की रक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था की है। समृद्ध भूस्वामियों के अलावा, कई तरह के छोटे-छोटे भूखंडों के गरीब स्वामी भी थे। सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा की जाती थी और भूमि को गैरकानूनी ढंग से हड़पने पर भारी जुरमाना किया जाता था। भूस्वामियों के कार्य में विघ्न डालना या हस्तक्षेप करना वर्जित था। दिओदोरस ने जो यह कहा है कि किसी व्यक्ति को निजी तौर पर भूमि का स्वामित्व नहीं मिलता था, वह वास्तविक स्थिति का सूचक नहीं है और धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। नारद स्मृति में कहा गया है कि राजा निजी स्वामित्व का मूलोच्छेद नहीं कर सकता है। राज्य इसकी निगरानी रखता था कि भूमि की बिक्री के नियमों का पालन हो और यदि कोई उल्लंघन पाया जाता था तो उसके लिए दंड दिया जाता था।

पूर्वकालीन पुराभिलेख इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उसवदत नामक एक व्यक्ति ने बौद्ध संघ को दान देने के लिए एक व्यक्ति से जमीन खरीदी। इसने जो सोलह ग्राम दानग्राहियों को दिये, उनमें ग्रामों के केवल राजस्व का प्रदान

लक्षित होता है, ताकि उस राजस्व से धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन निश्चिन्त रूप से होता रहे, न कि स्वामित्व का अन्तरण अथवा बिक्री बन्धक या दान द्वारा निपटारे का अधिकार। निजी हस्तान्तरण का एक पूर्वकालीन उदाहरण मिलता है धर्मनन्दिन् के विषय में, जिसमें एक नासिक-गुहा में रहनेवाले कई संन्यासियों के वस्त्रों के लिए एक खेत का न्यास किया गया था। आगे आकर, निजी स्वामित्व के ढाँचे के भीतर ही एक अभिवृति-पद्धति (टिनेन्सी या काश्तकारी सिस्टम) चल पड़ी। यह भूमि के जमाव (संकेन्द्रण) और बड़ी-बड़ी भूसम्पदाओं के बनने का सहज परिणाम था। व्यक्तिगत स्वामित्व के विधिमूलक उद्भव की झलक जातकों में वर्णित अनुश्रुतियों में मिलती है (I. 153; IV. 262)। अन्यत्र भी लगता है बोधिसत्त्व ने अपने जन्म ग्राम के बाहर एक भूसम्पदा बनाई, जिससे यह प्रकट होता है कि बिक्री, बन्धक या अन्य रीति से भूमि का हस्तान्तरण अज्ञात नहीं था (III. 29) और भूमि में कुछ-न-कुछ प्रवाहिता आ चुकी थी। 'बृहस्पतिस्मृति में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है कि यदि राजा निजी स्वामित्व वाली कोई भूमि उसके स्वामी से छीनकर किसी और को दान कर दे तो उसका यह कार्य अधर्म होगा।

सामुदायिक स्वामित्व का प्रश्न :

भूमि के सामुदायिक स्वामित्व की प्रथा बहुत पुरानी है और लगता है, इस प्रथा का सम्बन्ध उत्तर- कुरूओं से हो। महाभारत से ज्ञात होता है कि वे लोग धर्मनिष्ठ होते थे। वैशम्पायन ने दुष्यन्त की समृद्धि के दिनों के कुरू देश की चर्चा की है। 'दीघनिकाय' (XXXII. 7) के अनुसार वे किसी की भी सम्पत्ति को अपनी नहीं कहते थे, किसी की भी महिला को कुलटा नहीं कहते थे और उनकी धरती बिना प्रयास के फसल देती थी। एक जातक में गाँव की ग्राम सम्पत्ति का निर्देश है (2/109)। 'ग्रामखेत्त' के चारों ओर की चरागाह (व्रज) सारे गाँववालों के सामान्य उपभोग और स्वामित्व में रहती थी। शाक्य और कोलिय लोग अपनी जन-जातीय भूमि को सामूहिक उद्यम के रूप में आबाद करते थे। वास्तविक श्रम तो दास लोग करते थे। भूमि राजकुलों के बीच भी साझेदारी में रखी जाती थी। स्ताबोने भी बताया है कि बहुत से परिवार मिल-जुलकर खेती करते थे और उपज जमा होने पर हर परिवार सालभर के निर्वाह के लायक अपना हिस्सा ले जाता था; फिर भी 'अर्थशास्त्र' से यह लक्षित होता है कि सामुदायिक स्वामित्व धीरे-धीरे घटता गया।

सामुदायिक स्वामित्व की परिभाषा भूमि के ऐसे स्वामित्व के रूप में की जा सकती है जिसमें ग्रामवासियों को विभक्त चाहे अविभक्त किसी भी अधिकार की

भावना नहीं रहती है, सभी जमीन को जोतने-कोड़ने और फसल उगाने में साथ-साथ खटते हैं और उपज सामान्य भंडार में जमा करते हैं। वैदिक साहित्य में सामुदायिक स्वामित्व वाली सम्पत्ति के अर्थ में सामुदायिक सम्पत्ति का कहीं उल्लेख नहीं है और न कहीं सामुदायिक खेती का ही उल्लेख है। सामुदायिक स्वामित्व का अर्थ संयुक्त स्वामित्व लगाना भ्रान्त होगा। सामुदायिक स्वामित्व की प्रथा सम्भवतः गणतन्त्रों में प्रचलित थी। गाँवों में चरागाह ग्राम जमीन होती थी। कौटिल्य और मनु दोनों ने बताया है कि राजा को ग्राम चरागाह के लिए विशेष व्यवस्था करनी चाहिए। मनु और विष्णु ने गोचर भूमि को अविभाज्य कहा है। ग्राम-समुदाय अपना सामुदायिक कर्मानुष्ठान कृषि के अनुपयुक्त परती और चरागाह की जमीन में करता था। नौवीं शताब्दी के एक ग्वालियर के पुरा लेख (एइ० I. 20) में एक ऐसे भूखंड का दान अभिलिखित है जो गाँव का था और इस स्रोत से यह स्पष्ट है कि यहाँ निकायरूपी पुरुष विधिमान्य स्वामी है। सामुदायिक स्वामित्व का अनुवर्तमान अवशेष देश के कुछ भागों में बना रहा। कौटिल्य ने नगर-निवेश के सिलसिले में भूमि के निकाय-गत स्वामित्व का निर्देश किया है (अशा० VII. 11)।

सामुदायिक स्वामित्व की सारी परिकल्पना यूनानी लेखकों द्वारा दिए गए एक हवाले के आधार पर खड़ी की गई है और ऐसा माना जाता है कि यह सामुदायिक स्वामित्व आदिम ग्राम-व्यवस्था का अवशेष है। नियार्कस के अनुसार उत्तर-पश्चिम भारत में बन्धुत्व के आधार पर कई वर्गों के लोग मिल-जुलकर खेती करते थे। होपकिन्स का मत है कि संयुक्त परिवार, जहाँ आज भी आदिकालीन सामुदायिक स्वामित्व का अवशेष देखा जाता है, ऐसे सभी अवशेषों को सम्पुष्ट करता है, पर प्राचीन भारत में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के सिद्धान्त के व्यवहार में आने की गुंजाइश बहुत सीमित है। जातकों से हमें ज्ञात होता है कि 'ग्रामखेत्त' के चतुर्दिक गोचरभूमि की पट्टी तथा साफ न की गई परती व जंगल सारे ग्रामवासियों के सामान्य उपभोग में रहते थे I. 1943; II. 358; III. 130 149; IV. 359; V. 103)। अर्थशास्त्र से सहकारिता की भावना का अस्तित्व तो झलकता है, लेकिन इससे सामुदायिक स्वामित्व का भ्रम नहीं करना चाहिए और अभी हमें जितनी जानकारी है, ऐसा मान बैठना ठीक न होगा कि गाँवों में खेती की जमीन में भी सामुदायिक स्वामित्व था। पश्चिमोत्तर प्रान्त में भी, जहाँ जन-जातीय संयुक्त गाँव होते थे, सामुदायिक स्वामित्व निजी स्वामित्व के साथ-साथ ही जीवित था, भले ही निजी स्वामित्व का रूप कुछ भिन्न रहा हो।

राजगत या राज्यगत स्वामित्व का प्रश्न :

आरम्भ में वकीलों और आचार्यों के एक राजभक्तिवादी सम्प्रदाय ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि प्राचीन भारत में भूमि पर राजा का स्वामित्व था। राजा के स्वामित्व को वैसा ही समझा गया जैसा विश का सामुदायिक स्वत्व। उत्तर वैदिक काल में, जब राजा की शक्ति में वृद्धि हुई, लगता है, राजा ने भूमि पर अपने कुछ परमाधिकार विकसित किए। महाभारत में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राजा ब्राह्मण की सम्पत्ति को छोड़ सभी सम्पत्ति का स्वामी होता है। रामायण में दशरथ का दावा है कि ब्राह्मणी सम्पत्ति को छोड़ सभी सम्पत्ति उनकी है और वे किसी का भी धन छीन सकते हैं। इन सारी बातों ने ऐसी धारणा बना दी कि जनता की सारी भूमि राजा की निजी सम्पदा-जैसी समझी जाने लगी। मेगास्थनीज ने तो यह कहकर इस सिद्धान्त में मानो सुर्खाब के पर लगा दिए कि सारा भारत सम्राट की सम्पत्ति है और इसमें किसी भी प्राइवेट व्यक्ति को भूमि का स्वामी बनने का अधिकार नहीं है। कौटिल्य शक्तिशाली सम्राट्-तन्त्र के समर्थक थे और उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में राज्य के कार्यकलाप पर हावी होने के लिए सम्राट् को प्रोत्साहित किया है। 'दीघनिकाय' (XXVII. 21) में कहा गया है कि राजा निखेत निधि (धरती में गाड़कर जमा किया हुआ धन) और खनिज के आधे अंश का स्वत्वधारी होता है; क्योंकि वह भूमि का रक्षक और स्वामी होता है।

भट्ट स्वामी ने तो राजा को भूमि और जल दोनों का स्वामी घोषित कर दिया। राजा ने परम शक्ति का प्रयोग करके भूमि को राज्यसात् कर लिया (अशा० I. 14)। स्वामित्व सम्बन्धी राजकीय दावे को कभी चुनौती न दी गई, यद्यपि यह सामान्य रूप से मान्य नहीं हुआ। मनु का कहना है कि राजा द्वारा दी गई भूमि हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है। वृहस्पति के अनुसार राजा कुछ खास परि-स्थितियों में ही भूमि को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दिला सकता है, फिर भी ऐसा कदम न्यायोचित स्वत्व को काटने के लिए नहीं उठाया जाना चाहिए। नारद के अनुसार तीन पुरुषों से चली आ रही अचल सम्पत्ति राजा की स्वीकृति के बिना हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है। जब भूमि सम्बन्धी विवाद का समाधान न हो और जब स्वामित्व नष्ट हो जाए तब ऐसी भूमि सम्राट् की हो जाती है। कौटिल्य के अनुसार, किसी भूधृति का नालाम जितनी बार हो, हर बार राजा शुल्क पाने का हकदार होता है।

भूमि के राजगत या राज्यगत स्वामित्व के बारे में साहित्यिक स्रोतों में जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्देश मिलते हैं, वे अक्सर भ्रान्ति पैदा करने वाले और परस्पर

विरुद्ध हैं। स्त्राबो ने कहा है—"सारा देश राजा के स्वामित्व में रहता है और काश्तकार जो इसे जोतता है, वह उपज की चौथाई चुकाने के साथ-साथ लगान चुकाने के पट्टे पर ही।" एरियन ने स्वामित्व के बारे में कोई खास बात नहीं कही है। चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी अभिलेखों में राजगत और निजी दोनों स्वामित्व का उल्लेख है। भट्ट स्वामी के निर्देश से भी राजा के सैद्धान्तिक सर्वोपरि प्रभुत्वाधिकार का ही संकेत मिलता है। मेधातिथि के आधार पर बुहलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजा सारी भूमि का स्वामी होता है। प्रजा अपनी रक्षा के प्रतिफलस्वरूप राजा को कर देती थी। सम्राट् राजकीय भूमि से लगान पाने का हकदार होता था और काश्तकार उसके असामी (केवल धारक) होते थे। जैमिनि अपने 'मीमांसासूत्र' में बताते हैं कि सम्राट् सारी भूमि का दान नहीं कर सकता है; क्योंकि धरती सबों की है। काशी प्रसाद जायसवाल राज्यगत स्वामित्व का एकदम खंडन करते हैं। 'जैमिनिसूत्र' के भाष्यकार शबरस्वामी का कहना है कि धरती पर औरों को भी उतना ही अधिकार है जितना सम्राट् का।

भूमि के राजगत स्वामित्व के बारे में परस्पर-विरुद्ध साक्ष्यों को देखते हुए अब हमें सिक्के के दूसरे पार्श्व पर भी विचार करना है। मौर्यों के शासन में राजकीय शक्ति में जो वृद्धि हुई उससे राजा लोग स्वामिहीन विशाल भूभाग को राजसत्ता के अधीन कर लेने में समर्थ हो गए। साम्राज्य परम्परा के चालू रहने के फलस्वरूप उत्तर और दक्षिण भारत के एकच्छत्र राज्य नवार्जित भूमि के अधिकतर भाग पर अपना प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखने में समर्थ हो गए। राजा के जिम्मे विशाल मात्रा में परती और बंजर भूमि थी। हमें राजा द्वारा किए गए दानों के बहुत सारे अभिलेख (दानपत्र) उपलब्ध हैं जिनमें दानग्राहियों को प्रदत्त भूमि से आनेवाले राजस्व का भोग करने का अधिकार तो दिया गया है, किन्तु वे राजा के परमाधिकार को चुनौती नहीं दे सकते थे। राज्य को अपने नियन्त्रणाधीन ग्रामों के दान की अदला-बदली करने का पूरा हक था। इस पृष्ठभूमि में हम यह मान सकते हैं कि दिओदोरस और स्त्राबो केवल राजकीय भूमि का हवाला देते हैं जो 'अर्थशास्त्र' में भी उल्लिखित है।

कृषि अधीक्षक का काम था राजकीय भूमि में बटाई व्यवस्था पर दासों, मजदूरों, कैदियों आदि से खेती कराना और हमें यह उल्लेख 'महावस्तु' में भी मिलता है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक अभिलेख में किसी गाँव के एक राजकीय क्षेत्र का दान बौद्धों को दिया जाना अभिलिखित है। उसके एक अन्य अभिलेख में राजा के एक ग्राम से एक सौ 'निवर्तन' राजकीय भूमि के दान का उल्लेख है। राजकीय

भूसम्पदा का उल्लेख जातकों में भी है। कब्जाहीन परती पर राज्य का नियन्त्रण तो निर्विवाद है और यही बात चरागाह के बारे में भी है। लकड़ी और हाथी वाले का समुपयोग तो राज्य ही कर सकता था। स्वामिहीन (लावारिस) सम्पत्ति राजा की होती थी और निखात निधि (गड़ी सम्पत्ति) का भी दावेदार राजा होता था। खानों पर राजा का एकाधिकार होता था और इसी तरह नमक पर भी (एइ—VI. 84+; 315; VII. 67-74)। भूमि पर राजा के स्वामित्व का सिद्धान्त प्राचीन भारत में एकदम अज्ञात नहीं था।

यह विषय बड़ा विवादास्पद है और किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना बड़ा कठिन है। एम० एच० गोपाल के अनुसार, यह राजगत स्वामित्व एक तरह का शाश्वत पट्टा था जो एक जिम्मेवारी अदा करने के लिए साल-ब-साल धारित रहता था। वे एफ० डब्लू० टॉमस के इस विचार से सहमत हैं कि राजा उसी हद तक भूमि का मालिक होता था, जहाँ तक वह राजस्व का हकदार था और चूक करने वाले काश्तकारों को उसकी धृति (होल्डिंग) से हटाकर दूसरे काश्तकारों को लाने का अधिकार रखता था। गोपाल मानते हैं कि भूमि-व्यवस्था का मूलाधार था प्रभुसत्ता के अधीन रहते हुए भूमि-धारण। न तो निजी भूमि-सम्पत्ति का सिद्धांत अकाट्य माना जाता था और न राजा के ऐसे अधिकारों के दावे का खंडन किया जाता था। यह धारणा है कि राजा सारी भूमि का स्वामी होता है। इस आधार पर बनी थी कि वह उपज में अंश (राजस्व) पाने का हकदार था। कई क्षेत्रों में राजा को इससे अधिक व्यापक अधिकार की भावना भी लक्षित होती है।

मेधातिथि मनु (VIII. 39) का वैसा ही आशय बताते हैं और मेगास्थनीज, फाहियान और हुएनसांग, लगता है, राजस्वामित्ववाद के प्रचलन के पक्ष में हैं। राजा के अधिकार को व्यापक अर्थ दिया गया। आर० जी० बसाक का मत है कि पूर्वकाल के प्रजागत स्वामित्व से परवर्ती काल के राजगत स्वामित्व की ओर क्रमिक प्रगति हुई है। राजकीय दावे की आवाज 'ब्राह्मणों' और 'पालि त्रिपिटकों' के समय से ही सुनाई देने लगती है तथा 'शान्तिपर्व' और 'अर्थशास्त्र' में तो वह और जोरदार हो जाती है। एन० सी० बनर्जी का विचार है कि छोटे-छोटे राज्यों के दिनों में तो खान और वन किसी की भी सम्पत्ति नहीं थे, किन्तु जब मगध के राजा ने इन राज्यों को जीत लिया, तब वनों पर तथा अन्य स्वामिहीन प्राकृतिक साधनों सहित मध्यवर्ती सभी भूखंडों पर भी विजेता का आधिपत्य हो गया। साम्राज्य की समृद्धि के फलस्वरूप खानों और वनों ने शीघ्र ही राजकीय सम्पत्ति का रूप ले लिया।

कहा जा सकता है कि राजा भूमि के बहुत बड़े हिस्से का पूर्ण स्वामी था और अन्य भूमि का आंशिक रूप से नाम मात्र स्वामी था। स्वतन्त्र भूधारक किसान

भी थे जो पुश्त-दर-पुश्त अपने अधिकार का भोग करते थे, परन्तु ब्रह्मदेय के सिवा और कोई भूमि जो राजा से पाते थे, उन्हें उस भूमि पर सीमित अधिकार रहता था। कौटिल्य के अनुसार गोचर, मैदान और वन व्यक्तिगत स्वामित्व के योग्य नहीं है (अश III. 10) और यही स्थिति उशनस के अनुसार तीर्थस्थानों की भी थी। प्रादेशिक राजतन्त्र का उदय होने पर जनजातीय भूमि राजा की भूमि हो गई। ये ही जमीनें राजकीय खजाने का मुख्य सहारा थीं। हम पूर्व में बता चुके हैं कि परती और स्वामिहीन भूमि राजा की होती थी (अशा-III. 1)। ब्रह्मदेय भूमि करों और जुरमानों से बरी थी। राजा की भूमि में आती थीं कई तरह की प्रक्रिया से राजसात् हो गई बसगीत भूमि और कर्षित भूमि, बंजर या कृषि योग्य परती जो बन्दोबस्त के लिए या बस्ती बसाने के लिए बरामद की गई थी, नमक के केन्द्र और खानें जिनपर सरकार का एकाधिकार था, निखात निधि और पानी। राजा के पास सीधे अपने स्वामित्व में पर्याप्त भूभाग थे जिनमें से वह धर्मार्थ या लोकोपकारार्थ दान करता था।

पटरानी को और राजमाता को भी अपनी अलग भूसम्पदा रहती थीं जिससे वह प्रीतिदान या राजस्व-समनुदान कर सकती थी (लस्तले—IV)। नागनिका का नानाघाट गुहा अभिलेख (ई० पू०- प्रथम शतक), उसवदत का नासिक और कार्ले बौद्ध गुहा अभिलेख (द्वितीय शताब्दी ई०), गौतमीपुत्र शातकर्णि का नासिक और कार्ले बौद्ध गुहा अभिलेख, वशिष्ठपुत्र श्री पुलुमाविका नासिक और कार्ले बौद्ध अभिलेख (द्वितीय शताब्दी ई०), खारवेल्ल की पटरानी का हाथी गुम्फा अभिलेख, सिंहवर्मन का मायिदावोलु अभिलेख (तृतीय शताब्दी ई०), शिवस्कन्द वर्मन का हिरहड्गल्लि अभिलेख (चतुर्थ शताब्दी ई०) तथा दक्षिण भारत के कई अन्य पुराभिलेख राजा द्वारा किए गए दानों का अभिलेख (दानपत्र) हैं। दानग्राही प्रदत्त भूमि के राजस्व का भोग करते थे, किन्तु राजा के परमाधिकार को चुनौती नहीं दे सकते थे। जॉली और शामशास्त्री ने कौटिल्य के '**स्वभूमि**' शब्द का अर्थ राज-भूमि (क्राउन लैंड) या राजकीय अधिक्षेत्र (रॉयल डोमेन) किया है।

भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी इन प्रचलित सिद्धान्तों के साथ-साथ, हमें अविभाज्य स्थावर सम्पत्ति के भी निर्देश मिलते हैं। किसान का स्वामित्व भूधारिता का समरूप या सर्वव्यापी सिद्धान्त नहीं था। भूमि की विभाज्यता के बारे में गौतम, मनु और उसनस बड़े ही मितभाषी हैं, किन्तु परवर्ती स्मृतिकारों ने भूमि को विभाज्य माना है। महाभारत में बटबारे की बुराइयों का निन्दन किया गया है। किसान भूस्वामी पैतृक उत्तराधिकार का भोग करता था, किन्तु उसे हस्तक्षेप करने

के ढीले-ढाले राजकीय उत्तराधिकार के अधीन रहना पड़ता था और ऐसे हस्तक्षेप को वह क्षोभ के साथ ही बरदाश्त करता था।

बुद्ध के समय में, दिहाती अर्थव्यवस्था मुख्यत: भूस्वामियों के ग्राम-समुदाय के ढाँचे पर ही टिकी थी। छोटे-छोटे क्षीयमान खेतों के साथ-साथ यत्र-तत्र कुछ बड़े-बड़े इस्टेट (भूसम्पदाएँ) भी थे। ऐसे उदाहरण मिलते हैं ब्राह्मण काशा भारद्वाज अपने विशाल खेत में पाँच सौ हलों से खेती कर रहे थे और बोधिसत्त्व मगध में एक हजार करीष में खेती करते थे। एक किसान के पास अस्सी करोड़ की सम्पत्ति थी। बड़े-बड़े किसान 'गहपति' कहलाते थे और एक ब्राह्मण गहपति अस्सी करोड़ की सम्पत्ति का मालिक प्रतीत होता है। आर्थिक क्षेत्र में सर्वत्र विषमता छाई हुई थी।

जहाँ उसवदत के दानपत्र में हस्तान्तरण का अधिकार नहीं दिया गया है, वशिष्ठपुत्र के दानपत्र में तीन विलक्षणताएँ हैं :—

(i) गाँव गुहाओं में रहनेवाले भिक्षुओं के स्वामित्व में सौंपा गया है, जिससे कि उन गुहाओं की देखभाल के लिए पर्याप्त लगान मिल सके।

(ii) भिक्षुओं से सम्बद्ध प्रचलित अन्य छूटों के साथ-साथ, इस गाँव को राजा के अधिकारियों और रक्षकों से छूट रहेगी; अर्थात् उसे राजस्व और जुरमाने से तथा नमक पर राजा के एकाधिकार से बरी रखा जाएगा।

(iii) प्रस्तुत दानपत्र को रद्द करके उसके स्थान पर दूसरा दानपत्र जारी करने का राजा का अधिकार स्पष्ट उल्लिखित है।

गौतमीपुत्र शातकर्णि एक गाँव में संन्यासियों को दो सौ निवर्तन माप का एक क्षेत्र प्रदान करता है। इसमें भी ठीक वैसी ही छूटें हैं जैसी ऊपर के दानपत्र में। प्रथम दानपत्र में सारे गाँव का दान किया गया है, किन्तु द्वितीय में केवल एक 'खेत्त' का। गौतमीपुत्र के एक अन्य अभिलेख में बताया गया है कि चूँकि प्रदत्त खेत आबाद की हुई नहीं है, इसलिए इसमें से एक सौ निवर्तन जमीन संन्यासियों को प्रचलित छूटों के साथ दी जाए और इस जमीन को स्पष्टत: राजकीय क्षेत्र (राजकमखेत्त) कहा गया है। सम्भवत: राजकीय भूमि का केवल राजस्व तहसीलने का अधिकार दिया जाता था, लेकिन चूँकि गाँव बिना बस्ती का था और खेत परती था, इसलिए राजा ने उसका एक हिस्सा लाभ और भोग दोनों के पूर्ण अधिकारों के साथ प्रदान किया।

यह केवल राजस्व के अन्तरण का मामला था, जिसपर राजा का अविभक्त एकल अधिकार रहता था। जब समूचे गाँव का (मौजे का) दान होता, तब केवल

राजस्व का हस्तातरण होता था और उसके साथ कृषक और उनके खेत यथापूर्व रहते थे और जब दान मात्र कुछ एकड़ जमीन होता था तब स्वामित्व और भोगाधिकार दोनों का अन्तरण होता था।

राजतन्त्र सम्पत्तिवानों के अधिकारों को सीमित करने की कोशिश में रहता था। राजा निजी भूमि पर कर उगाहता था और स्वभावतः वह भूमि की हालत पर सतर्क दृष्टि रखता था। यदि कोई कृषक बोआई या कटनी के समय खेत की उपेक्षा करता था तो राजा उससे जुरमाना लेता था। कर चुकाने में गफलत करने वालों से भी वह जुरमाना वसूलता था। राजा को निजी स्वामियों की जमीन जब्त करने का अधिकार नहीं था। इधर राज्य भूमि-सम्पत्ति के ऊपर अपना नियन्त्रण रख रहता था और उधर ग्राम-समुदाय भूमि के निजी स्वामित्व को बढ़ने से रोकने की चेष्टा में रहता था, पर वह रुकने वाला नहीं था। ग्राम-समुदाय भूस्वामियों की रक्षा करता था। देश की भूमि का कुछ हिस्सा ही राज्य की भूमि और राजा का स्वीय धन था। राजा के कब्जे की जमीन के भीतर ही राजकीय एस्टेट (जिरात) या 'सीता' होती थी। 'सीता' राजा की भूमि से निकलती थी और 'भोग' निजी भूमि पर लगने वाला कर होता था।

भूमि के स्वामित्व का प्रश्न बड़ा जटिल है और वर्तमान काल में जो जानकारी हमें है, उसके आधार पर अन्तिम रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। मनु और वशिष्ठ के साक्ष्य भूमि के निजी स्वामित्व के पक्ष में हैं और वृहस्पति तथा अग्नि पुराण इस मत के समर्थक हैं। कौटिल्य में भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी जो भी निर्देश मिलते हैं वे किसी खास स्वरूप के सूचक नहीं हैं। जायसवाल ने भट्ट स्वामी की व्याख्या का जो पाठ सामने रखा था, उसे यू० एन० घोषाल ने **'मानसोल्लास'** के आलोक में संशोधित कर दिया है और उन्होंने भूमि पर राजगत स्वामित्व का प्रतिपादन किया है। राजगत स्वामित्व के सिद्धान्त के पक्ष में और विपक्ष में भी समान ही जोरदार साक्ष्य मिलते हैं। कौटिल्य पर पूर्व जर्मनी में हाल में किए गए एक अध्ययन में दो वैज्ञानिक मत प्रतिपादित हैं :—

(i) प्रथम भाग ग्राम-समुदाय पर है। इसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि ग्रामों के और कृषकों के भूमि-स्वत्व भिन्न-भिन्न और सहवर्ती थे; इलाके के अनुसार भी भिन्न-भिन्न थे, जैसे (क) राजकीय मूल भूमि (कोर लैंड), (ख) शासकीय प्रेरणा या सहायता से तोड़ी गई या आबाद की गई भूमि और (ग) राजकीय भूमि (क्राउन लैंड)। कृषि योग्य भूमि परम्परानुसारी ग्राम-समुदायों में खेती के लिए कई टुकड़ों में स्थायी रूप से या कृषकों के व्यक्तिगत उपयोगार्थ विभाजित थी और शेष भूमि सार्वजनिक थी। कृषकों का हस्तान्तरण-अधिकार एकदम सीमित था। बिक्री

पर प्रतिबन्ध और नियन्त्रण था और पूर्ण स्वामित्वाधिकार हस्तान्तरित नहीं होता था। भूमि के सभी स्वत्वधारी ही कतई समान नहीं थे, बल्कि उनकी सामाजिक और कानूनी हैसियत भिन्न-भिन्न थी।

(ii) इस अध्ययन का मत है कि निजी भूमि-सम्पत्ति का अस्तित्व नहीं था। ग्राम ही भूमि के विषय में चरम स्वामी था और सिंचाई-साधनों के विषय में प्रत्यक्ष स्वामी था।

(iii) राजा ने अपने अधिकारियों को भूमि आवंटित की और बाद में उन्होंने उसपर अपना कब्जा जमा लिया और सम्भवतः इसी प्रकार भावी सामन्त प्रथा की नींव पड़ी। राजकीय भूमि यहाँ अखंड जिरात के रूप मे गाँव की जमींन पर फैली दिखाई देती है। सम्भव है कि इससे गाँव और राज्य का सम्बन्ध, जो इधर टूट चुका है, बिगड़ने लगा और एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उद्भव हुआ। राजा का चरम स्वामित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि जजमानी सम्बन्ध प्रत्येक गाँव की स्थिति का नियामक हुआ और जातिप्रथा का असली बीज इसी काल में पनपते नजर आएगा—दास, अन्त्यज और तरह-तरह की जातियाँ। ये निष्कर्ष चरम सिद्धान्त के रूप में घोषित नहीं हैं, बल्कि इस विषय में उक्त शोधकर्त्ताओं के सुझावों के आलोक में और भी अनुसन्धान उपेक्षित है।

परवर्तीकाल की व्यवस्था :

कृषि-भूमि सम्बन्धी अर्थव्यवस्था पर मौर्यकाल में जो राज्य का काबू था वह एक शताब्दी से अधिक टिक न सका और मौर्योत्तर काल में राज्य की पहल का स्थान व्यक्तिगत पहल ने ले लिया। ऐसा माना जाता था कि परती जमीन (अकृष्ट सम्पदा) को शारीरिक श्रम लगाकर तोड़ने से उस जमीन में तोड़ने वाले व्यक्ति का स्वत्व हो जाता है, जैसा कि मनु और **'मिलिन्दपञ्ह'** से प्रकट होता है। **'दिव्याव-दान'** में व्यक्तिगत काश्तकारों का निर्देश मिलता है।

सातवाहन-काल में धार्मिकेतर प्रयोजनों के लिए भूमि की खरीद-बिक्री का कोई अभिलेख नहीं मिलता है और इससे लगता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व का दायरा बहुत कम हो गया था। वणिक आदि अपनी भूमि का हस्तान्तरण केवल धर्मार्थ करते थे। सातवाहन के दानपत्रों से राज्य का स्वामित्व प्रकट होता है। भूमिदान का प्राचीनतम पुरालेखीय साक्ष्य ई० पू० प्रथम शताब्दी का है। प्रशासकीय अधिकारों का उत्सर्ग सबसे पहले द्वितीय शताब्दी ई० में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किया। लगता है, ये दानकर्त्ता प्रदत्त भूमि पर किसी-न-किसी रूप में अपना नियंत्रण रखे हुए थे।

कुषाणों ने भूधृति की 'अक्षयनीवि' प्रणाली शुरू की और यह प्रणाली गुप्तकाल में अधिक प्रचलित हुई। भूमि-व्यवस्था का आंशिक सामन्तीकरण गुप्तकाल में शुरू हुआ, जब शासकों ने आय के लगभग सभी स्रोतों पर अपना नियन्त्रण खो दिया और यहाँ तक कि खानों के राजगत स्वामित्व भी ब्राह्मणों को दे दिया जाता। प्रजा को निर्देश दिया जाता कि वे दानग्राही का हुक्म मानें। प्रवरसेन द्वितीय के दानपत्र में दान का उद्देश्य दानग्राही का भरणपोषण नहीं, बल्कि यह है कि वे राजा का विरोध न करें। फाहियान के अनुसार राजा के परिजन, रक्षक और परिचर वृत्ति (emoluments) पाते थे जिसका स्वरूप अभी तक खूब स्पष्ट नहीं हुआ है। दानों और बटवारों का जो सिलसिला चला उसके परिणाम-स्वरूप भूमि का विखंडन हुआ। मनु और याज्ञवल्क्य ने भूसम्पत्ति के बटवारे का कहीं निर्देश नहीं किया है और इसका उल्लेख सर्वप्रथम नारद और बृहस्पति में मिलता है। ब्राह्मण लोग अपनी भूमि में खेती अस्थायी काश्तकारों से कराते और दानग्राही स्वामी कभी-कभी तो काश्तकारों को बदल भी देते थे।

भूमि अर्थव्यवस्था के ढाँचे में याज्ञवल्क्य ने तीन प्रक्रम रखे हैं—महीपति (राजा), क्षेत्रस्वामी (भूस्वामी) और कर्षक (खेतिहर)। मोटे तौर पर बृहस्पति भी इससे सहमत हैं, जो स्पष्ट कहते हैं कि स्वामी को राजा और वास्तविक कर्षक के बीच का स्थान है। इन्होंने सामन्त प्रथा के उद्भव के लिए एक प्रकार की आर्थिक भित्ति बनाई है। स्थानीय अधिकारी आर्थिक शक्ति हस्तगत करते जा रहे थे। स्वतन्त्र किसानों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। सामन्त लोग प्रजा में अधिकाधिक प्रतिष्ठा जमाते गए और दान करने में भी अपने अधिपतियों से अनुमति लेना उन्हें आवश्यक न रह गया। गुप्तोत्तर काल में मन्दिर और मठ महत्त्वपूर्ण दानग्राही हो गए और इसके दृष्टान्त समकालीन पुरालेखों में पाए जाते हैं। मन्दिरों और मठों की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई और भूमि का भारी हिस्सा इनके हाथ आ गया। ये संस्थाएँ स्वतन्त्रप्राय राजनैतिक केन्द्रों के रूप में विकसित हुईं। ये अपनी खेती अस्थायी किसानों और भूधारियों से करातीं और इन्हें कोई राजस्व नहीं चुकाना पड़ता था। अस्थायी किसान इनकी जमीन पर कृषिदासप्राय या अस्थायी भूधारी के रूप में रहते थे। भारी संख्या में मध्यवर्ती भूस्वामी परदे पर आए जो कर के तहसीलदार का काम करते थे। शासन के अधिकारियों को पारिश्रमिक के रूप में भूमि-राजस्व का हक दे दिया जाता था। इससे प्राचीन भारत की भूमि-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सामन्तीय तत्त्व उद्भूत हुआ।

गुप्तोत्तर और पूर्व मध्यकाल में, बहुत लोग भूमि को सामाजिक थाती समझते थे। राजा प्रकृति के इस मूल्यवान् अवदान को बरबाद करने की छूट किसी

भी भूस्वामी को नहीं दे सकता था। कौटिल्य ने ऐसी सलाह दी है कि जो कोई खेती करने में लापरवाही करे, उससे खेत छीन लिया जाए, और ऐसे दृष्टान्त प्राचीन भारत में अज्ञात नहीं हैं। जब बिगड़ी हुई राजनैतिक स्थिति के कारण व्यापार और जीविका का रास्ता संकुचित हो गया, तब बहुत से लोग फिर भूमि की ओर लौटे और परिणामतः भूमि पर अधिकाधिक बोझ आ गया।

भूमि के चरम स्वामित्व का प्रश्न स्थिति की गहरी बहुविधता के कारण जटिल मालूम पड़ता है। मध्ययुगीन आचार्यों को अनेकविध अधिकार और सम्पत्ति के गुणात्मक भेदों की अवधारणा थी, जैसे राजा का, भूस्वामी का, भूधारी का, कर्षक भूधारी का और बन्धकधारी का भी स्वत्व (वुस्कूओस्ट—XVIII. 481 और आगे)। विज्ञानेश्वर ने 'लौकिक स्वत्ववाद' की स्थापना की, अर्थात् यह सिद्धान्त कि स्वत्व शास्त्रसिद्ध नहीं, लोकसिद्ध वस्तु है। भूमि में नाना प्रकार के स्वत्व हैं। 'उपमितिभाव प्रपंच कथा' के कुछ श्लोकों से प्रकट होता है कि भूमि पर सर्वोपरि अधिकार सर्वोच्च प्रभु में निहित माना जाता था। मध्य युग में आकर भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न स्थिति हो गई। बड़े-बड़े किसान, भूस्वामी शासक उच्च वर्ग की पंक्ति में स्थान पाने की कोशिश करते थे और छोटे-छोटे किसान दमन और कर के बोझ से गरीबी के गर्त में गिरते जा रहे थे। समृद्ध खेतिहर कश्मीर में अमर हो गए। हरदत्त ने गौतमसूत्र' की अपनी व्याख्या में एक ऐसी स्थिति का चित्रण किया है जिसमें एक दुर्बल व्यक्ति किसी बलवान् व्यक्ति के विरुद्ध सम्पत्ति पर अपने स्वत्वाधिकार का दावा डर के कारण करने में असमर्थ है (गौतम 2/35)। यह उस परिस्थिति का सूचक है जिसमें पड़कर किसान अपने अधिकार खोते गए। राजाओं और उच्चवर्गीय शासक भूस्वामियों के बढ़ते हुए दावों से भूमि पर सामुदायिक एवं सामूहिक स्वामित्व का अपहरण होता गया और उसका नामोनिशान मिट गया।

हमारे पास जो साक्ष्य हैं, उनसे प्रकट होता है कि सारी भूमि राज्य की या सम्राट की कभी नहीं थी। देश के विभिन्न भागों में मिले ताम्रपत्रों और शिला-लेखों के साक्ष्य यह बताते हैं कि न केवल राजा, रानियाँ और सामन्ताधिपति, बल्कि जनसामान्य भी भूमि का कई तरह से दान करते थे। राजमाता गोमती बालश्री के पोते ने त्ररश्मि शिखर पर भिक्षुओं को एक ग्राम दान दिया। यह राजकीय भूमि के हस्तान्तरण का एक उदाहरण है; क्योंकि यह गाँव साफ शब्दों में राजकीय सम्पत्ति कहा गया है। राजा की भूमि और जनसामान्य की भूमि में स्पष्ट अन्तर होता था। राज्य सम्पत्ति और निजी सम्पत्ति के बीच भेद सुविदित ही

नहीं था, बल्कि पूर्णतः मान्य और अंगीकृत भी था। सातवीं शताब्दी तक, परती और वसगीत भूमि, जो राज्य की सम्पत्ति थी, बिक्री की प्रचलित रीति के अनुसार (जब सारी औपचारिकताएँ पूरी हो जाती थीं) राज्य द्वारा निजी व्यक्तियों के हाथ उसमें निहित सभी अधिकारों के साथ शाश्वत रूप से, न कि किसी निर्धारित अवधि के लिए, राज्य द्वारा बेची जाती थी, जैसा कि जी० ई० 124 (443-44 ई०) के दामोदरपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है।

एक हाल के अध्ययन (अध्येता **बैरी एम मॉरिसन**, दिल्ली, 1980) से प्रकट होता है कि प्राचीन बंगाल में भूमि-सम्पत्ति के अन्तरण सम्बन्धी दान के चार मुख्य वर्ग हैं :—

(i) प्रथम वर्ग में परती और वासभूमि के छोटे-छोटे भूखंडों की स्थानीय अधिकारियों से एतदर्थ खरीद करके किये गये दान आते हैं। इसमें दान-ग्राही उस भूमि को आबाद करेंगे, ऐसी अपेक्षा रहती है। इस वर्ग के दान-पत्र स्थानीय जिला अधिकारियों के अख्तियार से जारी किए जाते थे और एकमात्र शर्त जो ऐसे दानों पर रहती थी वह '**नीविधर्म या अक्षय-नीवि**' शब्द में व्यक्त है।

(ii) द्वितीय वर्ग है समाज में विविध पद और प्रतिष्ठा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा भूमि खरीदकर धार्मिक संस्थाओं को किए गए दानों का। ऐसे व्यक्तियों में आते हैं—महाराज, जिला अधिकारी (**विषयपति**), नगर-प्रमुख (**नगर-श्रेष्ठिन**), मोसाहेब (**कुलपुत्रक**), जिला व्यापार अधिकारी (**विषयव्यापार**), अभिकर्ता (**साधनिक**), पुरोहित (**ब्राह्मण**), लिपिक (**कायस्थ**), अभिलेख-रक्षक (**पुस्तपाल**), प्रमुखजन (**कुलिक**) और मुखिया (**कुटुम्बिन**)—ये सभी समाज में अपनी प्रतिष्ठा रखते थे। धार्मिक न्यास बनाने के लिए परती की खरीद विभिन्न सामाजिक स्थिति वाले सामान्य लोग भी करते थे।

(iii) तृतीय वर्ग है राजाओं और शासकों द्वारा अधिकतर धार्मिक संस्थाओं और ब्राह्मणों को पुण्यार्थ किए गए दानों का। जो भूमि दान के समय आबाद नहीं रहती थी, वह '**अग्रहार**' के रूप में दान की जाती थी, अर्थात् वह धर्मदान के रूप में सभी करों और अन्य दायित्वों से मुक्त तथा शाश्वत होती थी। शासकों द्वारा जारी किए गए ऐसे कई ताम्रपत्रों से संकेत मिलता है कि दान की सम्पत्ति राजस्व के दायित्व से मुक्त है; लेकिन जो दानपत्र जिला प्रशासन की मुहर से जारी किए गए हैं उनमें राजस्व की छूटवाली बात नहीं है।

(iv) चतुर्थ वर्ग है राजवंशों द्वारा जारी किए गए दानपत्रों (ताम्रपत्रों) का। इसमें दाता वही होता है जो ताम्रपत्र जारी करता है। जब बड़े-बड़े राजवंश स्थापित हुए, तब सभी करों, सेवाओं और अन्य दायित्वों से मुक्त धर्मदास करने की परिपाटी इन राजवंशों के हाथ में केन्द्रित हो गई और यहाँ हमें राजनैतिक प्रशासन के केन्द्रीकरण की प्रवृति की झलक मिलती है। बहुत-से पालवंशीय दानपत्रों में ऐसा उल्लेख है कि दी जानेवाली भूमि राजा की अपनी है और आज तक किसी को हस्तान्तरित नहीं की गई है और इससे यह बात भी निकलती है कि राजपरिवार के लोगों को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार था।

हस्तान्तरण चार प्रकार के हैं—

(क) कुछ में भूमि की खरीद स्थानीय प्रशासन द्वारा प्राधिकृत होती थी (**पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक**);

(ख) कुछ में कई ऊँचे ओहदे वाले अधिकारी शासक से भूमि के **अन्तरण** के लिए अनुरोध करते थे और शासक उसे मंजूर करते थे (**छठी से नौवबीं शताब्दी तक**);

(ग) कुछ में बड़े-बड़े राजवंश राजकीय दान करते थे (**दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक**) और

(घ) कुछ तेरहवीं शताब्दी के कई तरह के दानों के फलस्वरूप हैं।

II

भूमिदान और भूमि सम्बन्धी विधान

हमें विभिन्न स्रोतों से कई प्रकार के भूमिदानों के बारे में जानकारी मिलती है। ये दान (i) ब्राह्मणों को, (ii) बौद्ध संघों को, (iii) राज्य के अधिकारियों को, (iv) राजपरिवार के सदस्यों को, (v) सेना पहुँचाने वाले गाँवों को, (vi) लोकोपकारी संस्थाओं में राजा की ओर से बहाल अधिकारियों को तथा कई तरह के अन्यान्य व्यक्तियों को भी दिए जाते थे। इन दानों के फलस्वरूप ब्राह्मण, बौद्ध संघ और मन्दिर समृद्ध और धनी हो गए। ये दान पुण्यार्जन की कामना से किए जाते थे। ये दान राज्य के अधिकारियों को राज्य के प्रति की गई उनकी सेवा के प्रतिफलस्वरूप भी दिए जाते थे। कौटिल्य के अनुसार, अध्यक्षों

को तथा गुप्तचरों को भी भूमि दान देना चाहिए। 'महावस्तु में सेनापतिग्राम' का उल्लेख है जो सेवा के बदले दिया गया राजकीय दान था। राजपरिवार के सदस्यों को भूमिदान दिया जाना आम बात था। कौटिल्य ने **'आयुधीय'** और **'आतिथ्य'** का उल्लेख किया है। सभी प्रकारों के दान दोनों तरह के पाए जाते हैं—राजकीय दान और निजी दान। दान राजा की प्रसन्नता के प्रतीक रूप में भी दिया जाता था। महिलाएँ भी भूमिदान करती थीं, लेकिन नारद का वचन (विधान) है कि नारी द्वारा किया गया व्यवहार (दान और बिक्री) मान्य नहीं है। राजा की ओर से किए गए दानों की घोषणा अधिकारियों के प्रति की जाती थी, ताकि वे किसी तरह का हस्तक्षेप न करें। भूमिदानों का लेखा-जोखा राज्य रखता था।

बिक्री ग्रामवासियों की उपस्थिति के बिना सम्पन्न नहीं मानी जाती थी। सम्पत्ति के पूरे विवरण और चौहद्दी की घोषणा जनता के सामने की जाती थी। डाक द्वारा बिक्री (नीलाम) का भी पता चलता है। एकान्त में तय किया गया कारबार प्रभावहीन (रद्द) घोषित कर दिया जाता था। बिक्री को रद्द करने के लिए दस दिनों की अवधि निर्धारित थी। अवैध बिक्री रद्द हो जाती थी। महाभारत में विधवाओं को विरासती सम्पत्ति हटाने के अधिकार से वंचित रखा गया है। विष्णु और याज्ञवल्क्य के अनुसार विक्री, बन्धक और दान विधवाएँ नहीं कर सकती हैं। राजा से दान में मिली भूमि को राज्य के अधिकारी बेच नहीं सकते थे। ब्राह्मण भी ब्रह्मदाय भूमि को ब्राह्मणेतर व्यक्ति के हाथ नहीं बेच सकते थे जैसा कि **'अर्थशास्त्र'** से संकेत मिलता है। वैश्य की वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मण के लिए भी भूमि-विक्रय वर्जित था। कर योग्य भूमि ऐसे व्यक्ति के हाथ बेचना वर्जित था जो कर चुकाने से बरी है। मौर्यकाल में भूमि की सभी प्रकार की बिक्री राज्य के अभिलेखों में दर्ज की जाती थी।

भूस्वामी व्यक्ति और सम्राट् के बीच कानूनी सम्बन्ध कैसा था, यह ठीक-ठीक जानना कठिन है। उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों के प्रयुक्त **'ग्रामकाम'** शब्द से सम्राट् के परमाधिकार का संकेत मिलता है। भूमिदानों से भूस्वामियों की सृष्टि हुई और वास्तविक काश्तकारों की स्थिति पिछड़ी और वे पट्टेदार या कृषिदासकल्प हो गए। हमें बौद्धकाल में भूस्वामी किसानों का दर्शन होता है। मौर्यों की अमलदारी में केन्द्रीकरण की ओर झुकाव दिखाई देता है। परस्पर विरुद्ध रिपोर्टों और साक्ष्यों को देखते हुए इस विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है कि भूमि-व्यवस्था के प्रसंग में राजा की कानूनी (स्मृति सम्मत) स्थिति क्या थी और भूमिदान तथा भूमिसम्बन्धी विधान के बारे में भी प्राचीन लेखकों

और स्मृतिकारों में मतभेद है। पुरालेखीय साक्ष्य यद्यपि बहुत हद तक निर्भर योग्य हैं, किन्तु ये भी परस्पर विरोधी हैं। इन अभिलेखों में भूधारियों और उनके ठीक ऊपर के स्वामियों के बीच सम्बन्ध की चर्चा नहीं मिलती है।

भूमि के दानपत्रों में इन विषयों में दानग्राहियों को कुछ शक्तियाँ सौंपी गई हैं। वे काश्तकारों को रख सकते थे और हटा सकते थे। इस बारे में बंगाल अभिलेख महत्त्व के हैं। **बड़ग्राम ताम्रपत्र** में (447-48 ई०) भूमि की बिक्री का उल्लेख है। जमीन खरीदने वाले व्यक्ति सम्बद्ध गाँवों के मुख्य गृहपतियों के पास जाते हैं और चूँकि वे गाँव के कारबार में दिलचस्पी रखते हैं, अतः उनसे निवेदन करते हैं। इससे ऐसे ग्राम-संघटन का संकेत मिलता है जहाँ मुख्य गृहपतियों का बोलबाला रहता था। दामोदरपुर ताम्रपत्र सं० 2 में कहा गया है कि भूमि बेचने का इच्छुक एक ग्रामवासी गाँव के **'महत्तरों'** (प्रधान पुरुषों), **'अष्टकुलाधिकरण'** (आठ विशिष्ट व्यक्तियों), **'ग्रामिकों'** (मुखियों) और **'कुटुम्बियों'** (गृहपतियों) से निवेदन करते हैं। लगता है कि इस तरह के कारोबार के लिए किसी-न-किसी तरह का ग्रामीण संघटन रहा होगा। **धनैद ताम्रपत्र** से भी भूमि के विक्रय के बारे में इसी तरह की जानकारी मिलती है।

धारसेन द्वितीय (571-72) के वल्लभी ताम्रपत्र में **'कर्षक'** और **'महत्तर'** का उल्लेख है। समाचारदेव के **घुघराती ताम्रपत्र** में भूमि की बिक्री के कारबार के बारे में कई बातें अभिलिखित हैं। जिलों या इलाकों में जिलाप्रमुख (**विषय-महत्तर**) और गाँव में अनुभवी पुरूष (**व्यवहारविद**) होते थे जिनका गाँव के क्रिया-कलाप में प्रभाव रहता था। ये ग्रामवासियों का प्रतिनिधित्व करते थे तथा गाँव के साधारण अदालती और फौजदारी मामलों का निपटारा करते थे। इस ताम्र-पत्र में फैसला इस प्रकार लिखा गया है :

> "यह इस ब्राह्मण को दिया जाय, और करणिकों, नयनाग, केशव आदि को जनता के प्रतिनिधि (कुलवरण) मान कर (अर्थात् प्रतिनिधि-मंडल के रूप में गठित करके) ताम्रपत्र द्वारा प्रदान किया गया, जो ताम्रपत्र इस सुप्रतीक्षस्वामी के पास है।"

ग्रामवासी अपना मत अपने प्राधिकृत प्रतिनिधियों द्वारा उपस्थापित करते थे। गाँवों के भूस्वामियों, मुखियों और महत्तरों का उल्लेख कारकराज (821 ई०) के सूरत दानपत्र में भी है, जिन्हें एक भूखंड के दान की सूचना दी गई है। महीपाल भी ब्राह्मण को ग्राम देते समय अपने अधिकारियों और ग्रामवासियों को, जिनमें महत्तर (श्रेष्ठजन) और कुटुम्बी (कर्षक या गृहपति) भी शामिल हैं, इस

बात की सूचना देते हैं; और यही बात मदनपालदेव के दानपत्र में भी उल्लिखित है। तेरहवीं शताब्दी में आकर छूट देने की रीति बहुत अधिक बढ़ गई, जैसा कि संग्रामगुप्त के पनिचोभ ताम्रपत्र में देखा जाता है। तीन अधिकारी, महादानिक, महाश्रेष्ठिदानिक और भूलिदानिक, धर्मस्व या दान सम्बन्धी काम देखते थे। इन धर्मस्वों का स्वरूप उन ग्रामदानों से भिन्न न रहा होगा, जो आर्थिक और प्रशासनिक छूटें पाए हुए थे। पनिचोभ ताम्रपत्र में व्यक्त अधिकारियों की राय बड़ी महत्व की समझी जाती थी, क्योंकि दानपत्र का आरम्भ अधिकारियों की सम्मति से ही होता है—मतमस्तु...... ।

दक्षिण भारत में ग्राम सभा में भूमि का प्रदान अभिलिखित किया जाता था और ग्रामसभा इस कारोबार को पत्थर की दीवार पर खुदवाती थी। ऐसे अभिलेख दक्षिण भारत में खूब मिलते हैं। ऐसे एक अभिलेख में कहा गया है :

"इस महान सभा के सदस्यों की आज्ञा से, जिनमें प्रजा-समितियों के महाजन, उद्यान-समितियों के महाजन, क्षेत्र-समितियों के महाजन, उत्तरी क्षेत्रों के महाजन, भट्ट और अन्यान्य शिष्टजन समाविष्ट हैं, इस वर्ष...तड़ाग-समिति के महाजन...ने एक खान का एक सौ बीस कलंजु वजन का और खानों का आधा अंश...प्राप्त किया।"

उत्कीर्ण अभिलेखों में निर्दिष्ट ग्राम-समिति, नगर-समिति और ऐसी अन्य संस्थाएँ भूमि सम्बन्धी कानून से मतलब रखती हैं, जबकि ग्रामकूट, महत्तर, ग्रामिक, कुटुम्बी, महत्तम, पंचकुल, महेश्वर, अष्टकुलाधिकरण, महागणस्थ आदि का सम्बन्ध ग्रामसभा से है और नगरश्रेष्ठी, प्रथम कुलिक, प्रथम सार्थवाह, प्रथम कायस्थ आदि नगर-सभा से सम्बद्ध हैं।

III

भूमि का सर्वेक्षण और मापन

प्राचीन भारत में किसी-न-किसी प्रकार का भूकरीय सर्वेक्षण (लगानबन्दी मापी) ज्ञात था। पाणिनि ने 'क्षेत्रकार' नामक अधिकारियों का उल्लेख किया है जो सर्वेक्षण और मापन द्वारा कृषि योग्य भूमि को प्लाटों में विभाजित करते थे और उनका रकबा निकालते थे। कौटिल्य ने भूमि के विस्तृत सर्वेक्षण का निर्देश किया है जिसमें प्रजा की उत्पादनक्षमता के पर्याप्त तथ्य निकाले जाते थे और ग्रामों की सीमा और अवस्थिति स्पष्ट रूप से चिह्नित की जाती थी। जुन्नार बौद्ध गुहा अभिलेख से ज्ञात होता है कि दान में दिए जानेवाले क्षेत्र का सीमांकन

किया हुआ है। इस तरह के सीमांकन और चौहद्दी-निर्देश बहुत-सारे उत्कीर्ण लेखों में आए हैं। गाँव की सीमा नदी, पर्वत, वन, गुहा, कृत्रिम संरचना (सीमास्त-म्भादि), मन्दिर, वृक्ष आदि के निर्देश से सूचित की जाती थी और स्मृतिकारों द्वारा बनाए गए नियमों का अच्छी तरह पालन किया जाता था। ये विविध चिह्न सर्वेक्षण कार्य में सहायक होते थे। सीमा या सीमा चिह्न को भंग करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी। कौटिल्य और मनु ने इसके लिए दंड का विधान किया है। सीमा-चिह्न मिटाने का दंड विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और महाभारत में भी विहित किया गया है। मालूम होता है, भूमि-विवाद खूब होते थे, और इनका निपटारा विविध अधिकारी किया करते थे। गाँव का कुल रकबा गाँव का लेखा-जोखा देखकर और गोपों तथा स्थानिकों द्वारा रखे जाने वाले अभिलेख देखकर मालूम किया जाता था। सर्वेक्षण का काम 'राजकम्मिक', 'रज्जुक', 'रज्जुगहक-अमच्च' जैसे अधिकारियों से कराया जाता था, जो खेतों को नापने में व्यस्त दिखाई देते हैं (जातक II. 376)। जातक-कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि राज्य के सर्वेक्षक इसके लिए वस्तुतः सचिन्त रहते थे कि भूमि का मापन ठीक-ठीक हो। अशोक ने रज्जुकों से कहा है कि वे अपने कर्तव्य का पालन आत्म-विश्वास और निर्भीकता, के साथ करें। (शिला-लेख II; स्तम्भ लेख IV और VII)।

भूमि का सर्वेक्षण और मापन निश्चित रूप से ज्ञात और व्यवहृत था। यह काम एक नापने की लग्गी (दण्डक) से किया जाता था, जिसमें नापने की सुविधा के लिए एक रस्सी बाँधी रहती थी। सर्वेक्षक (रज्जुगहक अमच्च) को अपने कर्तव्य के पालन में अवश्य ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा। पाणिनि का 'क्षेत्रकार' कृषि योग्य भूमि को सर्वेक्षण और मापन द्वारा क्षेत्रों में विभाजित और सीमांकित करते थे। मेगास्थनीज के अनुसार, राज्य के बड़े अधिकारी भूमि को मापते थे। जातकों में रैखिक मान 'करीस' और 'रज्जु' का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने लम्बाई की निम्नलिखित मापों का उल्लेख किया है—'कंस' 'अंगुल', 'दंड', 'रज्जु', 'अरत्नि', 'धनुस', 'गोरुत' आदि। उन्होंने मान के रूप में 'परिदेश', 'बाहु', 'वितस्ति', 'छायापुरुष' और योजन का भी उल्लेख किया है।

'रज्जु', 'दंड' और 'निवर्तन' कौटिल्य के बाद भी प्रचलित रहे। अन्य ज्ञात माप हैं 'पाद' (पादावर्त), 'कुलवाप्य', 'नल' (नलिका) आदि। कौटिल्य के अनुसार एक 'निवर्त्तन' तीन रज्जु के बराबर होता है। लम्बाई की यह माप उत्तर और दक्षिण में भी प्रचलित हुई। यह पश्चिमी चालुक्यों में भी प्रचलित थी, किन्तु

पश्चिमी चालुक्य अभिलेखों में एक और माप मिलती है 'राजमान', जिसकी लम्बाई ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। निवर्तन कादम्बों और राष्ट्रकूटों की अमलदारी में तथा हाल तक बिहार में भी (जो स्थानीय बोली में 'नेताना' (नेतन) कहा जाता है) प्रचलित रहा (द्रष्टव्य—एइ X. 102-6; XI. 280; XX. 108)। निवर्तन की लम्बाई-चौड़ाई भिन्न-भिन्न स्थानों और समयों में भिन्न-भिन्न रही हैं।

पश्चिमी चालुक्यों में 'मत्तर' भी प्रचलित था। 'पादावर्त' का व्यवहार गुजरात और सौराष्ट्र में होता था। जमीन के मापन में 'भूमि' भी एक माप थी जिसका प्रयोग शतपथब्राह्मण में तथा प्रवरसेन द्वितीय के अभिलेखों में पाया जाता है। पुरालेखों का 'नल' कौटिल्य की 'नलिका' शब्द का ही संक्षिप्त रूपान्तर है। इसका उल्लेख पंचतन्त्र, भागवत, दामोदरपुर ताम्रपत्र और विजय सेन के बैरकपुर दानपत्र में भी मिलता है। 'हस्त' भी एक माप था, जिसका उल्लेख कौटिल्य, रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख (150-52 ई०) और कई अन्य बंगाल दानपत्रों में मिलता है। माप की इकाई के रूप में 'कुलवाप्य' का पता प्राचीन काल से ही पाया जा सकता है। कालिदास ने इस माप-पद्धति का प्रयोग रघु के वंग-विजय के वर्णन में एक उपमा में किया है (रघुवंश 4/37)। होएर्नले के अनुसार यह उतना भूमि का मान था जितनी में एक कुल्य बीज बोया जाता था। इसका उल्लेख गुप्त अभिलेख में है। 'द्रोणवाप' भी एक माप था (एइ XX. 63)। इस माप की एक और इकाई थी 'हल'। इसका अर्थ किया जाता है उतना रकबा जितना एक हल से या कई हलों से आबाद किया जा सके। एक प्राकृत उत्कीर्ण लेख में एक सौ हजार हल भूमि का दान वर्णित है (एइ–XX. 18) और ऐसा ही विवरण पल्लव अभिलेख में भी पाया जाता है। 'हल' आकार और क्षमता के अनुसार विभिन्न स्थानों में कई तरह का होता था।

राजकीय सर्वेक्षक भूमि के परिशुद्ध मापन के लिए इन माप-इकाइयों का प्रयोग किया करते थे। अणु और परमाणु तक का प्रयोग माप की इकाई के रूप में होता था। यह एक रोचक बात है कि प्राचीन भारत की रैखिक मापों और बेबीलोनिया की मापों के बीच अद्भुत साम्य देखा जाता है। भारत ने लम्बाई-चौड़ाई की अपनी माप-पद्धति विकसित की। 'निवर्तन' का अर्थ है एक अंग्रेजी एकड़, पाँच एकड़, उतना रकबा जो अपनी उपज से एक आदमी का भरण कर सके, या डेढ़ एकड़; और जैन ग्रन्थ का 'नियत्तम' यही है। 'भिक्षुहल' भिक्षुओं की सम्पत्ति का सूचक था। 'कुल' लगभग वही था जो दानपत्रों में 'दोहलिका' कहा गया है।

'दानमयूख' के अनुसार, दाता को चाहिए कि ब्राह्मण को एक ग्राम (मौजा) दे, यदि वह इसमें समर्थ न हो तो कम-से-कम एक 'गोचर्म' के बराबर भूमि दे

(उतनी भूमि जिसपर एक सौ गाय और एक साँड़ सुविधापूर्वक बैठ सके, अथवा जिसकी उपज से एक ब्राह्मण का एक वर्ष तक निर्वाह हो सके)। बौधायन के अनुसार, भूमि का छह निवर्तन के बराबर अंश कर-मुक्त छोड़ देना चाहिए क्योंकि इतना अंश एक परिवार के लिए आवश्यक है। प्राचीन भारत में माप के बहुत सारे प्रकार प्रचलित थे और कई मापों में एक राज्य से दूसरे राज्य में अन्तर था। राज्यों के विभिन्न भागों में कोई मानक इकाई अवश्य रहती होगी। स्त्राबो के अनुसार नगराध्यक्ष (सिटी मैजिस्ट्रेट) हर प्रकार की मापों पर निगरानी रखता था।

IV

भूधृति या काश्तकारी हक

भूस्वामित्व की विभिन्न पद्धतियों के आधार पर ही हम भूधृति (काश्तकारी हक) के ढाँचे के बारे में मोटे तौर पर कुछ कह सकते हैं। इस प्रश्न पर विद्वानों में बड़ा मतद्वैध है और समान विचारधारा के विद्वान भी इस प्रश्न पर एकरूप विचार या दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। मध्यवर्ती भूस्वामियों के एक वर्ग का अस्तित्व निर्विवाद है। मौर्यों की अमलदारी में विविध प्रकार की भूधृति (काश्तकारी हक) मौजूद थी, किन्तु मौर्यों के पतन के बाद, उत्तर से बार-बार हुए हमलों के फलस्वरूप, विजेतागण भूमि को हस्तान्तरण योग्य मान लेने में समर्थ हो गए। चूँकि राज्य को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह का अधिकार था, अतः भूधृति की अनेक पद्धतियों का होना अपरिहार्य था।

ब्रह्मदाय किस्म की भूधृति ऋत्विजों (यज्ञ करानेवालों), आचार्यों (धर्मोपदेश या मन्त्र देनेवालों), पुरोहितों और श्रोत्रियों (वेद के विद्वानों) को दी जाती थी। ऐसी भूधृतियाँ करों और दंडों से मुक्त (अदण्डकरम्) होती थी। कौटिल्य के अनुसार, ब्राह्मण ऐसी भूमि बन्धक या बिक्री द्वारा ब्राह्मण से भिन्न जाति के किसी व्यक्ति के हाथ में नहीं दे सकते थे (अशा० III. 10)। यह सुविधा केवल ब्राह्मण जाति के लिए सीमित थी। पूर्वकालीन पुरालेखों में भी दानग्राही ब्राह्मणों को पूर्ण स्वामित्व के और बिक्री, दान या अन्यथा हस्तान्तरण के अधिकार से वंचित रखा गया है। दानग्राही ब्राह्मणों को 'भोजक' भी कहा गया है जिसका अर्थ है केवल भोग करने वाला। जो काश्तकार पहले से वैसी राजकीय भूमि में खेती करते आ रहे थे, उन्हें बेदखल नहीं किया जाता था। शिवस्कन्द वर्मा के हीरहडगुल्लि उत्कीर्ण लेख में लिखा है कि यह दान आधी उपज पर खटनेवाले कर्षकों और कोली जाति के दासों सहित दिया जाता है।

'**दीघनिकाय**' में ब्रह्मदाय भूमि में किसी तरह की छूट का निर्देश नहीं है। परवर्ती काल में राज्य ने दानग्राहियों के हित में अपनी कई प्रशासनिक सुविधा और अधिकारों का त्याग कर दिया और अधिकारियों को निर्देश दिया था कि ऐसे दानों की सम्पत्ति में हस्तक्षेप न करें। ऐसे दानग्राहियों को कर के रूप में राज्य को कुछ नहीं चुकाना पड़ता था। **ब्रह्मदाय** भूमि खूब उपजाऊ होती थी, पर्याप्त उपज देती थी और हर प्रकार के दायित्व से मुक्त होती थी। एक था ब्रह्मदाय **त्रिभोगधर्म**, जिसका उद्देश्य होता था ब्राह्मण, देवता और राजा तीनों का हित (देवदाय, ब्रह्मदाय और वरीयम)।

ब्राह्मणों को '**अग्रहार**' ग्राम दिया जाता था। महाराज हास्तिन के ताम्रपत्र में अग्रहार एक ब्राह्मण को दान दिया गया है। ऐसे दानों की विशेषता यह थी कि ये '**उद्रंग**' और '**उपरिक**' जैसे करों से मुक्त होते थे, सेना के प्रवेश से मुक्त होते थे तथा लगनेवाले सभी करों और बलियों से मुक्त होते थे। दानग्राही स्वर्णादि पर लगनेवाले राजदेय और कर वसूल करने के हकदार होते थे और दान-ग्राम के भीतर उनकी आज्ञा माननी होती थी। दान स्थायी और अप्रतिसंहरणीय (वापस न होने वाला) होता था (का इ इ—संख्या 22, 29)। वास्तविक व्यवहार में, पाँचवीं शताब्दी से लेकर भूमि का हस्तान्तर होता देखा गया है, भले ही वह दान स्थायी और अप्रतिसंहरणीय घोषित हो।

ब्रह्मदाय और **अग्रहार** के अतिरिक्त भूधृति का द्वितीय प्रकार वह है जो अधिकारियों को दी जाती थी (जैसे अध्यक्ष, लेखाकार, पशुचिकित्सक और दूत), किन्तु इन मामलों में भी भूमि के हस्तान्तरण का अधिकार नहीं रहता था। '**आतिथ्य**' वह भूमि होती थी जो भिक्षागृहों के प्रबन्ध तथा अन्य पुण्यकृत्यों में नियोजित अधिकारियों को दी जाती थी। इसका उल्लेख **ब्रह्मदाय** के साथ मिलता है। आतिथ्य-भूमि का भोग दानग्राही शाश्वत रूप से पुश्त-दर-पुश्त करते थे। '**आयुधीय**' ऐसी भूमि का संकेत देता है जो कर के बदले नियमित रूप से फौजी जवान भेजते रहने की शर्त पर दी जाती थी।

उत्कीर्ण लेखों के स्रोत से ज्ञात भूधृतियों में उल्लेखनीय हैं '**प्रकृत्या धर्म**', '**अक्षयनीवि**', '**अप्रदाक्षयनीवि**', '**भूमिछिद्र**', '**त्रिभोग**' आदि।

(i) **प्रकृत्याधर्म** नामक भूधृति एक प्रकार के प्रजा के स्वामित्व का संकेत करती है और इसका एक उदाहरण राजा धर्मपाल (551 ई०) के दानपत्र (इऐ—XXXIX. 197, 204) में देखा जा सकता है।

(ii) **अक्षयनीवि**—नीविधर्म और अक्षयनीवि लगभग एक ही भूधृतियाँ हैं। नीविधर्म से सूचित होता है कि दान शाश्वत भोग होगा, जबतक सूरज, चाँद और

लारे रहेंगे तब तक। इसके अपहरण की बड़ी निन्दा की गई है। सातवाहन राजाओं ने बौद्ध भिक्षुओं को अक्षयनीवि के रूप में जो दान दिए हैं उनमें करों से छूट तथा नमक की खुदाई आदि कई प्रशासनिक अधिकार दिए गए हैं; किन्तु इस प्रकार की भूधृति वाले भूमि के स्वामी नहीं होते थे। अक्षयनीवि व्यवस्था पर भूमि के दान का अभिप्राय था स्वामित्व के अधिकार के अन्तरण के बिना दानग्राही द्वारा राजस्व का शाश्वत भोग। यह व्यवस्था शकों, सातवाहनों और आभीरों में खूब प्रचलित थी। उत्तर भारत में कुषाण राजाओं और उनके सामन्तों ने अक्षयनीवि भूधृति व्यवस्था के अनुसार दान किए। उसवदत के नासिक बौद्ध गुहा अभिलेख में दो भिन्न-भिन्न वृत्ति संघों के जिम्मे शाश्वत निधियाँ सौंपी गई (ए इ—VIII. 42+), जिनमें से दानग्राही केवल ब्याज का भोग कर सकते थे। अक्षयनीवि व्यवस्था पर आभीरों ने ओदयन्त्रिकों के वृत्ति संघों को कार्षापणों का दान किया था जिससे कि त्रिरश्मि (नासिक पहाड़ी) मठ में रहने वाले रोगी भिक्षुओं की चिकित्सा की जा सके (ए इ—VIII. 89)। अक्षयनीवि मौर्योत्तर काल में खूब चलती थी। दानग्राही को अपनी भूधृति का हस्तान्तरण, बिक्री या भंग करने की शक्ति नहीं रहती थी; यह राज्य में निहित होती थी। यह बात स्कन्दगुप्त के बिहार प्रस्तर स्तम्भ लेख में तथा गुप्तकाल के अन्य उत्कीर्ण लेखों में साफ-साफ उल्लिखित है।

(iii) **अप्रदाक्षयनीविधर्म**—इसकी तुलना अक्षयनीवि प्रणाली से की जा सकती है। इससे अहस्तान्तरणीयता सूचित होती है। इस व्यवस्था के अधीन दी गई भूमि अप्रद (परती जैसे राजस्वरहित) होती थी जो प्रतिज्ञात मूल्य चुका देने के बाद अप्रद से राजस्वप्रद हो जाती थी। इस प्रकार की धृति में स्वामित्व का शाश्वत भोगार्थ अन्तरण होता था (ए इ—XV. 7)।

(iv) **भूमिच्छिद्र**—कौटिल्य ने 'भूमिच्छिद्र विधानम्' कहा है जिससे कृषि के अयोग्य भूमि अभिप्रेत है। इस परिपाटी का मूल वह पद्धति मालूम होता है जिसमें किसी व्यक्ति को पूर्व में न तोड़ी गई परती या जंगल की भूमि तोड़कर खेती योग्य बनाने के लिए, कर की माफी के साथ दी जाती थी। इस तरह की भूधृति का दान दाता अपने या माता-पिता के पुण्य की कामना से करते थे। खोह ताम्रपत्र से यह जानकारी मिलती है कि स्वामित्व दाता को स्थायी रूप से प्रदान किया गया और सम्पत्ति को जब्त करना वर्जित था (का इ इ—III. 138)। यह पद्धति गुप्त राजाओं की अमलदारी में चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक चालू थी। इसमें किसी व्यक्ति को गैर आबाद जमीन को आबाद करने की अनुज्ञा दी जाती थी और वह जमीन कर-मुक्त रहती थी। कृषि योग्य परती जमीन को तोड़ना इसका उद्देश्य

रहता था। यह इस ढंग की भूधृति थी जिससे अछूती, परती और कृषियोग्य भूमि में खेती शुरू होती थी, किन्तु कई मामलों में इसमें स्वामित्व का अन्तरण अनुज्ञात रहता था।

(v) भोगग्राम—जातक में भोगग्रामों का उल्लेख है जो राजकीय अधिकारियों, राजपरिवार के सदस्यों या पुरोहितों को भोगार्थ दिये जाते थे। इस दान की कालावधि तभी तक रहती थी, जबतक दानग्राही राजकीय सेवा में रहते। यह आनुवंशिक नहीं होता था और यह अन्ततः पलटकर राज्य में आ जाता था। इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता है कि यह राजकर से मुक्त होता था। भूमि के राजगत स्वामित्व की बात तथा राजा से आवंटन पाकर उपसामन्तीकरण की बात जातकों में अनदेखी वस्तु है। भूमि के आवंटन को बढ़ावा न देना कौटिल्य की नीति थी। राज्य की ओर से जब परती जमीन में बस्ती बसाई जाती थी तब नई बस्ती वाले विहाती इलाकों में खेत छोटे-छोटे अधिकारियों और ब्राह्मणों के बीच बाँटे जाते थे। अधिकारी लोग ऐसा आवंटन बगैर बिक्री और बन्धक के अधिकार पाते थे। केवल ब्राह्मणों को अपनी भृति पर स्थायी और करमुक्त कब्जा मिलता था। राजा द्वारा ग्रामदान करने के विरुद्ध चेतावनी दी गई है (अ शा V. 3)। समाहर्त्ता ने अपनी राजस्व नामावली में ऐसे गाँवों के नाम नोट किए हैं जो सैनिक सेवा देने के लिए वचनबद्ध हैं। भूमिदान भी जब्त किए जाते थे। यदि ऐसा नहीं होता रहता तो अर्थशास्त्र में इसका निर्देश नहीं रहता।

V

भूमि राजस्व

भूमि का वर्गीकरण :

भूमि-राजस्व के विस्तृत विवेचन से पहले यह बताना ठीक होगा कि प्राचीन भारत में भूमि का वर्गीकरण कैसा था। भूमि के बहुत से प्रकार थे :

1. वस्तु (बसगीत),
2. सीता, उर्वर, सीत्य, कृष्ट, ग्राम्य (उपजाऊ),
3. केदार (आर्द्र भूमि),
4. मैदान,
5. कठिनाई से खेती योग्य भूमि,
6. दलदल,

7. नीची भूमि,
8. जल फेनाहृत भूमि,
9. बारंबार जलमय होनेवाली भूमि,
10. वर्षा से सिंचित भूमि,
11. कुओं के नजदीक की भूमि (मूलवाप),
12. अनुर्वर, ऊषर, अकृष्ट, खिल (ऊसर, परती, बंजर और गैर आबाद भूमि),
13. जंगल, चट्टान, पहाड़ी, पर्वत, ऊबड़खाबड़, मरुभूमि,
14. धँसी और रोड़ों से भरी भूमि,
15. गहरी खाइयाँ,
16. ऊँची या पठार भूमि,
17. सड़क,
18. चारागाह (गोचर, विवीत),
19. बाग-बगीचे (आराम), और
20. खान और खदान (खनि)।

मोटे तौर पर वासयोग्य भूमि, कृषि योग्य भूमि, परती भूमि, गोचर भूमि आदि प्रकार थे। कौटिल्य के अनुसार देश में बहुविध स्थल (प्राकृतिक रचनाएँ) हैं। मिलिन्दपञ्ह के अनुसार, धरती तो वही रहती है चाहे कोई इसपर वांछनीय वस्तुएँ फैलाएँ या नहीं। स्थल में कृष्य और वास्तु दोनों भूमियाँ शामिल हैं। कृष्य खेती के लिए है और वास्तु भवन-स्थल के लिए। महावस्तु में कई प्रकार की कृष्य भूमि का उल्लेख किया गया है जो सबसे अधिक उपयोगी कही गई है; क्योंकि इसी पर सबका जीना निर्भर है। कौटिल्य ने कृष्यभूमि (खेत या क्षेत्र) के महत्त्व का बखान किया है, क्योंकि इसमें हर प्रकार की उपज होती है। सड़कों की भूमिका देश के भीतरी व्यापार और जनपदीय अर्थव्यवस्था में बड़े महत्त्व की थी।

भूमि की उपज का छठा हिस्सा जो राजस्व या राजांश के रूप में दिया जाता था, उससे राजा प्रजा का पालन करते थे, जैसा कि रामायण, महाभारत तथा तत्कालीन अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है। वैदिक काल में 'बलि' दी जाती थी। यह जैसे देवता को चढ़ाई जाती थी वैसे ही राजा (बलिहृत्) को भी। अन्ततः यह मनोपहार या नज़राना (ट्रिब्यूट) के रूप में चुकाया जाने लगा, और कौटिल्य के समय में आकर यह एक विशेष धार्मिक कर हो गया। वैदिक काल में इसकी तहसील 'भाग दुघ' नामक अधिकारी करता था। जातकों के अनुसार राजभाग अलग करके रख दिया जाता था। फसल आँकने (कूतने) की परिपाटी थी। विज्ञजनों

से यह आँकने का काम कराया जाता था। इस छठे अंश के अतिरिक्त, कई अन्य शुल्क भी थे जिनकी दरें स्थान और काल के भेद से भिन्न-भिन्न थीं। कौटिल्य के अनुसार, निम्नलिखित दरें निर्धारित थीं :—

(i) **हस्तप्रवर्तिन:**—जो शारीरिक श्रम से सिंचाई करके खेती करता था, उसे जलकर ('**उदकभाग**') के रूप में उपज का पंचमांश चुकाना पड़ता था।

(ii) **स्कन्ध प्रवर्तिन:**—यदि खेती कन्धे पर पानी ढोकर की जाती थी तो उपज का चतुर्थांश चुकाना पड़ता था।

(iii) **स्रोतोयन्त्र प्रवर्तिन:**—यदि सत ही सिंचाई से खेती की जाती थी तो उपज की एक तिहाई भाग चुकानी पड़ती थी।

(iv) **नदी सरस्त टाककुप घटप्रवर्तिन:**—यदि नदियों, झीलों, पोखरों और कुँओं से निकाले गए पानी से सिंचाई करके खेती की जाती थी तो उपज की तिहाई या चौथाई भाग चुकानी पड़ती थी।

(v) **स्ववीर्योपजीविन:**—जो अपने शारीरिक श्रम से जीविकोपार्जन करते थे उन्हें उत्पादित फसल की तिहाई या चौथाई देनी पड़ती थी।

कृषकों को अनाज की उपज में एक चौथाई और वन की उपज में छठा अंश चुकाना पड़ता था। रूई, मोम, पेड़ के छाल, जलावन, बाँस, मांस, सूखे मांस आदि जैसे पदार्थ में भी छठा अंश चुकाना पड़ता था। षष्ठांश की दर आत्यन्तिक परिस्थितियों में उपज के आधे तक चली जाती थी। मेगास्थनीज ने पाया था कि भारत के लोग राजा को भूमि-कर चुकाते थे और इसके अतिरिक्त राजकीय कोष में अपनी उपज का चतुर्थ अंश भी देते थे। इस विषय में एरियन अस्पष्ट और स्त्राबो भ्रान्त हैं। फाहियान, हुएनत्सांग और इत्सिंग ने इस विषय पर विशेष रूप से कुछ नहीं कहा है।

गौतम कहते हैं कि कृषकों को उपज के दशांश, अष्टमांश या षष्ठांश कर के रूप में चुकाना चाहिए। बौधायन ने षष्ठांश का विधान किया है। वशिष्ठ राजा को देय कर की किसी दर का उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु राजा को सतर्क करते हैं कि वह अपनी प्रजा की सम्पत्ति का अनुचित भोग न करे। विष्णु प्रति वर्ष अन्न के षष्ठांश की अनुशंसा करते हैं। मनु राजा को कृषि-उपज का षष्ठांश लेने की अनुमति देते हैं। नारद षष्ठांश बताते हैं और बृहस्पति कहते हैं कि शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय के धन से षष्ठांश, नवमांश और द्वादशांश लिया जाय तथा ब्राह्मण के धन से द्वादशांश; कात्यायन षष्ठांश की अनुशंसा करते हुए कहते हैं कि भूमि में राजा का स्वामित्व कर के रूप में उपज का षष्ठांश लेने तक ही सीमित है। षष्ठांश का भुगतान होते हुएनत्सांग और इत्सिंग ने भी देखा था।

राजा की भूमि (जिरात) सीताध्यक्ष के जिम्मे रहती थी। वह ग्राम-भृतकों, दैनिक मजदूरों, दासों और बन्दियों से उसमें खेती कराता था। वह ऐसी भूमि पट्टे पर कृषकों को देता था और सब्जी, अनाज और अन्य उपज सीताध्यक्ष को और कभी-कभी अन्य अधिकारियों को भी मुफ्त उपलब्ध कराना ऐसे कर्षकों की जिम्मेवारी होती थी। राजस्व तहसीलने का भार अधिकारियों पर होता था (अर्थात् दस ग्राम पर, सौ ग्राम पर और हजार ग्राम पर एक-एक अधिकारी होते थे)। गोचर, पशु आदि सम्बन्धी कर तथा बेगारी की सुविधा वे उठाते और भोगते थे, जो भूसम्पदा के स्वामी होते थे और उन्हें भी अपने अधिपति को अपनी आय के चौथे से छठे अंश तक चुकाना होता था।

अध्याय 6

प्राचीन भारत में सामन्तवाद

प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था में सामन्तवाद की स्थिति के अध्ययन में कई कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि इनके लिए हमारे पास इंगलैंड या फ्रान्स की तरह कोई निश्चित सैद्धान्तिक प्रतिरूप नहीं है जिसको हम अपनी आलोच्य स्थिति में प्रयुक्त करें। प्राचीन भारत में सामाजिक विकास की सभी अवस्थाएँ एक दूसरी से गुँथी हुई-सी हैं। यहाँ सामन्तवाद की वह यूरोपीय अवधारणा नहीं थी जो किसानों को भूस्वामी-योद्धावर्ग के हित के लिए सामाजिक, आर्थिक और आनुवंशिक रूप से जमीन से बाँधे रखता था और इसलिए हुसैनी ने जो सामान्य निष्कर्ष दिया है कि "दासप्रथा-काल सहित आदिम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से समूचे काल··· में, कृषि-योग्य भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा राजा ने और विशेषतः ब्राह्मणों (पुरोहित वर्ग) ने हथिया लिया था, जिनकी भूमि का जनता को उसके भोलेपन और अन्ध-विश्वासिता से फायदा उठाते हुए काबू में रखने में बड़े महत्त्व की थी", उसे फिर से जाँचने-परखने की आवश्यकता है।

सामन्तवाद के भारतीय स्वरूप को अलग करने वाला एक विशेष पहलू यह है कि इसमें राज्य की भूमिका प्रमुख थी। इसका रूप-रंग यूरोपीय प्रतिरूप से भिन्न था। किसान आदि की गतिशीलता पर प्रतिबन्ध, रुद्धद्वार स्थानीय स्वायत्तता द्वारा निरूपित परिस्थिति के अधीन उनकी परवशता, मध्यवर्ती भूस्वामियों का उदय, और शासक भूस्वामी अभिजात वर्ग—ये सभी सामन्तवाद के सारभूत उपादान थे। सामन्तवाद के बहुत-से तत्त्व, जो सामन्ती प्रवृत्ति के पनपने का संकेत देते थे, मध्य युगों में उदित हुए और ये तत्समय उदीयमान आर्थिक बलों के परिणाम थे। सामन्ती भावना की झलक अमोघ वर्ष के सज्जन ताम्रपत्र में मिलती है। सामन्तवाद का अर्थ था सामाजिक विकास की सामान्य अवधारणा।

मौर्योत्तर-काल में, जब हस्तशिल्पों का उत्पादन दिहात में फैला, ग्राम वस्तुतः एक ऐसी आत्म निर्भर इकाई बन गया था जो बुनियादी पैदाइश खुद करे और तुरत उसकी खपत हो जाए; और इसमें लगा स्वतन्त्र, किन्तु सम्पत्तिहीन शूद्र वर्ग, श्रम दोहन का मुख्य स्रोत था। राज्य के अधिकारियों को वेतन वस्तु रूप में और राजस्व में हिस्से के रूप में दिया जाता था। सेना स्थानीय टुकड़ों (गुल्मों) में

बिखेर दी गई थी। श्रमिकों और शिल्पियों से कर नकद नहीं लेकर राज्य के वास्ते श्रम अर्थात् Corvee (बेगार) के रूप में लिया जाता था। न्याय-व्यवस्था में स्थानीय वृत्ति संघीय रूढ़ियाँ अपनाई गई। राजनैतिक क्षेत्र में जब ब्राह्मणों के उत्कर्ष का उदय हुआ, राज्य में धर्म एक बहुत बड़ा अनुलग्न हो गया। मनु कहते हैं कि वैश्यों और शूद्रों को नियमतः उत्पादन कार्यों में आबद्ध रहना चाहिए। उत्पादन में वृद्धि होने पर भी जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन घटा, और शिल्पियों का उपभोक्ताओं से सम्बन्ध प्रत्यक्ष और स्थानीय हो गया। मौर्यों के बाद सातवाहनों ने उत्तर भारत से ब्राह्मणों को ला-लाकर जनजाति के लोगों को सामान्य समाज में आमेलित करने की प्रक्रिया को जारी रखा। ग्राम-अर्थ व्यवस्था की कमर तोड़ने वाला प्रथम प्रत्यक्ष कदम था करों में भारी वृद्धि; और अधिकांश भूमि सामन्तों की सम्पदा में अन्तहित हो गई—यह नीचे से आनेवाली सामन्तीकरण-प्रक्रिया थी, जब कि पूर्वकाल में यह प्रक्रिया ऊपर से चली थी। इस समृद्धि-संचयन से उत्पादन और विनिमय का भी स्वरूप बदला—सामन्तीय प्रभु व्यापारियों के लिए एक आवश्यक अंग हो गए। मनु ने जो वैश्य और शूद्र (शुद्ध-शुद्ध दास नहीं) को उत्पादन का कर्त्तव्य सौंपा है, इससे प्रकट होता है कि फाजिल उत्पादन में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण हाथ था। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जब राजा लोग भूमि के कर सम्बन्धी और प्रशासनिक अधिकार अपने-अपने अधीनस्थ सामन्तों को सौंपने लगे और इस प्रकार सामन्त किसान वर्ग के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए (ऊपर से आने वाला सामन्तवाद)। इससे ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का ढाँचा बिगड़ गया। बाद में गाँव के भीतर राज्य और किसान वर्ग के बीच जमींदारों का एक वर्ग विकसित हुआ और उसने स्थानीय जनता पर अपनी सशस्त्र शक्ति जमाई (नीचे से आनेवाला सामन्तवाद)।

ये जमींदार लोग 'राजा', 'राजानक', 'अमात्य', 'राजन्यक', 'सामन्त', 'मौल', 'गण', 'गणराय', 'भोज', 'कुलपुत्र', 'क्षत्रिय' आदि नामों से विदित हुए। प्राणनाथ के अनुसार उत्कीर्ण लेखों के 'राजानक', लिच्छवियों के 'राजन्' और कौटिल्य के 'सामन्त' एक ही वर्ग के लोगों के सूचक हैं। इन सामन्तों के सैनिक लोभवश दूसरों के देशों और सम्पदाओं पर हमला करते थे और प्रजा उनसे आतंकित रहती थी। वे कृषि, व्यापार और उद्योग के विकास में भारी बाधक होते थे। लोग गाँव से भागकर जंगलों में चले जाते थे। एक प्रबल राजा को यह सही सलाह दी गई थी कि वे उन सामन्तों से बचें और उन्हें दबाकर कृषक वर्ग में मिला दें। प्राणनाथ की राय कौटिल्य के सामन्त सीधे भूमिधारी वर्ग थे और वे शान्त एवं राजभक्त जमींदार थे। राज्य के महत्त्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति

इसी वर्ग से की जाती थी। राजा के साथ इन सामन्तों का सम्बन्ध आपसी करारों पर तय रहता था और ये करार अलग-अलग मामलों में अलग-अलग तरह के होते थे। सामन्त निम्नलिखित तरह के करार कर सकते थे :—

(i) जब कभी आदेश हो, निर्धारित संख्या में फौजी जवान देना ;

(ii) अपनी सेना से एक सेनापति देना तथा अपने एक उत्तराधिकारी को बन्धक के रूप में राजा के जिम्मे सौंपना;

(iii) जब कभी आदेश हो, अपनी सेना के साथ उस राजा के शत्रु देश पर चढ़ाई करना;

(iv) निष्ठा (राजभक्ति) की प्रतिभूति के लिए अपने परिवार की नारियाँ और जमींदारी के प्रतिष्ठित पुरुष बन्धक के रूप में राजा के जिम्मे करना;

(v) प्रति वर्ष एक निर्धारित रकम चुकाना;

(vi) अपनी भूमि की सारी उपज या उससे भी ज्यादा अनाज देना।

कौटिल्य सभी शक्तिशाली पुरुषों को दबाने और उनकी सम्पत्ति को सीधे राजा के नियन्त्रण में कर लेने के पक्ष में थे। वे नगर के अभिजात वर्गों और गाँव के भूधारी वर्गों की ओर से किसी भी स्वतन्त्रता के दावे के एकदम विरुद्ध थे।

मौर्योत्तर-काल में धार्मिक और धार्मिकेतर दान उत्तरोत्तर अधिक प्रचलित होता गया और फलस्वरूप मध्यवर्त्ती भूधारियों का उदय हुआ। पूर्व में वह दान अस्थायी होता था, पर बाद में वह आनुवंशिक रूप धारण करता गया। आरम्भ में दान केवल भूमि के इस्तेमाल के अधिकार को प्रभावित करता था, किसानों के ऊपर अधिकार उससे प्रभावित नहीं होता था। निजी भूस्वामियों के आनुवंशिक अधिकारों की खाई के भरने से उन्हें केन्द्रीय प्रशासन से बहुत कुछ स्वतन्त्रता मिल गई। राजा से कुछ विशेषाधिकार, तथाकथित छूट के अधिकार, मिले, और इन नये स्वामियों ने भूमि पर कई प्रशासनिक अधिकार और कार्य हासिल कर लिए। इन्होंने कुछ विधिसम्बन्धी कार्य करना भी शुरू किया। राजा ने इनकी भूमि में राजकीय अधिकारियों को प्रवेश देने की बाध्यता से इन्हें मुक्त कर दिया। भूस्वामी सामन्त अपने क्षेत्र में न्याय करने के लिए भी सक्षम हो गए। किसान वर्ग अपने मालिकों पर अधिकाधिक निर्भर होता गया। सामन्त लोग स्थानीय अधिशासक (गवर्नर या सूबेदार) के रूप में काम करने लगे; की गई सेवाओं के लिए अपने सेवकों को राजा की मंजूरी के बिना ही, अपनी भूमि के हिस्से देने लगे।

ऐसे अधिकारों का प्राचीनतम निर्देश दूसरी शताब्दी ई० के एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है और यह सिलसिला अभ्रान्त रूप से इस बात का संकेत

करता है कि सामन्तवाद का यह क्रम केवल उत्तर में ही नहीं, दक्षिण में भी था। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने बौद्ध भिक्षुओं को भूमि का दान दिया और ग्राम-समुदाय को उसकी भूमि में राजा की सेना की उपस्थिति से तथा राज्य के अधिकारियों के हस्तक्षेप से उन्मुक्त किया। यह प्रथा ईशा की पाँचवीं शताब्दी के बाद व्यापक हो गई। जब राजाओं ने निजी स्वामित्व वाली भूमि के सम्बन्ध में करग्रहण, प्रशासन और विधि सम्बन्धी लगभग सभी कार्य खुद उस भूमि के स्वामी को सौंपना शुरू किया, तब खान के अधिकार भी हस्तान्तरित हो गए। इस प्रथा ने अस्थायी जमींदारों की हैसियत को भी आनुवंशिक सामन्त प्रभुओं की हैसियत के करीब पहुँचा दिया और किसान-वर्ग उनके प्रभुत्व में आ गया। खेतिहर किसान, अक्सर उत्पादन के साधनों से सर्वथा हीन होकर, पूर्णतः अपने मालिक पर आश्रित हो गए। ऐसे दानों में कर वसूलने का अधिकार भी हस्तान्तरित हुआ और दानग्राही भूमि सम्बन्धी अपने अधिकारों को बढ़ाने की कोशिश करते रहे।

परवर्ती भूमिदानों में भूमि का हस्तान्तरण उस भूमि में खटनेवाले आदमियों के साथ-साथ होता था। ऐसे दान का प्राचीनतम अभिलेख हैं तीसरी शताब्दी ई० का पल्लव उत्कीर्ण लेख, इसमें कहा गया है कि भूमि का अन्तरण होने पर भी बटाईदार उस भूमि पर यथावत् बना रहेगा और ऐसे बटाईदारों की हैसियत कृषिदास जैसी हो गई। दूसरा है पाँचवीं शताब्दी ई० का वाकाटक अभिलेख, जिसमें कहा गया है कि दान की भूमि के कर्षकगण नए भूस्वामी को सौंपे जाते हैं। किसान और शिल्पी भूमि से जोड़ दिए गए। इस प्रथा के दायरे में स्वतन्त्र किसान भी आ गए। बादामी के पूर्वकालीन चालुक्य राजा के एक छठी शताब्दी दानपत्र में भूमि का दान किसानों के रहने के घर के साथ किया गया है। गुजरात, उड़ीसा, मध्यप्रदेश में यह प्रथा छठी शताब्दी ई० में शुरू हुई। लगभग आठवीं शताब्दी में आकर लगता है यह पूर्ण प्रचलित हो गई और इसकी पुष्टि 732 ई० के चीनी विवरण से होती है। कर्णाटक-पुराभिलेखों से ज्ञात होता है कि भूमि और ग्रामों का दान अक्सर कर्षकों और शिल्पियों के अन्तरण के साथ होता था।

भारतीय सामन्तवाद का आर्थिक सार यह है कि इसमें मध्यवर्ती भूस्वामियों (जमींदारों) का उद्भव हुआ, किसानों की गतिशीलता (मोबिलिटी) और स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा, बेगारी बढ़ी, पट्टे-दरपट्टे के चलते किसानों पर कर का दुर्वह भार पड़ा और इन कारणों से किसान वर्ग कृषिदास-सा हो गया। किसानों की गतिशीलता और स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने की प्रवृत्ति साफ झलकती है। गुप्तकाल से ही किसानों पर फाजिल कर का बोध लदता गया। किसान और

अन्य उत्पादक-वर्ग धरती से जकड़ दिए गए और उनसे मुफ्त काम या बेगारी ली जाने लगी। गतिशीलता पर अंकुश लग जाने से किसान लोग मानो कृषिदास हो गए। भारत में सामन्तवाद के लक्षण किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाए जाते हैं, जैसे कृषिदास-प्रथा, आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयाँ, शिल्प एवं वाणिज्य का सामन्तीकरण, व्यापार तथा नगरीकरण में ह्रास आदि। भारतीय सामन्तवाद का सबसे मार्मिक तत्त्व है किसान-वर्ग का मध्यवर्ती भूस्वामियों पर आश्रित हो जाना। सामन्तवाद का कारण माना जाता है राज्य द्वारा अपने अधिकारियों को वेतन के बदले जागीर दिया जाना और जागीरदारों द्वारा किसान-वर्ग पर आधिपत्य स्थापन।

यह मानना गलत होगा कि जब एक अवस्था का अन्त हुआ तब दूसरी अवस्था शुरू हुई। सिद्धान्त के आधार पर कल्पित कोई भी ढाँचा भारतीय परिस्थिति में बैठ नहीं सकता है। यदि भूमिदान को सामन्तीय प्रवृत्ति का आरम्भिक मानें, तब तो यह प्रवृत्ति ब्राह्मण, बौद्ध साहित्य और अर्थशास्त्र के काल से ही माननी होगी, क्योंकि इनमें भूमिदान के पुण्य का उल्लेख हमें मिलता है। धार्मिकेतर दान बहुत ही विरल और अल्प पाए जाते हैं। अधिकांश दान भूमि में निजी अधिकार सृजित करने वाले हैं और इस प्रकार पैदा हुए मध्यवर्ती भूस्वामी कृषि अर्थव्यवस्था में उन्नति करते गए। कौटिल्य ने ऋत्विकों (यज्ञ कराने वालों), पुरोहितों (ब्राह्मणों) और श्रोत्रियों (विद्वानों) आदि को कर-मुक्त भूमि दान देने की अनुशंसा की है (अ शा-II-2)। ब्रह्मदाय और आयुधीय भूमि का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। कौन-कौन गाँव कर-मुक्त हैं और कौन-कौन सेना प्रदान करनेवाले हैं, इसका विवरण तैयार करना तहसीलदारों (समाहर्ताओं) का कर्तव्य था। सैनिक अधिकारियों को जागीर मिलती थी।

यदि सैनिक व्यवस्था के आधार पर सृजित भूधृतियाँ सामन्तवाद का मूल लक्षण माना जाए तो इसका आरम्भ हमें यहीं मिलता है जहाँ दासवर्ग उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। सामन्तवाद का जैसा अर्थ पश्चिम में माना जाता है, ठीक वैसा ही अर्थ यहाँ नहीं है, लेकिन रूस, पश्चिम जर्मनी आदि जैसे समाजवादी देशों के विद्वान् हाल में कौटिल्य में इसका आरम्भ ढूँढ़ने लगे हैं। समाज का विकास विभिन्न प्रक्रमों में हुआ होगा, जहाँ सामन्तवाद के कुछ तत्त्व अवश्य आए होंगे, किन्तु आरम्भ में उन तत्त्वों का कोई लक्षणीय प्रभाव नहीं रहा है। कौटिल्य का अध्ययन आज भी विदेशी विद्वान् अपनी पूर्वगृहीत धारणाओं के साथ कर रहे हैं और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों (भावधाराओं) के विद्वानों ने कौटिल्य की

व्याख्या अपने-अपने मतों के आलोक में की है। कौटिल्य के विचारों का अध्ययन, उस युग की पृष्ठभूमि, में जिसमें वे हुए थे, अभी नहीं हो पाया है और सामन्त से उनका क्या अभिप्राय था, उसका और भी स्पष्टीकरण तथा वैज्ञानिक निर्वचन करना वांछनीय है।

अन्तोनोवा ने सामन्तवाद के उन सारभूत लक्षणों का विवेचन किया है जिनमें भूमि के बारे में एक नए ढंग का उत्पादन-सम्बन्ध विकसित हुआ। वे लक्षण हैं :

(i) भूमि पर राजा का सैद्धान्तिक स्वामित्व,
(ii) भूमि पर अधिपतियों का प्रत्यक्ष स्वामित्व,
(iii) राजकुमारों, पुरोहितों और योद्धाओं द्वारा कर-मुक्त भूमि का भोग,
(iv) उपसामन्तीकरण,
(v) उच्च वर्गों को आर्थिक छूटों का प्रदान,
(vi) अधिन्यसन या सुपुर्दगी (कमेन्डेशन), और
(vii) दमनात्मक कर।

कोसाम्बी का मत है कि इतिहास में जो भी सामन्तवाद ज्ञात हैं, उनका आधार आदिम शिल्प-उत्पादन और विशेष प्रकार का भूमिस्वामित्व है। राजस्व के हस्तान्तरण और पुलिस एवं प्रशासन सम्बन्धी कृत्यों के अध्यर्पण (सरेंडर) से सामन्तवाद को पनपने में मदद मिली। राजादेश जारी हुए कि स्वत्वधारियों को कोई विघ्न न किया जाए। फलतः दानग्राही अपनी सुविधा-सम्पदा को स्वीय कोष्ठ (स्वतन्त्र पाकेट) बना बैठे। कर्षकों को आदेश मिला कि वे दानग्राहियों की आज्ञा का पालन करें। प्रशासन का सामन्तीकरण हुआ—प्रदेशों में सामन्तों का स्थानीय प्रशासन और राजधानी में सम्राट् का स्थानीय प्रशासन। पुण्ड्रवर्धन-भुक्ति में अधिशासकों (दत्तकरणों) की चार पीढ़ियों और मध्यदेश के एक परिवार में पदधारियों की पाँच पीढ़ियों के दृष्टान्त पाए जाते हैं। कभी-कभी तो विषय (जिला या परगना) का शासन भी सामन्तों द्वारा होते देखा गया है।

सामन्तवाद के आने पर प्रशासनिक कार्यकलाप जातिगत हो गया, लेकिन प्रारम्भिक उत्पादक-वर्ग अधिक जोर-जबरदस्ती के बिना ही अपना काम करता रहा। सामन्ती अर्थव्यवस्था ने जातीय वर्जना का एक ऐसा घेरा बनाया जिसके भीतर हरेक सामाजिक-सह-आर्थिक समूह के निहित स्वार्थ सुरक्षित रहे, यद्यपि राजा सभी वर्णों और आश्रमों का नियन्ता था, तथापि अभिजात वर्ग जो अपने नेतृत्व का दावा रखते थे, उसकी वास्तविकता सिद्ध करने के लिए हाथ में

भू-सम्पत्ति का होना आवश्यक था, क्योंकि वर्ण और भूमि ये ही दो वस्तुएँ अभिजात वर्ग को समाज के अन्य वर्गों से पृथक् सिद्ध करती थीं। ब्राह्मण राज्य का एक आवश्यक अंग था; क्योंकि वे हिंसात्मक गतिविधि को शान्त कर सकते थे। वे कृषकोपयोगी पंचांग, बीज, फसल और पशु लक्षण जानते थे, दूर के बाजारों और फसल के मूल्यों की जानकारी रखते थे, जो विनिमय के लिए उपयोगी था। अपने इन गुणों के कारण गैर-आबाद भूमि को आबाद करने में वे अग्रणी होते थे। वे नए क्षेत्रों में खेती के विस्तार में प्रेरक होते थे। उनके विनयोपदेश से प्रशासन के खर्च में कमी आती थी। अपनी अभिज्ञता के कारण उनकी सर्वत्र माँग थी।

लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, कर्मकर आदि व्यवसायी भी अपनी सेवा के बदले भूमि पाते थे। अधिकारियों को मिले ऐसे दानों से सामन्तवाद के उपयुक्त परिस्थिति बनने में मदद पहुँची। दानपत्रों का स्थान और काल के भेद से न बदलनेवाला एक स्थिर स्वरूप होता था और अधिकांश दानपत्र आज भी अव्याख्येय हैं। हर्ष ने राजकीय भूमि की एक चौथाई अपने अधिकारियों के लिए रखी थी। हुएनत्सांग का साक्ष्य असन्दिग्ध है और उससे सामन्ती प्रवृत्ति के उदय का स्पष्ट आभास मिलता है (इस बात की पुष्टि बाणभट्ट से भी होती है)।

सातवाहन दानपत्रों में न्याय और विधिव्यवस्था के अधिकार भी शामिल हैं। बुद्धघोष के अनुसार ब्रह्मदेय में न्याय और प्रशासन के अधिकार निहित हैं। गुप्तोत्तर-काल में जब व्यापार और मुद्रामूलक अर्थव्यवस्था में ह्रास हुआ, तब गाँव आर्थिक जीवन के केन्द्र के रूप में विकसित हो गए। राज्य ने अपना कार्य-कलाप मध्यवर्ती भूस्वामियों को सौंप दिया और अर्थव्यवस्था का अर्ध-सामन्तीय स्वरूप निखर आया। हमले, युद्ध, प्रव्रजन तथा शत्रु से बचाव एवं कृषि-भूमि की रक्षा के लिए आवश्यकताओं में वृद्धि—ये सारी बातें गुप्तोत्तर काल में सामन्तीकरण की प्रक्रिया में मदद पहुँचाने वाली हुईं। भूमि-दानों से ब्राह्मणों का आधिपत्य स्थापित हुआ और राजा से विशेष सम्पर्क में रहते हुए उन्होंने सामन्तवाद की एक आवश्यक शर्त को पूरा किया। प्रबल केन्द्रीय सत्ता के अभाव में स्थानीय अधिकारियों को सुविधाएँ उदारतापूर्वक मिलने लगीं और इससे सामन्ती अभिजात वर्ग अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी सत्ता सुदृढ़ करने में समर्थ हो गए। फिर सामन्तवाद को उत्थान-शक्ति भौगोलिक कारणों से प्राप्त होती गई।

छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में सामन्ती प्रवृत्तियाँ उड़ीसा में दिखाई देने लगीं। इसके प्रमाण हैं सोरो में प्राप्त तीन उत्कीर्णलिख जिनमें अधिकारियों को उनके वेतन

के बदले राजस्व-सहित ग्राम का दान अभिलिखित है। दुधपानी शैललेख (8 वीं शताब्दी ई०, हजारीबाग में प्राप्त) से ज्ञात होता है कि उदयमान, श्री धौतमान और अजितमान तीन गाँवों के शासक बनाए गए। राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रशासनिक ईकाइयाँ विभिन्न व्यक्तियों को आवंटित की जाती थीं जो उनका भोग शासक के रूप में करते थे। यह उत्कीर्ण लेख सामन्तवाद के अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण है (ए इ० II 343)। यहाँ हम सामन्तीय अर्थ में अधिन्यास (कमेन्डेशन, सुपुर्दगी) का उदाहरण पाते हैं (प्रो इं हि का—1968)।

ईशा की पाँचवीं शताब्दी का अन्त होते-होते सामन्त शब्द का प्रयोग अधीनस्थ शासक के अर्थ में होने लगा था और हम 'राज सामन्तविषय भोगिक' शब्द का उल्लेख पाते हैं (इ ऐ—VII, 33)। सामन्तकाल में सामन्त अधीनस्थ शासक होता था और वह 'दूतक' के रूप में भी काम करता था। अधीनस्थ शासकों के रूप में वे अपने-अपने इलाकों में शासन करते थे जैसा कि उनकी उपाधियों और शासकत्ववाचक पदनामों से सूचित होता है। शासक के रूप में प्राप्त अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए वे भूमि का दान करते थे। उन्हें अपने प्रभु को केवल मान्यता देनी होती थी। कभी-कभी वे राज्य के अधिकारी भी समझे जाते थे (ए इ XVIII. 7)। पंचमहा शब्द (शंख, शृंग, तमस, भेरी और जयघंट) के व्यवहार का विशेषाधिकार अधीनस्थ शासकों को अपने प्रभु की ओर से दिया जाता था, ताकि उनकी सम्मान्य पदस्थिति लोगों को मालूम हो। पंचमहा शब्द का अनुष्ठान आठवीं शताब्दी ई० से पहले प्रचलित नहीं था। इसका प्रयोग काश्मीर में भिन्न अर्थ में होता था। यह सम्मान पराक्रमी और प्रभावशाली सामन्तों को ही मिलता था।

सामन्त लोग अपने प्रभु को भक्ति और मानोपहार (बलि) तभी तक निवेदित करते थे, जब तक वे शक्तिशाली रहते। वे लोग सदा ही अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने की ताक में रहते थे। उनके प्रभु ऐसे खतरे से सदा होशियार रहते थे और उनपर उचित नियन्त्रण रखने के लिए सचेष्ट रहते थे, ताकि वे राजभक्त और अधीनस्थ बने रहें। फौजी जागीर अज्ञात नहीं थी। राज्य के सेवकों, मन्त्रियों, सामान्य अधिकारियों आदि को यथोचित भूमि मिलती थी। तमिल प्रदेश में हम आराय (फौजी जागीर) का उल्लेख पाते हैं। बृहस्पति ने राजा के अधिकारियों के वेतनमानों या उनकी जागीर के रकबों का उल्लेख किया है। ग्रामवासियों को कहा जाता था कि वे दानग्राही की आज्ञा में रहें (को इ इ—III. 132)।

परिव्राजकों, उंछकल्पों, महाराज लक्ष्मण और सुबन्धु के उत्कीर्ण लेखों में उनके प्रभुओं (अर्थात् गुप्त राजाओं) का संकेत केवल परोक्ष रूप से किया गया

है। नेपाल के महादेव के उत्कीर्णलेख में बताया गया है कि कैसे उनके अधीनस्थ शासक अपने प्रभु की मृत्यु के बाद संभ्रम (डाँवाडोल) की स्थिति देखते ही विद्रोह की ध्वजा उठा लेते थे। प्रभाकर वर्धन ने शौर्योद्रेक के मद से मत्त समस्त सामन्त मंडल को मथ डाला। मौखरियों, वर्धनों और औलिकरों (सभी सामन्त) ने शायद ही अपने प्रभु का उल्लेख किया है। ऐसे राजाओं की भी चर्चा मिलती है जिन्होंने अपने सामन्तों को पराक्रम से दबा दिया। यह आम धारणा थी कि सामन्त लोग अपने प्रभु के प्रताप के डर से ही प्रभुभक्त बने रहते थे। ऐहोल उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि पुलकेशिन द्वितीय के पराक्रम से पीड़ित लाट, मालव और गुर्जर मानो इस बात के उपदेशक बन गए कि अपने प्रभुओं द्वारा बलात् दबाए गए सामन्तों को अपने प्रभुओं के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए। सामन्त लोग शरीरतः सेवा करके अपने प्रभुओं की कृपा प्राप्त करते थे। कुछ सामन्त स्थायी रूप से अपने प्रभु के दरबार में रहते थे और कुछ महत्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर रहते थे। बाण ने अपनी **कादम्बरी** में मंडलेश्वरों की मंडली का बड़ा सुन्दर चित्र आँका है। जो प्रशासनिक पदों पर रहते थे वे निम्नलिखित पदनामों या पदवियों से विदित होते थे :

(i) **दूतक**, (ii) **महाप्रमाह**, (iii) **महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत**, (iv) **भाण्डागाराधिकरणमहासामन्त**, (v) **महाप्रतीहार**, (vi) **सर्वाधिकाराधिकृत**, (vii) **महावार्ताकृतिक**, (viii) **महादण्ड-नायक**, (ix) **महासामन्त**, (x) **सामन्त**, आदि।

भुवनदेव की **अपराजितपृच्छा** के अनुसार, सामन्त उस सरदार या अमीर को कहते हैं जिसे किसी निश्चित आय का अधिकार सौंपा गया हो। **कथा सरित्सागर** में कहा गया है कि राजा कई व्यक्तियों को सामन्त बनाते थे और कभी उन्हें पदच्युत करके उनकी जगह दूसरों को सामन्त बना देते थे। कल्हण कहते हैं कि यद्यपि वे सामन्त की कोटि से च्युत कर दिए गए, तथापि भूमि-सम्पत्ति का भोग करते हुए शिष्ट वर्ग में बने ही रहे। **महासन्धिविग्रहिक** (राज्य का एक अधिकारी) सभी प्रकार के जागीरदारों और सामन्तों के प्रति राजा की नीति का प्रभारी होता था और हर प्रकार के दानपत्र का मसौदा बनाना भी उसी का काम था। सामन्तों का स्तरक्रम अनेक उत्कीर्ण लेखों में साफ-साफ दिखाई देता है। पल्लव राजा के सामन्तों को अपने प्रभु के प्रति सम्मान निवेदित करते पाते हैं। वीरता के कार्यों के लिए सामन्त पुरस्कृत होते थे।

यद्यपि भारत में सामन्तवाद का जन्म किसान वर्ग के ऊपर एक सैनिक वर्ग की स्थापना से नहीं हुआ है, तथापि 1000 ई० के बाद सेना सम्बन्धी दायित्व

अधिक महत्वपूर्ण हो गया। सामन्तों को यह दायित्व पूरा करना पड़ता था। सामन्तों की कोटि और अधिक्रम का ढाँचा उत्तर और दक्षिण के कई उत्कीर्ण लेखों में पाया जाता है, पर अभी हमें जहाँ तक जानकारी है, उनका अखिल भारतीय स्तर पर अग्रता-क्रम जाना नहीं जा सकता है। मोटे तौर पर सामन्तों का वर्ग निकम्मों और निस्तत्वों का वर्ग था, जो आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादी, सामाजिक दृष्टि से शोषक और राजनैतिक दृष्टि से घृणा और प्रेम के वायुमंडल के चतुर्दिक् परजीवी के रूप में जीने वाला था।

भारत में सामन्तवाद का जन्म भारतीय जन के उद्भव के क्रम में हुआ है। समाज उत्पादक वर्गों के शोषण पर आधारित था। सामन्तीय दबावों के लक्षण सहज ही दिखाई पड़ते हैं। सामन्ती आर्थिक ढाँचा तो पूर्वकाल में ही साकार हो चुका था, किन्तु सामन्तीय सम्बन्ध बाद में दृढ़ हुए हैं। उत्पीड़नपूर्वक कर की तहसील प्रारम्भिक पद्धति का लक्षण है। सामन्तवाद की प्रगति दो स्तरों में हुई है :

(i) अधिकाधिक करप्रद भूमि दान के रूप में वितरित होती गई और दानग्राही लोग राजा और आश्रित निवासी दोनों से सम्बद्ध अधिकाधिक अधिकार अपनाते गए।

(ii) ग्राम-समुदाय के भीतर भी गाँव के अधिकारियों ने ग्रामवासियों के बीच अधिकाधिक शक्ति प्राप्त की। अपने-अपने गाँवों के भीतर भूमि-कर के विभाजन के सम्बन्ध में उन अधिकारियों के कर्त्तव्य अधिकाधिक महत्वपूर्ण हो गए। वे ग्रामीण प्रशासक हो गए और उनमें से कई राज्य-तन्त्र से सम्बद्ध छोटे-छोटे सामन्तीय भूस्वामी हो गए। ग्राम-समुदाय का ऊपरी तबका अक्सर सामन्तीय होता गया है।

700 ई० और 1200 ई० के बीच की अवधि सामन्ती ढाँचे के दृढ़ीकरण की है। ऊपर के दो वर्गों ने अपार भूमि-सम्पत्ति अर्जित की और उस सम्पत्ति से करों एवं अन्य शुल्कों का संग्रह किया। तमिलनाडु में ऐसे दानग्राहियों ने स्वयं भी दूसरों को ग्राम-दान दिया (ए इ. XXVII. 298)। विष्णुसेन के शासनपत्र (592 ई०) में हम पहली बार पाते हैं कि एक सामन्त मंडलेश्वर (फ्यूडल विस्काइंट) माना गया है जो राजा के प्रति सीधे उत्तरदायी है और कर-संग्रह-तन्त्र का एक अंग है। सामन्तवाद का अर्थ था स्वामीभक्ति की एक कड़ी, जो अनुचरों को अपने स्वामी के साथ, किसानों को जमींदार के साथ और सामन्तों को राजा या सम्राट् के साथ बाँधे रखती थी—ऐसी स्वामीभक्ति जिसमें उत्पादन, के सम्बन्ध भूमिस्वामित्व, सैनिक सेवा, कर-संग्रह तथा भूमि की उपज को भोग्य वस्तु के रूप में बदलने के

साधनों और सम्बन्धों की ठोस नींव निहित है। इसी आलोक में स्वामीभक्ति को सामन्तवाद की भावनात्मक भित्ति कहा गया है। इस दृष्टिकोण से देखने पर "भक्ति" को सामन्तवाद का सैद्धन्तिक आधार माना जाता है, इससे सामन्तवादी समाज और राज्य को एक सूत्र में बान्धकर रखने में काफी सहायता मिली।

सामन्त लोगों को एक निश्चित मात्रा में वार्षिक मानोपहार (बलि, नजराना) चुकाना पड़ता था और हुक्म होने पर सेना में काम करना पड़ता था। वे अपने परम प्रभु के प्रति निष्ठा रखते थे, किन्तु ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि इस निष्ठापूर्ण सम्बन्ध के लिए कोई एकरारनामा रहता होगा। पश्चिम में जैसा सामन्तवाद प्रचलित है उसमें सामन्त और प्रभु के साथ ठीक इसी ढंग का सम्बन्ध नहीं रहता था। यूरोपीय ढंग की सामन्त-प्रणाली यहाँ नहीं पाई गई है, हालांकि किसी काल-विशेष में समान विकास की स्थिति थी, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है। सैन्य सेवा सम्बन्धी दायित्व में यूरोपीय ढाँचे से कुछ हद तक साम्य है। रोम की 'डोमिनिकम' की अवधारणा जैसी कोई वस्तु भारत में नहीं थी और सम्राट् की शक्ति चरम नहीं मानी जाती थी। इसीलिए यहाँ और सामन्तों के बीच उतना अधिक टकराव नहीं होता था।

सामन्त-युग (700-1200 ई०) में लगभग सभी राज्यों की सीमाएँ इतनी तेजी से बदलती रही हैं कि सामन्तों को किसी राज्य के प्रति भक्ति-भावना जागृत होना सम्भव नहीं था। सामन्तों को कर की तहसील के सुनिश्चित हक के सिवा और कोई हक नहीं था, इसलिए राजा और सामन्तों के बीच कोई विवाद किसी राजनैतिक या संवैधानिक पहल-पहल का रूप नहीं लेता था। यहाँ मध्यवर्ती स्वामी विभिन्न कोटियों, विभिन्न शक्तियों, विभिन्न पर्यावरणों और विभिन्न भाषाओं वाले थे, अतः उनकी निष्ठा कभी एक ही व्यक्ति पर केन्द्रित और एकाग्र नहीं थी और वे बहुत विशाल भूभाग में फैले हुए थे। बहुत अधिक हदतक भारतीय सामान्तवाद की प्रकृति कर-मूलक और केवल अंशतः सैन्यमूलक रही। अधिपति उपज में अपना अंश वसूल लेते थे। शोषित किसान वर्ग को न तो कोई अधिकार ही लिखकर दिया जाता था और न कोई बचाव का रास्ता ही था। अधिपति भूमि नहीं, भूमि की फाज़िल उपज चाहते थे।

कश्मीर के डामर सशस्त्र सामन्त होते थे और उनके अपने सुदृढ़ गढ़ होते थे। इन्हीं सामन्तों की मदद के बल पर ललितादित्य अपना साम्राज्य स्थापित कर सके। डामरों के पास पैदल और घुड़सवार दोनों सेनाएँ थीं। केन्द्राभिमुखी प्रवृत्तियों को इन सामन्तों से बढ़ावा मिला। वे गृह-युद्धों और

समकालीन राजनैतिक गतिविधियों में शरीक होते थे। ऐसे सामन्तों ने भारत के विभिन्न भागों और विभिन्न कालों में पर्याप्त शक्ति संचित की। बड़े-बड़े सामन्तों और अमीरों के अपने न्यायालय होते थे, वे न्याय करते थे और अपने अधीनस्थों को जागीर देते थे (ए इ. III, 268)। इस तरह के अमीरों का एक सामन्तीय वर्ग बन गया था। दूध पानी शैल अभिलेख से ज्ञात होता है कि वणिक भी सामन्त बन बैठते थे। हुएनत्सांग के अनुसार, रक्षा के प्रतिफलस्वरूप अपनी भूमि भूस्वामियों को सौंप देने की प्रथा ज्ञात और प्रचलित हो चुकी थी। अध्यर्पण की इस प्रथा की पुष्टि पुरा लेखों से तथा कल्हण से होती है। इस प्रथा के अनुसार बहुत-से लोगों ने शक्तिशाली सामन्तों की छत्रछाया में संरक्षण प्राप्त किया।

सैनिक प्रमुख भी अपनी सेवा के बदले जागीर पाते थे। काणे के अनुसार, आनुवंशिक सेना में वे लोग होते थे जिनके पूर्वजों ने सेवा के बदले कर-मुक्त भूमि प्राप्त की थी।

अन्तोनोवा ने हमारा ध्यान निम्नलिखित प्रकारों के दानों की ओर आकृष्ट किया है :

(i) सेनापतियों को,
(ii) गज सेना के प्रधान को,
(iii) राजा के साले को,
(iv) राजा की माता को,
(v) न्यायालय दरबार के कायस्थ को, अथवा लेखकों को,
(vi) सामन्तों को, और
(vii) राजवैद्यों और राजज्योतिषियों को।

कई अन्य प्रकार के भी दान ज्ञात हैं :

(viii) ब्राह्मणों को, हस्तान्तरण के अधिकार के साथ,
(ix) अधिकारियों को, लोकोपकारी कार्य के लिए,
(x) अधिकारियों को, सेवा के बदले, और
(xi) सैनिक जागीरदारों को, सैनिक जवान देने की शर्त पर।

ब्राह्मण दानग्राही राजा को देय हर प्रकार के करों का भोग करते थे और कर चुकाने में आनाकानी करनेवाले किसानों को दंड दे सकते थे और बेदखल भी कर सकते थे। ऐसे दानग्राही स्वयं शासन को कुछ भी चुकाने के लिए बाध्य नहीं थे। प्रवरसेन द्वितीय चमक ताम्रपत्र में निम्नलिखित बातें मिलती हैं :—

(i) कर नहीं चुकाना होगा;
(ii) नियत सैनिक-दल प्रवेश नहीं करेगा;
(iii) किसी भी प्रकार की बेगारी कभी न ली जाएगी;
(iv) दान में निखान-निधि और खान निधि तथा क्लिप्त एवं उपक्लिप्त भी शामिल हैं;
(v) इसका यथासाध्य सभी उपायों से संरक्षण और संवर्धन किया जाएगा;
(vi) दान के जारी रहने की शर्त यह होगी कि—
(क) वे राजद्रोह न करें;
(ख) वे ब्रह्महत्या न करें;
(ग) वे चोर, व्यभिचारी और राजबन्दी न हों;
(घ) वे लड़ाई न ठानें,
(ङ) वे अन्य ग्रामों का अहित न करें;
(vii) यदि वे इसके विपरीत आचरण करेंगे तो उनकी भूमि वापस लेने में राजा को चोरी का पाप नहीं लगेगा।

द्वितीय शताब्दी ई० से ग्यारहवीं शताब्दी तक के भूमिदानों में पश्चिम भारत, मध्य भारत और राजस्थान में बेगारी का प्रचलन ध्यान देने लायक है। यह बारहवीं शताब्दी ई० के बंगाल अभिलेखों में भी है। यह सामन्ती पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। यह मौर्य काल में व्यापक था और देश भर के कई उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख मिलता है। कल्हण सूचना देते हैं कि ग्राम से बलजोरी भार ढोने का काम लिया जाता था और यह काम इतनी कठोरता के साथ लिया जाता था कि ब्राह्मणों को सामूहिक रूप से अनशन करना पड़ा जिससे कि राजा बाध्य होकर इस आदेश को वापस लें। दानग्राही मनमाने ढंग से बेगारी की मात्रा बढ़ा सकते थे, क्योंकि इस विषय में कोई ठोस नियम नहीं था। इसके चलते कभी-कभी किसान अपनी जमीन से निकाल बाहर कर दिए जाते थे। जनपदीय अर्थव्यवस्था में श्रम के विशेषीकरण के फलस्वरूप गाँवों में उपजातियों की संख्या बहुत बढ़ गई। सामन्ती अधिपति किसानों को मनमाने ढंग से पकड़ कर उनसे बेगारी लेते थे। शिल्पी (पँसारी) लोग भी इससे बरी नहीं रह पाते थे। जाति की कट्टरता ग्राम-जीवन का एक लक्षण हो गयी। स्वतन्त्र ग्राम शिल्पियों का जब शोषण होने लगता था तब उनकी जाति के लोग शोषकों से उनकी रक्षा करते थे। गाँव की घेराबन्दी दुर्लंघ्य हो गई और व्यापार-वस्तु के उत्पादन के उत्पादन के बिना ही उसे अपने को आत्मनिर्भर

बना लेना पड़ा। आनुवंशिक जाति-प्रथा से आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को मदद मिली। इससे न केवल बहुत-सी उपजातियाँ पैदा हुईं, बल्कि स्थानीय धार्मिक पंथ, विशेष रूप की कला और क्षेत्रीय भाषाओं का उद्भव हुआ। उत्पादन की स्थानीय इकाइयों को राज-सत्ता की परवाह नहीं रही।

सामन्ती व्यवस्था में गाँव आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की नींव पर खड़े हो गए जहाँ फाजिल उत्पादन नहीं के बराबर था। किसान लोग फाजिल पैदावार नहीं करते थे, क्योंकि ऐसा करने से भूस्वामी लोग ज्यादा हिस्से की माँग करने लगते। परिणामतः उपज धीरे-धीरे घटकर केवल निर्वाह योग्य स्तर पर आ गई। इससे पुनः किसानों पर दबाव पड़ा, क्योंकि उनसे मजबूरन अतिरिक्त कर वसूला जाने लगा। आत्म-निर्भर गाँवों में किसानों की गतिशीलता घटती गई और शक्ति जमींदार वर्ग के हाथ में आ गई। बाद में सामन्ती राज्यों का आधार हुए शक्तिशाली जमींदार, जो करों की तहसील करते थे, सेना के लिए घुड़सवारों और अफसरों की आपूर्ति करते थे और व्यक्तिगत भक्तिभाव के सुदृढ़ सूत्र में बँधे रहते थे। वह भक्तिभाव सामन्तवाद का मूल मन्त्र है। दान के साथ लगे अधिकारों की लम्बी सूची से संकेत मिलता है कि अब वास्तविक स्वामित्व के अधिकार हस्तान्तरित होते थे, जैसे,

दानग्राहियों की आज्ञा मानना,
उनकी आज्ञा का पालन करना,
सेवा-टहल करना,
दूत का काम करना।

विष्णुसेन के दानपत्र (ए इ. XXX. 163-81) से ज्ञात होता है कि व्यापारी सामन्तों की कृपा से आते थे, क्योंकि फाजिल माल उन्हीं के जिम्मे रहता था और कीमती वस्तुएँ वे ही खरीदते थे। शिल्पियों का माल कम कीमत में खरीदने का राजकीय विशेषाधिकार सामन्तवाद का विशिष्ट लक्षण है और इस अधिकार के दावेदार बाद में नवाब और जमींदार लोग भी हो गए। यह दान पत्र सामन्तवाद के विविध पहलुओं के अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण अभिलेख है। फाजिल माल के बिना व्यापार का विस्तार नहीं हो और व्यापार की कमी से सिक्कों में कमी आई। धातु और नमक विनिमय द्वारा मिल जाता था। राजाओं और सामन्तों का धन अनुत्पादक कामों में खर्च होता था और जब कई स्तरों पर सामन्त का विस्तार हुआ तब भूमि से होनेवाली आय का बिखराव बढ़ गया, मध्यवर्ती भूस्वामी खेतीहरों को और राजा को भी वंचित करते हुए

अपनी शान बढ़ाते गए। इसके परिणामस्वरूप राजा सामन्तों पर आश्रित होते गए।

जब शक्ति भूस्वामियों के हाथ में चली गई, तब व्यापार गिरावट के हद तक पहुँच गया। पूर्व के वृत्तिसंघ अपनी गरिमा खो चुके थे और इनके लुप्त हो जाने से उत्पादन का सामान्य ढाँचा ग्रामाश्रित हो गया और नगर गिरते गए। व्यापार भी गिरा। नगर जीवन समाप्त हो गया। सामन्तवाद का मूलाधार हुआ राजा द्वारा भूमि का हस्तान्तरण और भूमि पर उत्पादक सम्बन्ध का सृजन, जिसका असर समूचे सामाजिक-सह-आर्थिक ढाँचे पर पड़ा। मध्यवर्ती स्वामियों ने सामन्तवाद के प्रजनन के लिए एक तरह की आर्थिक बुनियाद तैयार की।

गाँव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक थी कि सभी वर्गों के प्राथमिक उत्पादक गाँव में बसे। स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति वहीं हो गई और यही तो सामन्ती अर्थव्यवस्था का बुनियादी लक्षण है। सामन्ती अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ हैं :

(i) भूमि पर सामन्तों का स्वामित्व,
(ii) मन्दगामी व्यापार और वाणिज्य,
(iii) किसानों की कृषिदासता और
(iv) आत्मनिर्भर स्थानीयता की पद्धति पर आश्रित अर्थव्यवस्था।

ये विशेषताएँ यूरोपीय पद्धति से मिलती तो नहीं हैं, पर भारत में गुप्तोत्तर काल में कमोबेश विशेषताओं के साथ सामन्तवाद निश्चित रूप से मौजूद था।

पालों और प्रतीहारों ने भी धार्मिकेतर मध्यवर्ती भूस्वामियों को सेवा के बदले जागीर पानेवाले अधिकारियों और सामन्तों को बनाए रखा। धार्मिक दान तो राज्य को देय सभी करों से मुक्त होता था, किन्तु धार्मिकेतर दान पानेवाले कुछ-न-कुछ सम्मान शुल्क राजा को चुकाते थे। पुनर्ग्रहण का राजकीय अधिकार स्पष्टतः दानग्राहियों को सौंप दिया गया। भूमिसम्बन्धी और भी सभी अधिकार अन्तरित कर दिए गए। पाल राजा जब किसी भूमि का दान करने लगते थे तो सम्बद्ध गाँव की प्रजा, सामन्तों और अधिकारियों की सम्मति लेने के लिए उन्हें बुलाते थे; हालाँकि वास्तव में यह औपचारिकता का एक नाटकमात्र होता था। इस काल में व्यक्तिगत अधिभोगाधिकारों की अभिवृद्धि का भी दर्शन होता है। सामुदायिक सम्पत्ति सामन्ती सम्पत्ति में बदल जाती थी (ए इ. I सं० 20)। पट्टेदारी (उपसामन्तीकरण) की प्रथा ने किसानों की परवशता को बढ़ाया। दानग्राहियों को न केवल पट्टा करने का अधिकार मिला, बल्कि बेदखल करने, नए

कर लगाने, विष्टि (बेगारी) लेने तथा व्यापार एवं शिल्प की आय को अग्रहार (बेनिफिस) बना देने का भी अधिकार मिला।

कहा गया है कि कर्षक और राजा के बीच मध्यवर्ती भूस्वामियों के चार सोपान थे (**व्यवहार मयूख**, पृ० 86)। अत्याचारी दानग्राहियों के विरुद्ध किसानों को कोई कानूनी प्रतिकार नहीं था। दानग्राही को विधि-व्यवस्था बनाए रखने के दायित्व के साथ-साथ तरह-तरह के कर तहसीलने का दायित्व भी था जो काम अमलों को रखे बिना सम्भव नहीं था। गुजरात और राजस्थान में धर्मदायों, अग्रहारों के स्वामी विधि-व्यवस्था एवं कर संग्रह प्रशासन के प्रभारी मध्यवर्ती स्वत्वधारी बन गए। पराशर ने ब्राह्मणों को कृषि व्यवसाय अपनाने की अनुमति दी है। नारायणपाल के भागलपुर ताम्रपत्र में चौबीस पच्चीस से अधिक अधिकारियों का उल्लेख हुआ है। प्रतिहार साम्राज्य के आधे से अधिक भाग पर सामन्तों को शासन था और वे अपने अपने पट्टेदारों उपसामन्तों के जरिए प्रशासन करते थे। अधिकारियों को जागीरदार बनाने की प्रवृत्ति प्रतीहारों की अमलदारी में ज्यादा थी। यद्यपि धार्मिकेतर जागीरदारों की संख्या बहुत कम थी, फिर भी ओड़िया उत्कीर्ण लेखों में ऐसे दानग्राहियों की कई पदवियाँ आई हैं।

'भूपाल' का अर्थ था भूखंड का अधिपति या मंडलेश्वर 'भोगी', 'सामन्त', 'महत्तर,' 'महामहत्तर', 'रोणक', 'राजन्यक,' 'राजपुत्र' आदि का अर्थ था लगान तहसील के लिए भूमि का धारक। राष्ट्रकूटों ने धार्मिक दानग्राहियों को और अधिक शक्तियाँ दी थीं।

दक्षिण भारत के पुरालेखों और स्थापत्य लेखों से दक्षिण भारत में प्रचलित सामन्तवाद के पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। दक्षिण भारत में बाध्यकारी श्रम, मुक्त श्रम, विशेष अवसरों के श्रम, मुफ्त भोजन आदि की प्रथा प्रचलित थी। करों की वसूली में हमेशा उत्पीड़नात्मक प्रवृत्ति रहती थी और इसके लिए प्रजा को निगरानी का भय सदा बना रहता था। पदाधारियों को पारिश्रमिक देने का सामान्य और सर्वाधिक प्रचलित तरीका था भूमि का अध्यर्पण और इस व्यवस्था में सामन्तों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती थी। मन्दिर भी बड़े सामन्ती केन्द्र होते थे। सामन्तवाद देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का था।

दक्षिण भारत में कई पीढ़ियों तक शासन करते रहनेवाले सामन्त-कुलों के भी उदाहरण मिलते हैं। दक्षिण भारत में राजकीय अधिकारियों को भूमि अध्यर्पित की जाती थी। पल्लवों और चोलों के अपने-अपने सामन्त थे। चोल राजाओं के तीन प्रमुख (सामन्तों) के बीच हुई राजनैतिक सन्धि का एक विशिष्ट

उदाहरण मन्दिर की दीवार में खुदा मिला है। सेवा जागीर की बहुतायत चोल राजतन्त्र का एक सामान्य लक्षण है। फौजी जागीरें चोलों की अमलदारी में सामन्तवाद की प्रगति का प्रमाण है। कई उत्कीर्ण लेखों में सामन्तीय आभारों का वर्णन है। दक्षिण भारत के उत्कीर्ण लेखों में सामन्तों की वंश-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख है। मध्यवर्ती भूस्वामियों और मन्दिर संगठनों ने सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास में हाथ बँटाया है। सामन्ती आर्थिक संस्थाएँ भूमि के नियन्त्रण से सम्बद्ध और उसी में संलीन थीं। सामन्ती भूवृति विजय नगर साम्राज्य के अधीन उन्नति की चोटी पर पहुँच गई थी। जन-साधारण इन सामन्तों से इतना अधिक सताए गए कि उनमें देश-भक्ति की भावना पनप ही नहीं सकी और यह राष्ट्रीय एकात्मता के मार्ग में बड़ा अवरोधक हुआ। सामन्तवाद की बुराइयों का चित्रण कल्हण ने बड़ी अच्छी तरह किया है।

राज्य के सामन्ती ढाँचे में आने का बुरा असर आर्थिक जीवन पर पड़ा, क्योंकि इससे कर का बोझ बहुत भारी हो गया। ग्रामवासी राज्य को जो कुछ चुकाते थे, उसके अलावा कई तरह के अतिरिक्त कर सामन्तों को चुकाने के लिए बाध्य हुए। कई तरह के लोग वंचनापूर्ण बाना बना कर गाँवों से फायदा उठा लेते थे (देशोपदेशमाला iv 48-49)। सामन्त लोग धनी लोगों को कैदकर उनसे धन ऐंठते थे। गाँव के लोग अपनी-अपनी सम्पति राजकीय अधिकारियों से छुपाकर रखते थे। अत्यधिक करके बोझ से दबकर गाँव के लोग किसी तरह गुजर करने की हालत पर उतर गए। 'सुभाषितरत्न कोश' के श्लोक संख्या 1175 में एक उजड़े हुए गाँव की दशा का वर्णन किया है जो सामन्तों के शोषण से निर्जन हो गया था। करों की सूची के आदि में जो विशेषण पद 'नियतानियत' और 'उचितानुचित' (ए इ. X. 99; ज उ प्र हि सो XXIII. 228-50; ज बि ओ रि सो XvII[I]. 1+) लगाए गए हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि नए-नए कर भी थोपे जा सकते थे और वे कभी-कभी अनुचित भी हो सकते थे। समकालीन धर्मशास्त्र की राय में सामन्तों का कर ग्रहणाधिकार जायज है। मेधातिथि (मनुस्मृति X. 119) कहते हैं कि वैश्य बहुत समृद्ध होते हैं, अतः उनसे धन लेने के लिए नियुक्त अधिकारी यदि उनसे धन वसूलने में उनका अपकार भी करता है तो वह दंडभागी न होगा। सामन्ती सरदार लूट-खसोट करते थे और अन्तर राज्य व्यापार में कठिनाई पैदा करते थे। सामन्ती युद्ध से भी अर्थव्यवस्था पंगु होती थी और नगरों की लूटपाट मामूली बात थी। इन युद्धों से जो आर्थिक अस्तव्यस्तता आती होगी, वह सहज ही अनुमान की जा सकती है। व्यापार और वाणिज्य को गहरा धक्का लगा।

सैद्धान्तिक रूप में सामन्तों को केवल कर वसूलने का अधिकार था, किन्तु व्यवहार में यह प्रथा अधिकांशतः आनुवंशिक हो गई, जब राजा लोग अपने सामन्तों पर अधिकाधिक निर्भर होने लगे। उन्होंने अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार पदवी धारण की और अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्रप्राय सत्ता का प्रयोग आरम्भ किया। बड़े-बड़े सामन्तों ने अपने-अपने अधीन नियमित उपसामन्त कुलों की स्थापना की।

प्रशासनिक दृष्टि से सामन्ती पद्धति में यह लाभ है कि इसमें केन्द्र प्रशासित भारी-कर्मचारी वर्ग की आवश्यकता नहीं होती। सामन्तों द्वारा ही राजस्व की तहसील हो जाती और न्याय सम्बन्धी कार्य भी अपने-अपने क्षेत्रों में सामन्त ही कर लेते। सामन्त लोगों से ही क्षेत्रीय प्रशासकों का काम चल जाता।

भारतीय सामन्त पद्धति की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत की जा सकती हैं :

(1) सामन्ती प्रभु सैद्धान्तिक रूप से अपने क्षेत्र के भीतर स्वामित्व धारण करता था और व्यवहारतः स्वामित्व अधिभोगी सामन्त के हाथ में रहता था।

(2) सामन्ती शासक स्वयं भी राजकुमारों, परिवार के लोगों, प्रशासन वा सेना के अधिकारियों, पुरोहितों, धर्मस्थानों और उपसामन्तों को भूमिदान देते थे और जागीर सृजित करते थे।

(3) जागीर का सृजन दो शर्तों पर होता था एक निश्चित सम्मान शुल्क (ट्रिब्यूट) का भुगतान करना और सैनिक सेवा करना।

(4) जागीरदारों को पूर्ण प्रशासन और आनुवंशिक अधिकार रहता था।

(5) सामन्तीय भूमिदान या जागीर करमुक्त होती थी।

(6) सामन्तीय धर्मतन्त्र महन्थी का अस्तित्व था और उसे धर्मदोय या अध्यर्पण के द्वारा धन सौंपा जाता था।

(7) सामन्तों के अधीन कई स्तर के भूधारी भी होते थे।

सामन्ती अर्थव्यवस्था भारत में अपना रंग जमाए रही। इसमें प्रशासन-तन्त्र का भी सामन्तीकरण हुआ।

सामन्ती पद्धति में कई स्पष्ट दुर्गुण थे। राजा राज्य के समूचे आर्थिक साधन स्रोतों का उपयोग न तो प्रजा की भलाई के लिए और न अपनी सैन्य शक्ति को मजबूत करने के लिए करने की स्थिति में रहता था, क्योंकि सारी आर्थिक

सुविधाएँ खुद सामन्तों द्वारा हथिया ली जाती थीं। सामन्तों के बीच आपस में होनेवाली स्पर्धा के फलस्वरूप आपसी संघर्ष, गृह-कलह और शत्रुता उत्पन्न हो जाती थी, राजा की स्थिति कमजोर हो जाती थी, खास करके तब जब राजा अपने सामन्तों पर निर्भर रहता। सामन्ती पद्धति से स्थानीय भक्तिभाव का भी उदय होता था जिसमे राष्ट्रीय एकता में बाधा पड़ती थी। इसका बुरा असर किसानों की स्थिति पर पड़ता था, जिनका धन नाजायज तरीके से खसोटा जाता था। वे असहाय अवस्था में पहुँच गए थे। शक्ति सामन्तों के हाथ में केन्द्रित हो गई जिन्हें तत्कालीन राजनैतिक ढाँचे में सामाजिक-सह-आर्थिक तथा राजनैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

●

अध्याय 7

कृषि

आदिम मानव अपना निर्वाह जंगलों में शिकार करके, नदियों में मछली पकड़कर या जंगलों में फल बटोरकर करता था। वह पशु पालना या खेती करना नहीं जानता था। वह न मिट्टी का बरतन बनाना जानता था और न धातु। निजी सम्पत्ति की अवधारणा नहीं थी। हर प्रकार के हथियारों और औजारों के लिए उसके पास केवल पत्थर और हड्डियाँ थीं। कुछ दिनों के बाद मिट्टी के जो बरतन वह हाथ से बनाता था उसे कुम्हार के चाक पर गढ़ने लगा। उत्तर भारत में नवपाषाण युग की जगह ताम्र-युग का आरम्भ हुआ और दक्षिण भारत में मध्यवर्ती अवस्था के बिना ही पत्थर के औजारों की जगह लोहे के औजार चल पड़े। पशुपालन और कृषि का आरम्भ होने पर वन के उपयोग और संरक्षण को महत्त्व मिला। सोते खोदे गए। नहर, कूप और घटीचक्र या अरघट्ट का उल्लेख सिंचाई के साधन के रूप में हुआ है। कृषि वैदिक अर्थव्यवस्था का एक अंग थी। कहते हैं, 'आर्य' शब्द का ही व्युत्पत्यर्थ कृषि से सम्बद्ध है। कृषि-उत्पादन वैदिक युग में विनिमय-माध्यम के रूप में प्रचलित हुआ और वैदिक अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो गया।

आरम्भ में आर्य पशुपालक जन (कबीला) थे, किन्तु भारत में उन्होंने कृषि को अपनाया। वे बैलों से हल चलाते थे। गेहूँ, ईख, आदि उपजाते थे। ऋग्वेद में हल और फाल को पूज्य वस्तु कहा गया है। उत्तर वैदिक काल में और भी प्रगति हुई। हल इतना बड़ा और भारी होता था कि एक हल में दो-चार नहीं, चौबीस बैल भी जोते जाते थे। सिंचाई के अलावा खाद का भी प्रयोग होता था। **बृहदारण्य उपनिषद्** में दस प्रकार के बीज का उल्लेख है—**शाली** (धान), **जौ**, **तिल**, **माष**, **सामा**, **कौनी**, **गेहूँ**, **अलसी**, आदि। जाड़े की फसल चैत्र में तैयार होती थी। **शुक्लयजुर्वेद** में तीन और धान्यों का उल्लेख है—**मुग्द**, **निवर्ग** और **श्यामाक**। **तैत्तिरीयसंहिता** में विभिन्न अन्नों की ऋतु का विवरण दिया गया है।

जौ-हिम ऋतु में बोया जाता और ग्रीष्म में पकने पर काटा जाता है।

शालि (धान)—वर्षा ऋतु में बोया जाता और शरद में पकने पर काटा जाता है।

ईख, माष और तिल-ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में लगाए जाते तथा हिम और शिशिर ऋतु में काटे जाते हैं।

कटनी की दो ऋतुएँ होती थीं। जाड़े की फसलें मार्च (वसन्त) में तैयार होतीं। दौनी-ओसौनी करनेवाला 'धान्य-कूट' कहलाता था। रामायण से ज्ञात होता है कि विद्या में तीन शास्त्र थे, वेद, कृषि और वाणिज्य। कृषकों को चूहों, पक्षियों और अन्य जन्तुओं, अवृष्टि, अतिवृष्टि आदि संकटों का सामना करना पड़ता था और उन्हें खेती के कामों के बारे में जानकारी की जरूरत होती थी। दुर्भिक्ष अज्ञात नहीं था। लोगों को गोरस-उत्पादन और वन-उत्पादन का भी ज्ञान था। फल-उत्पादन का कौशल उत्तम था। यूनानी यात्री यहाँ की गर्मी और जाड़े की फसलों से परिचित थे। यूनानी लेखकों के अनुसार भारत के लोग मधुमक्खियों की मदद के बिना ही ईख से शहद बना लेते थे। सात प्रकार के अन्य अन्न (सप्तधान्य) और ईख के अतिरिक्त शालि (चावल) मुख्य आहार का अन्न था। पाणिनिने वसन्त और हेमन्त की उपज के लिए विशेष शब्दों की व्युत्पत्ति दी है। कहीं-कहीं तीन-तीन बार कटनी होती थी।

कृषि के विषय में स्त्रियों की भूमिका का उल्लेख तैत्तिरीयब्राह्मण और शतपथ-ब्राह्मण में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि यज्ञ में यजमान की पत्नी को अपने पति का हाथ पकड़े उपस्थित रहना चाहिए। नये अन्न से होनेवाले ऐसे यज्ञ में योगदान का अर्थ यही हो सकता है कि आदि-काल में खेती का काम महिलाओं के जिम्मे रहा होगा। वृक्षरोपण सभ्यता के विकास में महिला का एक अवदान है। आरम्भ में तो खेती का काम महिला के हाथ में रहा, लेकिन बाद में जब खेती का फायदा भली-भाँति मालूम हो गया, तब इसे एकमात्र महिलाओं के कर्तव्य के रूप में नहीं छोड़ दिया गया। जनक ने हल चलाया। इसी कहानी से कृषि का महत्व आँका जा सकता है। कृषि और पशुपालन चालू होने पर एक नए ढंग का जीवन उभरा। सम्पत्ति का मुख्य स्रोत पशु हुआ। अधिकाधिक गायें हासिल करने की चेष्टा में लड़ाई होते दिखलाई देती है। पशुधन का अपहरण वैदिक जनों के बीच लड़ाई का मुख्य कारण होता था। परिवहन में बैलगाड़ियाँ और घोड़े के रथ चलते थे। उत्तर वैदिक काल में फिर पुराने जीवन के स्थान में खेती पर आश्रित स्थिर निवास वाला नया जीवन को देखते हैं। खेती लोहे के आविष्कार और उपयोग की बदौलत और भी आसान हो चुकी थी। लोहे का प्रयोग नाना प्रकार के उत्पादन-कार्यों में होता था और इससे उत्कृष्ट शिल्पकारिता को भी मदद मिली। अब हल तेज नुकीले और चिकनी मूठवाले होते थे।

शिल्प में प्रगति होने से कई नए प्रकार के जन-वर्ग उभरे, जैसे लुहार, कुम्हार बढ़ई, सुनार, आयुधकार, आदि। उन दिनों की जनपदीय अर्थव्यवस्था में जिनकी कारीगरी की अधिक प्रतिष्ठा थी, वे हैं बढ़ई और लुहार, जो खेती के औजार, हथियार और घर बनाते थे। एक-एक सौ पतवार वाले समुद्रगामी पोतों का वर्णन मिलता है तथा समुद्र में पाई जानेवाली निधियों की भी चर्चाएँ आई हैं। फाजिल कृषि-उत्पादन के फलस्वरूप अलग व्यापारजीवी वर्गों का उदय हुआ। कृषि उत्पादक-श्रम सर्वप्रमुख हो गई, पशुपालन का भी उतना ही महत्त्व था और हमें यह जानकारी है कि एक धनी कर्षक के पास सत्ताइस हजार दुधारू गाएँ थीं। फाजिल कृषि-उत्पादन से व्यापार-वाणिज्य को सहारा मिला तथा एक नयी राजनैतिक शक्ति का उदय हुआ।

छठी शताब्दी ई० पू० में आकर लोहे का व्यापक रूप से उपयोग होने लगा और कई नगर उभर आए। किसान के स्वामित्व और ग्राम-समुदायों वाली पद्धति मुख्यत: जनपदीय (दिहाती) थी। सम्पति के अधिकार में या सामाजिक हैसियत में अन्तर से समाज में असमानता आई और दास-प्रथा का उद्भव इस बात का स्पष्ट संकेत देता है कि आर्थिक एवं सामाजिक असमानता उभर आई थी। नगर शिल्पकारी और व्यापार के केन्द्र हो गए। कुम्हार, बढ़ई, लुहार, जुलाहे, धातुकर्मी, आदि शिल्पियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उत्तर वैदिक साहित्य में इस तरह के साठ व्यवसायों का उल्लेख है।

साइलैक्स, मिटेटस के हेंकाटस, हेरोडोतस, नियार्कस, आदि के लेखों से तथा इनके अतिरिक्त बौद्ध स्रोतों से इसका स्पष्ट चित्र सामने आता है कि इस काल में खेती किस तरीके से की जाती थी। नियार्कस के अनुसार खेती का काम पूरा गोत्र वर्ग (बिरादरी) मिल-जुलकर करना था। उपज में से हर व्यक्ति उतना-उतना हिस्सा अपने लिए रख लेता था जितने से वह साल भर गुजर करे और शेष भाग जला दिया जाता था, ताकि निकम्मापन को बढ़ावा न मिले। यह इस बात का साक्ष्य है कि ये लोग काफी फाजिल उत्पादन कर लेते थे और फ़ाजिल उपज शहरी केन्द्रों की ओर चालान की जाती होगी। अरिस्टोबुलस ने हजार से अधिक नगरों और ग्रामों के अवशेष देखे थे। यूनान वालों के मन में भारत की भावना मूल्यवान् मसालों वाले देश के रूप में थी। फलों का उत्पादन भी उन्नत अवस्था में थी। विविध पेड़-पौधे आरामों में लगाए जाते थे। एक यूनानी लेखक ने पाटलिपुत्र के एक आराम (उद्यान) का वर्णन इस प्रकार किया है :

"यहाँ छायादार कुंज हैं और वृक्षों की झुरमुटें बनाई हैं और वृक्ष की शाखाओं को बागवानी कला के चतुर दक्ष शिल्पी ने परस्पर आलिंगित करा दिया

है……वृक्ष ऐसे हैं कि जो सदा हरित रहते हैं……वे कभी पुराने नहीं होते और उनके पत्ते कभी नहीं झड़ते…कुछ अन्य देशों से बड़ी हिफाजत के साथ मँगाए हुए हैं और वे इस उद्यान की शोभा और गौरव बढ़ाते हैं। इसमें मनुष्य के हाथों से बने सुन्दर-सुन्दर पोखरे हैं और इन पोखरों में बड़ी-बड़ी मछलियाँ हैं…।"

पेड़ लगाना पुण्य-कार्य माना जाता था, क्योंकि वह देवताओं को फूलों से तृप्त करता है, पितरों की फलों से और अतिथियों की छाया से वृक्षों की कामना पुत्रों की तरह की जाती थी। तरह-तरह की जड़ी-बूटी वाले पौधे पैदा किए जाते थे।

बौद्ध और ब्राह्मण स्रोतों से प्रकट होता है कि तत्कालीन कृषक समाज ने पूर्व की अपेक्षा और भी प्रगति की। आबाद करने की प्रक्रिया अधिक परिष्कृत हुई और कई नई फसलें आईं। कृषि-प्रणाली में नई-नई युक्तियाँ चलीं। कृषि की विभिन्न प्रक्रियाएँ बौद्ध स्रोतों में और पाणिनि में उल्लिखित हैं, जैसे जुताई, बोआई, निराई, कटनी, दौनी, ओसौनी, आदि। मौर्य-पूर्व युग में धर्मशास्त्रों ने कृषि को वैश्यों की सामान्य जीविका बताया है।

कृषक भूधृति (होल्डिंग) को वास्तु कहते थे जिसमें गृह, क्षेत्र (खेत), आराम (बाग), सेतुबन्ध (जलागार), तटाक (पोखरा), आदि शामिल रहते थे। वास्तु की रक्षा के लिए कई तरह के दंडों का विधान था। वास्तु की बिक्री अनुमत थी, किन्तु इस प्रतिबन्ध के साथ कि खरीद में पड़ोसी की अपेक्षा गोतिया को और महाजनों की अपेक्षा पड़ोसी को अग्रता मिलनी चाहिए। ग्रामीण इलाके के भीतर दानों के अन्तरण को और खेतों की बिक्री को गाँव के खेतों की बही में 'गोप' द्वारा दर्ज करा लेना पड़ता था।

खेतिहरों को खेती के लिए फसलें चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी, किन्तु जहाँ नई बस्ती बसाई गई हो, वहाँ दूसरी फसल उगाने का अधिकार समाहर्ता (तहसीलदार) को रहता था। राज्य कई उपायों से खेती को बढ़ावा देता था। खेतिहरों को खेती के लिए ऋण और करों में छूट दी जाती थी और इसे गोप द्वारा ग्राम की बही में तथा गणना-बही में दर्ज किया जाता था। खेतिहरों को कर्ज न चुकाने के अपराध में खेती के मौसम में कैद नहीं किया जाता था। फसल की नई किस्मों के लिए, दुर्लभ बीज के आयात पर सीमा-शुल्क माफ किया जाता था। कृषि-ग्रामों का ताँता एक-एक या दो-दो कोसों की नियमित दूरी पर बसाया जाता था। कृषि-ऋण सुविधानुसार चुकाने की छूट दी जाती थी। भूमि को खेती के योग्य बनाकर कर्षकों को पट्टे पर दी जाती थी। आजीवन अधिभोगाधिकार (कायमी

हक) वाली भूमि पर तथा गैर-आबाद भूमि पर खेती निर्विघ्न करने दी जाती थी। खेत को परती छोड़ना दंडनीय था। कर्षकों की सुरक्षा और अधिकाधिक उपज के लिए हर उपाय किए जाते थे। जलवायु के अनुसार और उपज की दर के अनुसार खेत का वर्गीकरण होता था। कर्षक फसल बदलते रहने का तत्त्व जानते थे। पराशर के 'कृषि-संग्रह' में खेती के औजारों का सविस्तर वर्णन है और हेमचन्द्र ने लोहे से मढ़े हल के उपयोग का संकेत किया है।

यूनानी लेखकों के अनुसार मौर्य-काल में भारत के अधिकांश लोग कर्षक थे और अन्न पर जीते थे। भारत विशाल समतल मैदानों से भरा था, जो बहुत ही उपजाऊ थे, अधिकतर रमणीय थे और नदियों के ताने-बाने से सिंचित थे। भारत के कर्षक मिहनती, समझदार, मितव्ययी और ईमानदार होते थे। कुशल प्रशासन, उचित और निष्पक्ष कानून, तथा जान-माल की सुरक्षा के सुखद प्रश्रय में खेती फलती-फूलती थी। कृषि मुख्य उद्योग थी। मेगास्थनीज ने इस बात को प्रमाणित किया है कि घोर-से-घोर लड़ाई के समय भी किसानों का बाल बाँका नहीं होता था। यह राजा का कर्तव्य होता था कि फाजिल आबादी को नई या उपेक्षित भूमि में बसा कर खेती की व्यवस्था करें। नगरों का द्रुत गति से विस्तार 600 और 300 ई० पू० के बीच के जीवन की विशेषता थी। नगरों की किलाबन्दी हुई और नगर-निवेश (टाउन प्लैनिंगर) का काम शुरू हुआ। पाटलिपुत्र नगर (25 वर्ग मील) समानान्तर चतुर्भुज की आकृति में बनाया गया, कौशाम्बी सम-लम्बाकार में, श्रावस्ती त्रिभुज आकार में तथा वैशाली समकोण आकार में बसाई गई। फाजिल कृषि-उपज मिलने से व्यापार में उन्नति हुई तथा उधार, ब्याज, बन्धक, आदि की अवधारणा एवं प्रयोग होने लगा।

सिंचाई :—खेती की उन्नति के लिए सिंचाई की व्यापक व्यवस्था थी और मेगास्थनीज ने इस बात का उल्लेख किया है कि भूमि के आधे से अधिक भाग को सिंचाई-सुविधा प्राप्त थी। उन्होंने कहा है कि कुछ (कर्मचारी) लोग नदियों की देखभाल करते, जमीन को नापते, जैसे मिस्र में होता है, और उन नालों का निरीक्षण करते जिनसे होकर नहर का पानी अन्य शाखा-नहरों में जाता है, ताकि हर कर्षक को पानी में बराबर-बराबर हिस्सा मिले। कौटिल्य के अनुसार सिंचाई-शुल्क की भिन्न-भिन्न दरें इस बात को देखते हुए निर्धारित होती थीं कि सिंचाई किसी यान्त्रिक युक्ति से हुई है अथवा पोखरों या नदियों से पानी उठा-उठाकर। इन तीनों दशाओं में सिंचाई शुल्क क्रमशः उपज का पाँचवाँ,

चौथा और तीसरा हिस्सा लगता था। पानी चढ़ाने का साधन केवल बैल ही नहीं था, बल्कि वायुबल या पवन-पंखी से चालित यन्त्र भी होते थे। कौटिल्य ने नाली-मुख (स्लुइस गेट) का भी उल्लेख किया है।

पोखरों और जलाशयों को दुरुस्त रखने का ध्यान रखा जाता था। राजा और शासक लोग कृषि की उत्पादन-क्षमता पर नजर रखते थे। खेती का कितना महत्त्व था, यह एक तमिल स्रोत से प्रकट होता है जिसमें कला छह वर्गों में बाँटी गई है और इसमें प्रथम वर्ग है हल चलाना और चौथा वर्ग है वाणिज्य। वे जुताई और वाणिज्य को बहुत महत्त्व देते थे। कूड़े-कचरे और गोबर अच्छी खाद माने जाते थे।

पूर्वकालीन तामिल लोग कृषि को एक विद्या मानते थे और जुताई तथा वाणिज्य को बहुत महत्त्व देते थे। यद्यपि कृषि अर्थ-व्यवस्था का मूलाधार थी, तथापि मनु इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, क्योंकि उन्होंने कहा है, 'लोहे की नोकवाला लकड़ी का कुन्दा धरती को क्षति (घायल) करता है और धरती पर रहने वाले जीवों को घायल करता है।' और ब्राह्मणों के लिए कृषि-कर्म का स्मृतियों में जो निषेध किया गया है, वह स्पष्टतः इसी आधार पर। वैश्यों का कर्त्तव्य था कृषि, पशुपालन, दान, अध्ययन, व्यापार और महाजनी। उन्हें बीज बोने के ढंग तथा खेतों के गुणावगुण का ज्ञान अपेक्षित होता था। महाभारत और पुराणों में छह प्रकार की विपत्तियाँ ('ईति') बताई गई हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डियाँ (शलभ), चूहे, पक्षी और पड़ोसी राज्यों से हमला। बुद्ध और मौर्यों के समय में कृषि उन्नत अवस्था में थी और एक अध्यक्ष की देखरेख में वनों की रक्षा और विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था।

पूर्वकाल में समाज में खेतिहर निम्न स्तर के लोग नहीं समझे जाते थे। बौद्ध काल में कृषि और वाणिज्य केवल वैश्यों के लिए नियत थे। नारद ने राजा को सतर्क किया है कि वे किसान के जीवन की दो महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को न बिगाड़ें- एक उनका घर और दूसरा उनका खेत। बौद्ध संघ आम तौर से अपनी भूमि में खेती बटाई के आधार पर कुशल खेतिहरों से कराता था। कभी-कभी संघ बीज का संचय करना पसन्द करता था जो स्वतन्त्र व्यक्तियों की भूमि में खेती के लिए कर्ज के तौर पर दिया जाता था और इसमें भी दोनों पक्षों के बीच उसी तरह उपज का बँटवारा होता था। 'विनय पिटक' के अनुसार जब अनाज के खेत में खेती संघ के द्वारा की जाती थी, तब उसकी उपज में विहार के उन सेवकों को हिस्सा मिलता था जिन्होंने उस खेती में मिहनत की हो।

सारी उपज छह भागों में बाँटी जाती थी, छठा अंश संघ को मिलता था, जबकि संघ अपनी भूमि और बैल लगाता था।

राज्य परती जमीन और जंगल तोड़कर खेत बनाने के लिए कर्षकों को बढ़ावा देता था। मिलिन्दपञ्हो और मनु ने यह विचार रखा है कि जो जंगल को तोड़कर जमीन को खेत बनाए, वह जमीन उसी की हो जाएगी। अमरकोश में भूमि के विविध प्रकारों की सूची है। पेरिप्लस में गेहूँ और चावल के निर्यात का निर्देश है। इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि जो कोई परती को तोड़कर आबाद करता था और उसमें सिंचाई करता था, उसे तब तक करों से छूट दी जाती थी, जब तक उक्त काम में लगाई गई पूँजी से उसे दूना लाभ प्राप्त न हो जाए। कृषि की सार्वमुखीन उन्नति हो रही थी और यह बात पश्चिम भारत के दानपत्रों से सम्पुष्ट होती है। कई विदेशी लेखकों ने भी कृषि पर प्रकाश डाला है। इस प्रसंग में थियोफ्रेटस और प्लिनी के नाम उल्लेखनीय हैं। वे कृषि उत्पादनों की सूची से वाकिफ थे। उत्तर-पश्चिमी भारत के कृषि उत्पादनों की एक सूची हमें चिएन्हान 25 (पूर्वकालीन हान राजवंश का इतिहास) में भी मिलती है। सतालू और नासपाती कनिष्क के समय चीन से मँगाये गए। कृषि के तरीके में और भी उन्नति हुई। कालिदास ने कृषि और पशुपालन को समृद्धि का मूल कहा है। फाहियान के अनुसार कृषि गाँव का मुख्य उद्योग थी। इस बात की पुष्टि हुएनत्सांग ने भी की है। उन्होंने कहा है कि राजस्व का भुगतान वस्तु रूप में किया जाता था और कश्मीर का शासक अपने कर्मचारियों को वस्तु के रूप में वेतन चुकाता था। हुएनत्सांग के अनुसार मगध का चावल बड़े लोगों का चावल है। हुएनत्सांग के समय में आकर कृषि और पशुपालन वैश्यों की वृत्ति न रहा, अब वह शूद्रों का हो गया। हल चलाना पाप समझा जाने लगा और इसलिए यह काम केवल शूद्रों के ऊपर छोड़ दिया गया।

गुप्त काल में कृषि आर्थिक जीवन की बुनियाद थी। गुप्त अभिलेखों में परती भूमि की खरीद का निर्देश बारंबार आता है। वास और खेती के लिए भूमि की खूब माँग थी। कृषि योग्य और कृषि के अयोग्य परती भूमि भी धीरे-धीरे जोत में आ गई। नारद ने कहा है कि जब खेत का मालिक अपने खेत को आबाद न कर सके और कोई अन्य व्यक्ति मालिक या किसी और की मनाही के बिना उसमें खेती करे तो वह उपज का हकदार होगा। भूमि अनिश्चित काल तक परती न रखने दी जा सकती थी और खेती को बढ़ावा देने के लिए राजा बड़े-बड़े आबाद भूखंडों का दान किया करता था, जिनमें कुछ दान कर मुक्त भी होते थे।

कालिदास के अनुसार, ऋषि भी अपने-अपने आश्रमों की और उनके इर्दगिर्द की भूमि में अपने निर्वाह के लिए खेती करते थे। सिंचाई साधनों का निर्माण होने पर खेती के विकास में और भी बल मिला।

इस काल में खेती में और भी प्रगति लक्षित होती है। जंगल साफ कर नए-नए खेत बनाए गए, नीची जमीन से पानी बहाया गया और कृषि अधिक-से-अधिक महत्त्वपूर्ण होती गई। राज्य ने परती और जंगल को तोड़कर खेत का विस्तार करने के लिए कर्षकों को बढ़ावा दिया। 'अमरकोश' में बताया गया है कि किस-किस प्रकार की भूमि धान, गेहूँ, जौ और तिल की खेती के लिए उपयुक्त है। धान बहुतायत से उपजाया जाता था। दक्षिण भारत गोलमिर्च और अन्य मसालों के लिए मशहूर था और समष्टि रूप से यह क्षेत्र 'गोलमिर्च की भूमि' कहा गया है। कर्षक हर साल दो से तीन बार तक फसल काटते थे। परवर्ती ग्रन्थों में, उन कर्षकों को विशेष छूटें दी गई हैं जो परती को आबाद करते और उसे सींचते। समुद्र पार देशों से नई-नई फसलें भारत में आईं। खेती के तरीके में भी और उन्नति हुई। हल पूर्ववत् सबसे महत्त्वपूर्ण औजार बना रहा और वृहस्पति एवं अमरसिंह दोनों ने हल का सविस्तार विवरण दिया है। कुल्हाड़ी हँसुआ और कुदाल के नए-नए प्रकार प्रचलित हुए। कटनी और दौनी परिष्कृत और विकसित ढंग से होने लगी। नारियल बागान प्रथमतः ई० की दूसरी शताब्दी में दृष्टिगत होते हैं। फलोत्पादन तरक्की पर तरक्की करता गया। सिंचाई भी काफी आगे बढ़ी। इस काल में आकर हमें मिट्टी के गुणों और शस्य के रोगों आदि की सविस्तर जानकारी मिलने लगती है।

खेतों में बाड़ा लगाया जाता था। अन्न या फसल को नुकसान पहुँचाने वालों को दंड दिया जाता था। गुप्तकाल में धृतियाँ (होल्डिंग) सामान्यतः छोटी-छोटी थीं, किन्तु बड़े-बड़े होल्डिंगों में खेती या तो मजदूर रखकर की जाती थी, या बटाई पर देकर। नारद और बृहस्पति ने बड़े भूधारियों और मजदूरों के बारे में नियमों का विधान किया है। भाड़े पर बिकने वाले तीन तरह के श्रमिकों में कृषि सेवक का स्थान बीच में था। सैनिक कृषि सेवक और भारवाहक वृहस्पति ने कृषि सेवकों को अनाज में उनके हिस्से या वेतन के अनुसार तीन श्रेणियों में रखा है—निम्न, मध्य और उच्च, और कहा है कि खेत में खटनेवाले मजदूर को उपज का तृतीयांश या पंचमांश दिया जाएगा। गुप्त राजाओं ने परती भूमि उदार शर्तों पर जनसामान्य के हाथ बेचकर खेती को बढ़ावा दिया है। नारद ने कहा है कि यदि खेत का मालिक किसी मौसम में अपने खेत को आबाद न करे तो उसमें अन्य व्यक्ति खेती कर सकता है। इसका अभिप्राय था उत्पादन को बढ़ाना और

चालू रखना। उन्होंने यह भी कहा है कि जो कोई मूल, फल, जल, आदि को और खेती के औजार को नष्ट करे या बिगाड़े उसे दंडनीय (क्रिमिनल ऐक्ट) अपराधी माना जाएगा। भूमि सम्पत्ति का एक मूल्यवान अंग समझी जाती थी।

भूमि के प्रकार और कृषि कर्म की प्रक्रिया : भूमि आबादी के बहुत बड़े हिस्से का मूल आधार थी। इसका विभिन्न श्रेणियों में विभाजन उत्कीर्ण लेखों और साहित्यिक स्रोतों में वर्णित है। जैसे :

(1) कृष्ट या क्षेत्र (जुता हुआ खेत)
(2) अकृष्ट या अपर (गैर-आबाद या बंजर)
(3) केदार (फसल लगी या सिंचित भूमि)
(4) गोचर या विवीत (चरागाह),
(5) आराम (बाग या उद्यान की भूमि),
(6) स्थल (ऊँची जमीन),
(7) शण्ड (फलवाड़ी),
(8) मूलवाण (आदी, हलदी आदि कन्दमूलों की भूमि),
(9) वन (ईख का खेत),
(10) वन (जंगल)
(10) पथिन (सड़क की जमीन)।

खेती की क्रियावली बोने के लिए खेत की तैयारी से लेकर अनाज के पकने या कटाई तक और अन्त में उसे भंडार में संचित करने तक साहित्यिक स्रोतों में वर्णित है। मिलिन्दपञ्हे में कृषि-क्रम की सारी प्रक्रिया सविस्तर वर्णित है। पहले कृषियोग्य खेत को जोत-कोड़कर तैयार करते थे, इसके बाद बोआई, सिंचाई, बाड़ा-बन्दी, रविवाली, कटनी और अन्त में दौनी होती थी। पतंजलि ने इसी तरह कटे खेत से पौधों की खूँटियों को स्थम्बन नामक एक कुशल से साफ करने का वर्णन किया है। खेत का वर्गीकरण अपेक्षित बीज की मात्रा के आधार पर किया गया है ; जैसे 'प्रास्थिक', 'द्रौणिक', और 'खारिक' क्रमशः वे क्षेत्रखंड हैं जिनमें क्रमशः एक प्रस्थ, एक द्रोण और खारी बीज लगते हैं। बोआई शुभ दिन में होती थी। खेत की सिंचाई नहरों के पानी से की जाती थी, जिनके कई नाम हैं, जैसे 'कुल्या', 'प्रणाली' और 'मतीक'। वैदिक 'खनिमित्र' का अर्थ किया गया है कुएँ से निकाले गए पानी को खेत में ले जाने की कृत्रिम नाली। बाड़, जाल और रखवाले खेत को चिड़ियों और चौपायों से रक्षा करते थे। यूनानी लेखकों ने एक तरह की सामूहिक खेती का उल्लेख किया है।

कर्षक अपनी फसल की रक्षा के उपाय करते थे। फूँस का पुतला (चञ्चाभिरूप) खेत में खड़ा कर दिया जाता था, ताकि कौआ और अन्य पक्षी डर से दूर रहें। चूहों, टिड्डियों, बाजों आदि से भी खतरा रहता था। कटनी एक हँसुए से की जाती थी। स्वामी-किसानों का एक संगठन होता था जिसका प्रधान 'भोजक' रहता था। स्मृतियों में खेती के औजारों, बाँधों, मूलों, फलों, फूलों को नष्ट करने या नुकसान पहुँचाने वालों तथा पानी के बहाव को रोकने वालों के लिए दंड का विधान है। अपने खेत की उपेक्षा करने वालों को दंड मिलता था और परती को तोड़कर खेत बनाने वालों को पुरस्कार दिया जाता था। नौवीं शताब्दी ई० से यन्त्रावलम्बन का कुछ आभास मिलने लगता है, जब ईख की पेराई के लिए यन्त्र (कोल्हु) का प्रयोग शुरू हुआ।

पशुपालन—कर्षकों को पशु की आवश्यकता होती थी और पशुपालन कर्षकों का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन गया। इस व्यवसाय के लोग पूर्वकाल में **'गोप'** या **'गोपालिका'** कहलाते थे। गायों के घर को 'शाला' कहते थे और हमें **'दोहक'** (दुहनेवाला), 'मन्थक' (महनेवाला), **'लुब्धक'** (शिकारी) तथा भैंस के जमादारों का निर्देश मिलता है। पशुशालाओं में बछड़े, बैल, साँड़ और भैंस आदि पाले जाते थे। जंगली पशु भी पाले जाते थे। पशुपालन का महत्त्व **महाभारत** में भी वर्णित है जिससे मालूम होता है कि पशुपालन नियमित रूप से होता था। चरवाहों और पालकों को जिन्सी (अनाज आदि के रूप में) पारिश्रमिक दिया जाता था। पशु-आयुर्विज्ञान भी लगता है विकसित हो चुका था।

कृषि-उत्पादन—फसलों में थे विविध प्रकार के धान, कोद्रव (कोदो, एक मोटा अनाज), तिल, प्रियंगु (कौनी), दलहन-जैसे मुद्ग (मूँग), माष (उर्द), मसूर कुलत्थ, जौ, गेहूँ, आदि अन्न; शाक, मूल, केला, कोंहरा, कद्दू, आदि सब्जियाँ; अंगूर ईख, आदि फल; तथा अन्यान्य अन्न, जैसे कलाय, अलसी, सरसों, आदि। धान की कई किस्में थीं, जैसे 'शालि', 'व्रीहि', तण्डुल', 'महाव्रीहि', आदि। पतंजलि ने मगध की शालि की प्रशंसा की है। सुश्रुत में 'महाशालि' का उल्लेख है। हुएनत्सांग ने भी मगध के धान की इस किस्म की चर्चा की है। इसका चावल समाज के केवल उच्च स्तर के लोग खाते थे। नालन्दा में हुएनत्सांग का आतिथ्य इसी चावल के भात से किया गया था। पाणिनि ने धान की तीन किस्मों की चर्चा की है 'हायन', 'षाष्ठिक' और 'निवार'। मक्का, चना, मटर आदि का भी उल्लेख है। रुई, अलसी के रेशे, रेशम, पटसन आदि भी उपजाए जाते थे। नौवीं शताब्दी ई० के माधवकर ने जो शिलाह्लद अर्थात् पूर्व भारत के वटेश्वर में उत्पन्न हुए थे और 'माधवनिदान' नामक प्रख्यात ग्रन्थ के लेखक हैं, अपने ग्रन्थ 'पर्यायरत्नमाला' में विभिन्न कृषि-उत्पा-

दनों की व्यापक जानकारी प्रस्तुत की है ('पयूज'—I.) और जिसको बारहवीं शताब्दी के सर्वानन्द ने उद्धृत किया है । मानसोल्लास ने कलिंग देश में होनेवाले चावल के गुणों का वर्णण किया है। अपरार्क ने मगध को शालि से समृद्ध कहा है।

आर्थिक असमानता—कृषि के दायरे में यह आशा की जाती थी कि भूमि-अर्थव्यवस्था जनता को आत्मनिर्भर बनाएगी। दिहाती अर्थव्यवस्था का केन्द्र ग्राम था। भूमिहीन मजदूरों की हालत दासों से भी बदतर थी। अपने खाली-खाली बसारों वाले घर को छोड़ शाही पूँजीपतियों की जिरात (एस्टेट) में भाड़े के टट्टू की तरह खटते हुए हट्ठे-कट्ठे किसानों के दृश्य को जबरदस्त आर्थिक असमानता से उत्पन्न सामाजिक पतन का दुर्भाग्यपूर्ण प्रमाण कहा जाता है। बेगारी के चलते टूटी कमर वाले गरीब कर्षकों को उत्पादन बढ़ाने का कोई उत्साह न रह गया था। बड़ी-बड़ी भूधृतियाँ भी थीं और हमें ब्राह्मणों की जोत में एक हजार करीष के क्षेत्रफल के एक खेत का हवाला मिला है तथा एक ऐसे विशाल खेत का निर्देश मिला है जिसमें पाँच सौ हल बहते थे और भाड़े के मजदूरों की एक भारी जमात खटती थी।

कृषि पर कर—कौटिल्यानुसारी राज्य-नियन्त्रण ने आर्थिक पद्धति के एक विशेष रूप का जन्म दिया। राज्य ने कृषि पर तरह-तरह के कर लगाए, तरह-तरह की देनदारियाँ लादीं, जैसे उपज में राजांश, बेगारी, युद्ध या अकाल जैसे संकट से जूझने के लिए स्थापित राजकीय अन्नभंडार में अंशदान, और समय-समय पर राजा को मदद आदि। कृषि पर ये कर लगते थे—

(1) **भाग** (उपज में राज्य का अंश);
(2) **बलि** (भाग के अतिक्ति राशिवाला सेस);
(3) **कर** (सम्पत्ति पर लगा टैक्स, जो नियत कालों पर उगाहा जाता था);
(4) **विवीत** (चरागाह पर लगाया गया कर)',
(5) (रज्जु) सर्वेक्षण एवं बन्दोबस्त के लिए लगा कर) और
(6) **चोररज्जु** (पुलिस-व्यवस्था-कर)।

मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने का अधिकार राजा को है। मनु का मत है कि बाटों और मापों को राजमुद्रा से प्रमाणित किया जाय और समय-समय पर उनका निरीक्षण होना चाहिए। यह बात नारद या कात्यायन ने नहीं कही है। इससे यह संकेत मिलता है कि प्रशासन के केन्द्रीयकरण की नीति के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया हुई होगी। कौटिल्य ने अन्नों के वितरण में समानता लाने के उद्देश्य से अनुभाजन (राशनिंग) पद्धति का जो

सुझाव दिया गया है उससे नियोजित अर्थव्यवस्था (प्लैन्ड इकोनामी) का आभास मिलता है।

II

पशु-पालन—पशुपालन प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग था। वैदिक आर्यजन बहुत दिनों तक पालतू पशुओं के साथ जीवन बिताते रहे। बेटी और पटरानी के अर्थ में क्रमशः 'दुहिता' (दुहनेवाली) और 'महिषी' (भैंस) शब्द का प्रयोग इसी बात का संकेत देता है। पशु अर्थात् गाय का रक्षक 'गोप' कहलाता था और जन-सभा 'गोष्ठी' कहलाती थी और अधिकाधिक गाय पाने की इच्छा से जो बन्धुविग्रह हुआ उसका नाम 'गविष्टि' था। वैदिक साहित्य में गाय, घोड़े, भैंस, भेड़, बकरे आदि का उल्लेख है और ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि पशुओं की रक्षा और पालन करो, पशुधन बढ़ाओ (प्रजाः पशवः), गायों को दुधारू बनाओ, घोड़ों को हृष्ट बनाओ, उन्हें विपत्तियों से बचाओ। गाय का दूध (क्षीर) भोजन का एक मुख्य अंग था। बैलों से खेत जोता जाता था और गाड़ी चलाई जाती थी। हल या गाड़ी में जुते जानेवाले बैल को बधिया किया जाता था। सींग पिजाए जाते थे और आभूषित किए जाते थे। गायों को चरवाहे चराने के लिए चारागाह ले जाते थे और उन्हें स्थलों में(बथानों में) रखा जाता था। 'व्रज' का अर्थ था पशुओं को चराने की जगह। किसका कौन पशु है, इसकी पहचान के लिए पशुओं में दाग लगाए जाते थे। भेड़ का मुख्य लाभ ऊन था। कहा गया है कि पूषण भेड़ के ऊन से परिधान बुनते थे। कुत्तों का उपयोग खेत और घर की रखवाली में किया जाता था।

रामायण और **महाभारत** में पशुपालन एक नियमित व्यवसाय के रूप में वर्णित है। सहदेव ने विराट् राजा के यहाँ पशुपाल का काम किया था। नकुल ने अश्वपाल का काम किया था। गजसूत्र, अश्वसूत्र और रथसूत्र के बारे में नारद ने जो प्रश्न किए, वह इस बात के सूचक हैं कि उस समय में पशुओं के शास्त्रीय (वैज्ञानिक) विधि से प्रजनन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कहा गया है कि "गाय सदा अभ्युदय का मूल है।" मनु के अनुसार भूमि का एक भाग पशुओं के चरने के लिए छोड़ देना चाहिए और ऐसा भूभाग नगरों और महानगरों के इर्दगिर्द भी सुरक्षित रहना चाहिए। पशुपाल पशुओं की हर प्रकार की दुर्घटना, मृत्यु, बरबादी, चोरी आदि के लिए जिम्मेवार होता था।

चारागाह गाँव के निकट में नियत रहती थी। गाय भैंस के लिए, बकरी के लिए, राजा के पशुओं के लिए, और जन-सामान्य के लिए अलग-अलग चारागाह

होती थी। पशुपाल पशुओं के शरीर से कष्टदायक कीड़ों को दूर करता था और डांस और मच्छर को भगाने के लिए आग जलाकर धुआँ करता था। कृषि के लिए बैल अनिवार्य था और इसी तरह आवश्यक था सवारी और ढुलाई के काम के लिए। घोड़े और हाथी शासकों और अमीरों के लिए बड़े उपयोगी थे।

कौटिल्य ने पशुओं और जन्तुओं के कल्याण के लिए विशेष विभागों का उल्लेख किया है और इस काम के लिए छह अधिकारी या अध्यक्ष थे :-(1) **गवाध्यक्ष** (2) **गोचराध्यक्ष**, (3) गजाध्यक्ष, (4) **वनाध्यक्ष**, (5) **अश्वाध्यक्ष** और (6) **क्रीड़ा-पाल**।

सम्बद्ध अधिकारी का कर्तव्य था पशुओं की एक बही रखना, लावारिश और भटके पशुओं सहित सभी पशुओं को अंकित करना, दागों की आकृतियां निबन्धित करना तथा खोए पशुओं के विषय में विशेष ब्योरा तैयार करना। ये अध्यक्ष लोग विभिन्न शाखाओं के काम सँभालने के लिए अपने अधीन कई तरह के कर्मचारियों को रखते थे। इनकी सेवा की शर्तें कई तरह की होती थीं, जैसे—

(1) वेतनप्रतिग्राहक (नियत मजूरी पानेवाला),
(2) कर-प्रतिकर (घी के कुछ बएक),
(3) भग्नोत्स्टष्टिक (गोरस में हिस्सा पानेवाला),
(4) भग्न प्रविष्टक (गोरस में दशांश पानेवाला)।

पशुओं को कितना चारा दिया जाय, यह राज्य की ओर से नियत रहता था। गाय चराने, दुहने और दूध को मथने के बारे में भी नियम निर्धारित थे। पशुओं के साथ क्रूर व्यवहार करनेवाले पशुपालों को सजा दी जाती थी। बीमार पशुओं की दवा की जाती थी। पशुपालक के जिम्मे की गई गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट आदि यदि मर जाए तो उसके प्रमाणस्वरूप उस की पहचान के दाग से युक्त खाल दाखिल करनी पड़ती थी।

गोचराध्यक्ष का काम नये-नये गोचर बनाना भी था। इसका उद्देश्य परती जमीन को काम में लाना भी था। भिन्न-भिन्न वन भिन्न-भिन्न मौसमों में गोचर बनाए जाते थे। वन को पशु के वास्ते सुरक्षित बनाने के लिए शिकारी बहाल किए जाते थे। **अश्वाध्यक्ष** हर प्रकार के घोड़ों का ब्योरा बही में दर्ज करता था। कम्बोज, सिन्धु, आरत्त और वनायु देश के घोड़े उत्तम माने जाते थे, वाल्हीक और सौवीर आदि मध्यम तथा शेष अधम। पशुओं की देखभाल के लिए पशुचिकित्सक भी होते थे। हाथियों को शिक्षित करने के लिए एक विशेष अध्यक्ष नियुक्त रहता था, क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि सेना की दक्षता हाथियों की दक्षता पर निर्भर

थी। इसलिए हाथी बझाना एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्य था। कौटिल्य ने हाथी के शिकार का बड़ा विशद वर्णन किया है। कलिंग, अंग, करूष और पूरब से आए हाथी उत्तम होते थे; दशार्ण और पश्चिम देशों से आए मध्यम और सौराष्ट्र से आए अधम होते थे।

III

सिचाई—कृषि के विकास से सम्बद्ध कामों में हर प्रकार की सिंचाई प्रयुक्तियाँ भी शामिल थीं। सूखा, बाढ़ और अकाल की विपत्ति से प्रजा को बचाना राज्य का कर्तव्य होता था। जिस देश में प्रजा वर्षा पर निर्भर हो, वहाँ कृत्रिम ढंग से सिंचाई की व्यवस्था आवश्यक है। प्राचीनतम काल से ही भारतवासी किसी-न किसी प्रकार के सिंचाई-साधन का सहारा लेते आए हैं। पोखरों और नहरों की खुदाई होती थी। सिन्धु घाटी में बाँध थे और लोथल में सिंचाई की नहरें पाई गई हैं। ऋग्वेद का घटचक्र और अश्मचक्र सम्भवतः सिंचाई-साधन थे। सरों, झीलों पर विशेष जोर दिया गया है, ताकि खेती में वर्षा का मुँह न जोड़ना पड़े। कौटिल्य ने ठीक ही कहा है कि जलाशय अन्न का मुँह है। हेमाद्रि ने पोखरों के निर्माण के पुण्य का वर्णन किया है और आगे कुओं, तड़ागों, नहरों, पोखरों आदि के निकट प्रपा (प्याऊ) बनाने का पुण्य बताया है। एलेन ने कोल्हापुर में प्राप्त पूर्वकालीन आन्ध्र सिक्का पर अंकित कुछ प्रतीकों को सिंचाई में व्यवहृत जलचक्र ठहराया है। वी.आर. दीक्षितर के मत से खेती के लिए सिंचाई-सुविधाएँ राज्य की ओर से दी जाती थीं।

राज्य और सिंचाई—राज्य द्वारा सिंचाई का प्रबन्ध मौर्य-काल का सामान्य लक्षण है। अधिकारियों का एक नियमित दल रहता था जिसका काम था मुख्य नहर से शाखा-नहरों में पानी छोड़ने के नाल-मुखों (फाटकों) का पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण करना, ताकि हर काश्तकार को समान रूप से पानी मिल सके। स्त्राबो के अनुसार नाल मुखों का निर्माण मुख्य नहर से शाखा-नहरों में पानी छोड़ने के लिए किया जाता था। '**गाथासप्तसती**' में पानी उठानेवाले यन्त्र, '**रहट्टघड़िआ**' का उल्लेख है। सिंचाई के यान्त्रिक उपकरणों का इतना प्रचार हुआ कि सिंचाई यन्त्र बनानेवालों के कई वृत्तिसंघ बन गये थे जो '**ओदयान्त्रिक**' कहलाते थे। '**अरघट्**' का उल्लेख कई उत्कीर्ण लेखों में मिलता है। यह एक प्रकार का धाराचालित जलोद्वहयन्त्र (वाटरलिफ्ट) होता था जिसमें धारा में नाच रहे एक चक्र के चतुर्दिक शृंखलाबद्ध मिट्टी के घड़े टँगे होते थे। यह पूर्वकालीन सिंचाई-यान्त्रिकों की कारीगरी का उदाहरण है। एक जैन स्रोत में कर्णाटक में कुओं और तालाबों

का निर्माण करानेवाले ऋषभदत्त की प्रशंसा की गई है। नागार्जुनकोण्डइ में भी सिंचाई के लिए बनी नहरों का अवशेष मिलता है।

खेती के लिए सिंचाई परमावश्यक मानी जाती थी और जहाँ सिंचाई-नहरें दूसरे के खेत में पड़ती हैं, वहाँ भी काश्तकार को उन नहरों के उपयोग का हक रहे, इसके लिए राज्य पहले से सावधान रहते हुए उचित व्यवस्था करता था (ए इ XIII.2/2 और आगे)। एक जगह ऐसा संकेत मिलता है कि नदी-नालों और पोखरों के उपयोग के लिए पहले ही राज्य की अनुज्ञा ले लेनी चाहिए (ए इ III.127 और आगे)। सिंचाई-साधनों को नुकसान पहुँचाना बड़ा अपराध माना जाता था। कौटिल्य के अनुसार, बांध को काटनेवाले व्यक्ति को पानी में डुबाकर मार देना चाहिए (अ शा, IV. II)। मनु ने भी ऐसा ही विधान किया है और उन्होंने जुरमाने का भी विधान किया है। उनकी सलाह है कि जो कोई पोखरा, सर, आदि बनवाए उसे सिंचाई-शुल्क में पाच वर्षों तक छूट दी जाए, जो कोई उपेक्षित या भग्न सिंचाई-साधन की मरम्मत कराए या उसका सुधार, विस्तार या जीर्णोद्धार कराए, उसे चार वर्षों और तीन वर्षों की छूट तथा जो कोई नव-निर्मित सिंचाई साधन को बन्धन या खरीद द्वारा अर्जित करे, उसे दो वर्षों की छूट मिलनी चाहिए। तक्षशिला, मथुरा और अन्य स्थानों के उत्कीर्ण लेखों में बड़े-बड़े पोखरों, जलागारों आदि का उल्लेख मिलता है।

राजा और मन्त्री सभी अपने इलाके की भूमि की सिंचाई की व्यवस्था करने की अपनी जिम्मेदारी के प्रति सतर्क रहते थे। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि नन्दवंश के एक राजा की अमलदारी में तोशली नगर में एक नहर खोदी गई और उसके रखरखाव और मरम्मत का भार राज्य के ऊपर था। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से प्रकट होता है कि सिंचाई-साधनों का निर्माण आमतौर से करारोपण करके, बेगारी लेकर तथा राजकुमारों से आपातिक चन्दा ले लेकर राज्य कराता था।

रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उल्लिखित 'सुदर्शनसर' चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में राष्ट्रीय पुष्यगुप्त द्वारा पूर्व में बनवाया गया था, अशोक के शासन काल में यवनराज तुशाष्प द्वारा उसका जीर्णोद्धार किया गया और उनसे नहरें निकाली गई और रुद्रदामन ने मन्त्री के निषेध की उपेक्षा करते हुए बेगारी लिए बिना ही उसका पुनरुद्धार किया। सुविशाख के पर्यवेक्षण में इसकी मरम्मत हुई। स्कन्दगुप्त के राजकाल में उनके शासक चक्रपालित ने बांध का पुनर्निर्माण कराया। स्कन्दगुप्त ने इसकी समस्या पर तुरत ध्यान दिया। इसे सुदृढ़ कराया गया और इसे मौलिक बाँध, नालियों तथा नालों से मुक्त किया और गन्दे पानी से बचाए

रखने का उपाय किया गया। गुप्तोत्तर काल और पूर्व मध्यकाल में सिंचाई के कार्य-कलाप में राजा की दिलचस्पी बन्द हो गई। काश्मीर के हर्ष, गुजरात के सिद्धराज जयसिंह चालुक्य और कर्ण ने भी सिंचाई के काम में दिलचस्पी ली। अपराजितपृच्छ (पृ. 187) में राजा को उपदेश दिया गया है कि वे सूखे से होनेवाले अकाल के भयानक परिमाणों से बचाने के लिए सिंचाई-साधनों को बढ़ाते रहें।

परवर्ती काल में सिंचाई के पोखरों का अभाव इस बात का संकेत देता है कि इस विषय में राज्य ने मुख्य जिम्मेवारी लेना छोड़ दिया। हमें ज्ञात है कि कादम्ब राजा रविवर्मन ने एक जलबन्ध बनवाया था (ए इ, XXXI.217 और आगे)। गांगराजा देवेन्द्रवर्मन ने, जब राज्य को इसकी जिम्मेदारी न रही, जलधारा सहित एक हल (रकबेका) खेत एक ब्राह्मण को दान दे दिया। सिंचाई-निर्माण सम्बन्धी जो कोई भी काम हाथ में लिया गया, उसे तात्कालिक चन्दा उगाहकर पूरा किया गया। कल्हण ने बाँधों की मरम्मत और जीर्णोद्धार का उल्लेख किया है। अवन्तिवर्मन की सम्पोषकता में सूय्य की भारी आभियान्त्रिक कार्रवाई के बदौलत काश्मीर को बचाया जा सका, खेती के लिए बड़े-बड़े भूखंड उपलब्ध कराए गए और चावल की कीमत गिरी(राजत, V.68-121, एइ-XXX.72)।

खेती की उन्नति के लिए सिंचाई की विस्तृत व्यवस्था थी। वैदिक काल में ही हमें एक शब्द मिलता है 'खनित्रिम' जिसका अर्थ किया जाता है कुएँ से निकाले गए पानी को इष्ट दिशा में ले जाने के लिए बना कृत्रिम प्रणाल। कुएँ, पोखरे, वापियाँ आदि सिंचाई के लिए दिए जाते थे। ऋग्वेद में खेत को सींचने में कुएँ के पानी के उपयोग का एक निर्देश मिलता है और इस संदर्भ में 'अवट' शब्द का बार-बार प्रयोग आया है (जिसका अर्थ है कूप) म्योर ने इसका अर्थ 'कुल्या' (अर्थात् कृत्रिम जल-प्रवाह-मार्ग)किया है। अथर्ववेद में नहर की खुदाई की चर्चा है और कौशिकसूत्र में इसका व्यावहारिक भाग (क्रियाविधि ?) बताया गया है। वायु की शक्ति पर पवन-पंखी के सहारे चलनेवाले यान्त्रिक उपकरणों द्वारा पानी ऊपर उठाने का साधन भी था। कौटिल्य ने सिंचाई-निर्माणों (सेतुबन्धों) का उल्लेख किया है।

भारतीय कर्षकों ने सिंचाई के महत्त्व को बहुत पहले समझा। बौद्ध स्रोतों से ज्ञात होता है कि खेत को सींचने के वास्ते नहर खोदनेवाले तीन वास्तुकार (इन्जीनियर) थे (थेरीगाथा, 19,877)। कई तरह के छहरवाले चौकोर जलाशयों का भी निर्देश मिलता है। शाक्यों और कोलियों ने रोहिणी नदी पर एक बाँध बनाया था। दक्षिण भारतीय उत्कीर्णलेखों में भी सिंचाई के पोखरों का उल्लेख है जो 'खेरओ' या 'केरि' कहलाते थे और इनके अनुरक्षण के लिए प्रजा से वसूले

जानेवाले उपकर (चन्दे) का भी उल्लेख है। अपराजितपृच्छा (पृष्ठ 188) के अनुसार, सिंचाई के प्रचलित साधन थे पोखरा, नदी, कूप, यन्त्र-कूप, अरहट्ट, नदी बन्ध, सर, आदि। अरहट्ट या अरघट्ट का उल्लेख कई उत्कीर्णलेखों में मिलता है। इस शब्द का उल्लेख साहित्यिक स्रोतों में आठवीं शताब्दी ई० से मिलने लगता है तथा गुजरात और राजस्थान के उत्कीर्णलेखों में मिलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि सिंचाई में तकनीकी दक्षता क्रमशः बढ़ती गई। प्रतिहार-काल (दसवीं शताब्दी ई०) के एक अभिलेख में सिंचाई में रहट (अरघट्ट) के प्रयोग का निर्देश पाया जाना ध्यान देने योग्य है। 'अरहट्टीयनर' शब्द का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है एक प्रकार का मजदूर, (जो रहट चलाता था) (आख्यानुक्रमणिकाकोश)। लक्ष्मीधर ने दानयोग्य वस्तुओं में सिंचाई के ऊँचे जलाशयों को भी गिनाया है। कहा गया है कि कृषिविद्या का दान करने से महान् पुण्य होता है। जिनके पोखरे में बरसाती पानी संचित होता है, वह अग्निहोत्र का पुण्य पाता है।

वृष्टिपात—वराहमिहिर की बृहत्संहिता में वृष्टि और वृष्टिपात की चर्चा तथा खगोल विज्ञान और मौसम-विज्ञान के आधार पर शकुनों और प्रान्तिक विचित्रताओं के अवलोकन के आधार पर महावृष्टि और अल्पवृष्टि के पूर्वानुमान की चर्चा कई बार की गई है। इन सबों से यह प्रकट होता है कि कृषि परम्परागत रीति से चलती रही। वराहमिहिर ने वर्षा की एक मापनी (गेज) का भी उल्लेख किया है।

मौसमविज्ञान—कौटिल्य ने 'ऋतुज्ञान' की चर्चा की है, जिस पद का प्रयोग वर्षा की स्थिति के प्राकृतिक बोध के सम्बन्ध में हुआ है। इस समस्या के बारे में कुछ-न-कुछ ज्ञान जनसाधारण को रहता था। फैले मुँहवाले एक पात्र ('अरत्नि') का प्रयोग वर्षा-मापने के रूप में किया जाता था और ऐसा पात्र संचय गृह के सामने रख दिया जाता था। वर्ष भर में कितनी वर्षा होगी, इसका पूर्वानुमान करने का एक साधन था ग्रह-स्थितियों का अवलोकन। इस प्रकार का भविष्य-कथन बृहस्पति की स्थिति, संचार और सगर्भता के आधार पर; शुक्र के उदय, अस्त और संचार के आधार पर तथा रवि के प्राकृतिक या अप्राकृतिक स्थान के आधार पर किया जाता था। सूर्य से बीच के अनुकरण का ज्ञान, बृहस्पति की स्थिति से अन्नपुष्टि का ज्ञान तथा शुक्र के संचार से वर्षा का ज्ञान किया जा सकता था। सारे संसार में वृष्टिपात समान कभी नहीं होता। मरुभूमि में सामान्य वृष्टिपात सोलह द्रोण होता था, उसका डेढ़ गुना कुरुजांगल देशों (नम इलाकों) में, साढ़े तेरह द्रोण, अश्मक देश (महाराष्ट्र) में, तेईस द्रोण, अवन्तिदेश में और असीम

मात्रा में पश्चिमी देशों में (कोंकण में) हिमालय के प्रान्तों में तथा उन देशों में जहाँ सिंचाई में नहर का उपयोग किया जाता है। वृष्टिपात उस हालत में पूर्णतः सम (समवितरित) माना जाता है, जब निर्धारित मात्रा का तृतीययांश वर्षा ऋतु के आरम्भ और अन्त में हो और दो-तिहाइयाँ मध्यम में हों। जहाँ वात और सूर्य-किरण से रहित वृष्टि इस तरह हो कि तीन फेरा हल चलाया जा सके, वहाँ अच्छी उपज सोलहों आना निश्चित है। पानी के बिना उपज सम्भव नहीं है, इसलिए खेती में सिंचाई जरूरी है। कृषि अच्छी वृष्टि, अच्छी ऋतु और अच्छी सिंचाई सुविधाओं पर निर्भर है।

सिंचाई-शुल्क—सिंचाई-शुल्क अलग ढंग की सिंचाई के लिए अलग-अलग था, जैसे यान्त्रिक साधन से सिंचाई अथवा पोखरे या कुएँ से पानी उठाकर सिंचाई। कौटिल्य ने सिंचित भूमि पर शुल्क की उगाही का उल्लेख किया है। इसकी दर सिंचाई के प्रकार और ढंग के अनुसार भिन्न-भिन्न होती थी, हालाँकि नदियों, झीलों और पोखरों से सिंचित भूमि पर समान दर से उपज की एक चौथाई राज्य को देय होती थी। जाड़े और गर्मी की फसलें सिंचाई के लिए उपलब्ध जलापूर्ति के अनुसार उगाई जाती थीं। हमें प्रथम शताब्दी ई० में ही **'औदयान्त्रिकों'** (जल अभियन्ताओं) के वृत्तिसंघ का निर्देश मिलता है। कर्षक तृतीयांश से पंचमांश तक सिंचाई-शुल्क '(**'औदक भाग'**) चुकाते थे। पोखरे आदि लोकोपकारी निर्माणों के मुआवजे के रूप में राजस्व का दसवाँ हिस्सा काटा जाता था जो **'दशबन्ध'** कहलाता था (विलसन, एच० एच, **ग्लासरी** पृष्ठ 127 और आगे।)

IV

अकाल—मिट्टी की उर्वरता, सिंचाई-साधनों का विस्तार, बड़ी-बड़ी नदियों का अस्तित्व, साल में दो बार कटनी का होना तथा सेना के उत्पातों से किसानों की उन्मुक्ति—इन सभी कारणों से भारतीय इतिहास के पूर्व काल में यहाँ का कर्षक वर्ग अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्दता (निश्चिन्तता) का अनुभव करता था। किन्तु सूखा और अकाल अज्ञात नहीं थे। बौद्ध साहित्य में दुर्भिक्ष का और उसका सामना करने के लिए राजा द्वारा किए गए उपायों का उल्लेख है। निम्नलिखित तीन तरीकों का उल्लेख किया गया है :

(i) चञ्चु—प्रेतात्माओं की शान्ति के लिए मंजूषा में संगृहीत अन्न पर लोगों को जीवित रखा जाता था;

(ii) श्वेतास्थि—हड्डियाँ उबाली जाती थीं और उसका शोरबा पीकर लोग जीते थे; और

(iii) शलाकावृत्ति—लोग अन्न और गुड़ जमा करते थे, उसे पोली छड़ों में भरते थे और उन छड़ों को उबालकर उसका शोरबा पीते थे।

दुर्भिक्ष केवल वर्षा के अभाव से ही नहीं, बल्कि टिड्डी दल, ओले या अन्य प्राकृतिक उत्पात के कारण फसल या उपज के नष्ट होने से भी होता था। फसल को चट करनेवाले जन्तुओं को मारने के लिए खाई खोदते, खूँटे बैठाते, पत्थरों का फन्दा व पेड़ों का जाल लगाते। दुर्भिक्ष का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। **रामायण** में अंग देश के राजा के राज्य में हुए एक दुर्भिक्ष का उल्लेख है। **महाभारत** में आया है कि एक बार बारह सालों की अनावृष्टि हुई और यत्र-तत्र हड्डियों के ढेर दिखाई पड़ने लगे। ऐसे अकालों के समय सभी सामान्य नैतिक नियम शिथिल पड़ जाते थे। कहा गया है कि संकट के समय सभी जातियों और वर्णों के लोग कोई भी पेशा अपनाने के लिए स्वतन्त्र हैं, जिससे प्रकट होता है कि ऐसा समय यदा-कदा आता ही रहता था। **अजगर्त** (जो अपनी भूख मिटाने के लिए अपने पुत्र शुनःशेप को मारने के लिए तैयार हुआ), **वामदेव** (जो कुत्ते का मांस खाना चाहा), **भारद्वाज** (जिन्होंने एक चंडाल के हाथ से कुत्ते का रान लेने को तैयार हो गए) की कहानियाँ ऐसे अकाल की स्थिति का चित्र प्रस्तुत करती हैं। देश के विभिन्न भागों में हुई अनावृष्टियों और दुर्भिक्षों के निर्देश जातकों में भी मिलते हैं। प्राचीन भारत में दुर्भिक्ष को केवल आर्थिक घटना नहीं, बल्कि एक नैतिक घटना भी समझा जाता था और ऐसा माना जाता था कि राजा जब अपने धर्म से च्युत होता है तभी देश में अकाल पड़ता है।

शासक लोग दुर्भिक्ष और प्राकृतिक प्रकोप से बचाव के लिए निरोधात्मक और प्रतिकारात्मक दोनों तरह के उपाय करते थे। व्यापक सिंचाई-व्यवस्था, नरम और लचीली कर-ग्रहण-व्यवस्था, शिल्प और उद्योग के साथ कृषि को पुरजोर बढ़ावा—ये सभी उपाय सामान्य काल में दुर्भिक्ष के निवारण के लिए पर्याप्त थे। संकट के समय अनाज की अप्रत्याशित माँग की पूर्ति के लिए सामान्य समय में अन्न-संचित रखने की व्यवस्था थी। कठिनाई में पड़े कर्षकों को राज्य से कर्ज मिलता था। राजा को सलाह दी गई है कि वैश्यों के प्रति कृपा-दृष्टि रखी जाए, क्योंकि वे कृषि की उन्नति करके राष्ट्र के बल को बढ़ाते हैं। वन-संरक्षण से कृषि के विकास को बड़ा बल मिला। दुर्भिक्ष के समय राजा प्रजा को बीज और अन्य सुविधाएँ देते थे—

(i) अपना धन या धनी लोगों की संचित निधि आय प्रजा में बाँटकर अनुग्रह कर सकता था;

(ii) मित्र राज्यों से सहायता माँग सकता था;

(iii) अपनी प्रजा-समेत दूसरे राजा के राज्य में चला जा सकता था;

(iv) धनी लोगों से अधिक राजस्व वसूल कर उन्हें निम्न स्तर में ला सकता था;

(v) समुद्र के किनारे या नदी के किनारे चला जा सकता था।

1054 ई० में अलंगुडि गाँव में अकाल पड़ा तो समूचे गाँव को दूसरी जगह जा बसना पड़ा। अकाल के कष्ट को बड़े आतंक के साथ देखा जाता था (इऐ—L1II·192 और आगे)। दुर्भिक्ष और सूखे से लोगों को भयानक हानि और पीड़ा होती थी। पुरालेखों और साहित्यिक स्रोतों में दुर्भिक्ष की चर्चा मौर्यों की अमलदारी से ही मिलने लगती है। प्रजा की प्राणान्तक पीड़ा का विशद चित्र 'अपराजित पृच्छा' (पृष्ठ 187) में आया है। अकालग्रस्त क्षेत्र में धर्म (नैतिकता) का पतन हो जाता था, जनता की पीड़ा बढ़ जाती थी। अकाल से आबादी का विस्थापन भी होता था। अकाल से होनेवाले कष्टों का वर्णन अपभ्रंश कवियों का प्रिय विषय था (हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ 392)।

प्रजा को अकाल की पीड़ा से बचाने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में व्यापक उपाय किए गए थे। राजा ने अकालग्रस्त लोगों को रोजगार देकर, खैरात बाँटकर, चन्दा जुटाकर और दूसरों से सहायता लेकर राहत का काम शुरू किया। इस बात की पुष्टि दो तत्कालीन पुरा लेखों से होती है (जइहि-1975)।

V

खेती के कामों की सामान्य समीक्षा

खेती के काम में मानसून (वर्षा) का महत्त्व प्राचीन भारत में वैसा ही था, जैसा आज है। कृषि की सफलता समय पर वर्षा होने पर निर्भर थी। वैदिक साहित्य में समय पर वर्षा के लिए प्रार्थना मिलती है। पर्जन्य एक देवता हैं जो गायों, घोड़ियों, उद्भिजों और मानवों में जीवन (प्राण-बीज) न्यस्त करते हैं। मरुतों से प्रार्थना की जाती थी कि समय पर वर्षा दें।

प्राचीन भारत में कृषि को सम्यक् महत्त्व दिया जाता था। एक जुएबाज को सलाह दी गई है कि जुआबाजी छोड़कर खेती करो। कीनाश अर्थात् काश्तकार

लोग खेती को यथासम्भव अधिक से अधिक सफल बनाने के लिए अपनी मिहनत में कोई कोरकसर नहीं रखते थे। 'वृक', 'सीर' और 'लांगल' हल के वाचक शब्द थे और 'फाल' उस समय भी फाल ही कहलाता था। कृषि के काम शतपथ ब्राह्मण में इस क्रम से उल्लिखित हैं—बोना, काटना, छाँटना, ओसाना, मापना, बखार में संचित करना। ऐसी कामना भी व्यक्त की गई है कि बिजली गिरने से और सूरज की किरणों से अन्न नष्ट न हों।

सिंचाई और खाद का प्रयोग भी किया जाता था। खाद का प्रयोग मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिए किया जाता था। खाद के रूप में लगता है, गोबर का प्रयोग किया जाता था और ऋभु देवताओं को देखते हैं कि गोबर को अन्य अंगों से अलग करते हैं। कर्षक लोग कई प्रकार की खादों का प्रयोग करते थे। अलग-अलग अनाजों के लिए खेती के कामों के मौसम का ठीक-ठीक उल्लेख और संकेत पाया जाता है। यद्यपि सामान्यतः दो फसलें प्रसिद्ध हैं, किन्तु कभी-कभी तीन फसलें भी होती थीं। एक खेतीहर को सलाह दी गई है कि अपने खेत को खुद देखा जाय, क्योंकि यह काम दूसरों को सौंपने से बिगड़ जाता है। वन कृषि-अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग था। वन से ग्रामवासी मकान बनाने का सामान सुविधा से प्राप्त करते थे, खेती में अनिवार्य मवेशी को भूख से बचाने में भारी सहायता पाते थे, जलावन प्राप्त करते थे और वन के पत्ते खेतों में सड़कर खाद का काम देते थे। वन से राजस्व भी प्राप्त होता था और दवा बनाने के लिए जड़ी बूटी भी। खेतों की ठीक-ठीक सीमाएँ न्यग्रोध, अश्वत्थ, किंशुक, शाल्मली, साल, ताल आदि के पेड़ों तथा बास-गाठों से अंकित की जाती थीं। खेतों को घेरना आवश्यक होता था। मनु के अनुसार "खेतों में बाड़ा या घेरा लगाना चाहिए जो इतना ऊँचा हो कि ऊँट भी खेत को न देख सके और इतना घना हो कि कुत्ता न घुस सके और सूअर अपना थूथन न घुसा सके।" खेतों का मापन भी आम तौर से होता था। स्थायी भू-राजस्व-व्यवस्था के लिए सामान्य लगानबन्दी सर्वेक्षण का एक संगठन होना सबसे पहले आवश्यक समझा जाता था। कौटिल्य ने भूमापन का व्योरेवार पैमाना दिया है। उन्होंने भूमि के नाना प्रकारों का विवेचन किया है : खेती के उपयुक्त भूमि, बस्ती के उपयुक्त भूमि आदि और उन्होंने बताया है कि परती भूमि कई प्रकार की खेती के लिए उपयुक्त हो सकती है और यदि उर्वर हो तब तो कर्षित भूमि से भी अधिक उपयुक्त हो सकती है। 'अर्थशास्त्र' में खेती की विविध प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है। अन्नागाराध्यक्ष के लिए खेती के कामों और प्रक्रियाओं की जानकारी आवश्यक थी।

अध्याय 6

उद्योग और श्रम

I

उद्योग

सिन्धु-घाटी-काल से ही भारत को बेबीलोनिया, असीरिया, एलम, मिस्र, अरब आदि देशों के साथ भीतरी और बाहरी दोनों तरह के समुद्री व्यापार का सम्बन्ध था। वैदिक समाज काफी स्थिर निवासवाला था, जिससे कला-शिल्पों का उच्चस्तरीय विकास सम्भव हुआ और फलतः उत्पादनों का व्यापार शुरू हुआ। 'पणि' एक व्यापारी जाति था और समृद्ध व्यापार से पहले समृद्ध उद्योग का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। समुद्र व्यापारियों से परिव्याप्त था। ब्राह्मण-युग में औद्योगिक शिल्पकला का भारी विकास और उसके फलस्वरूप व्यवसायों का विभाजन बड़े मार्के का है जैसे 'कर्मकर' (धातुशिल्पी), 'कुलाल' (कुम्हार) 'गणक' 'गोपाल' (पशुपालक), 'तक्षन् (बढ़ई), वयितृ' (बुनकर), आदि-आदि। शुक्ल यजुर्वेद में तरह-तरह के औद्योगिक व्यवसायों का उल्लेख है तथा रामायण में कई शिल्पिवर्गों का उल्लेख है, जैसे स्वर्णकार, आयुधिक, दन्तकार आदि। रामायण-काल में ही कपास ओटने के औजार का आविष्कार हुआ और बुनाई उद्योग में उत्कृष्टता आई। शुक्लयजुर्वेद' में अलग-अलग छह धातुओं का उल्लेख है। रामायण में सोना, चाँदी, लोहा, सीसा, पारा, वंग (टिन) आदि धातुओं का उल्लेख है। मिश्र-धातुएँ भी ज्ञात थीं।

भारत शिल्पों और कलाओं का खजाना था और उसके उत्पादन विश्व भर में बिकते थे। यद्यपि हरेक घर किसी-न-किसी लघु उद्योग का केन्द्र था, फिर भी नगरीकरण के प्रवाह में औद्योगिक कलाएँ शहरों में केन्द्रित हुई, नगरीकरण के फलस्वरूप ही कई कलाओं और शिल्पों का विकास हुआ तथा इनकी तरक्की हुई। डिओनीसियस (लगभग तृतीय शताब्दी ई०) ने व्यापक दृष्टि से भारतीय उद्योग का निम्नलिखित वाक्यों में सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—"सिन्धु नदी के उस पार भारतवासी लोग कई तरह के व्यवसायों में लगे हैं—कोई वक्राकार गैंती से मिट्टी

खोदकर खान से कच्चा सोना निकालते हैं; कोई पटसन का वस्त्र बुनने के लिए करघा चलाते हैं; कोई हाथी के दाँतों की जाँच करते हैं और उन्हें मुलझा करके चाँदी की तरह चमकीले बना देते हैं, और कोई पहाड़ी स्रोतों के किनारे-किनारे रत्न खोजते हैं— हरे-हरे वैदूर्य (लहसुनिया), चमकीले हीरे, हरिताभ पारभासक सूर्यकान्त, पीतरत्न, शुद्ध पोखराज या मोहक जमुनिया, जो अपनी कोमल प्रभा से (उस) आदमी के रंग का मुकाबला करती है······।"

शिल्पों का स्तर कई कारणों से उन्नत हुआ। कच्चे माल की जानकारी और इस्तेमाल तथा औजारों का आविष्कार हुआ। शिल्पियों ने प्रकृति को अपनी तकनीकी युक्तियों को वश में किया। वृत्तिसंघों ने वंशपरम्परा और गुरु-परम्परा के अवलम्बन से शिल्पकौशल को अविच्छिन्न रखा। बाजार के फैलाव के कारण व्यापारियों के होड़ का मुकाबला करना पड़ा, इसलिए उन्हें अपना गुणोत्कर्ष बढ़ाने की अधिक प्रेरणा मिली। व्यापारियों, शिल्पकारों और सौदागरों में जातीय चेतना और स्वाभिमान का भाव जगा, क्योंकि वे निर्यात बढ़ाने के लिए तथा अपने विदेशी ग्राहकों के साथ व्यापार का पल्ला अपने अनुकूल रखने के लिए सचेष्ट थे। औद्योगिक लाभ पर शुल्क चुकाना पड़ता था। सामूहिक उद्यम, उचित वितरण और आर्थिक सहयोग प्राचीन भारत के उद्योग के शुभ लक्षण थे। साहित्य एवं पुरालेखों में तथा कलाकृतियों एवं वस्तुओं में भी कई तरह के शिल्पों कलाओं, व्यवसायों और अध्यवसायों का उल्लेख मिलता है। साथ ही समृद्धि की ओर बढ़ रहे औद्योगिक जीवन की बुराइयों पर राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया और कौटिल्य ने कठोर राज्य-नियन्त्रण लागू किया। राज्य ने भी उद्योग को बढ़ावा दिया, क्योंकि इससे राज्य में वृद्धि होती थी।

भारत में खनिजों का अपार स्रोत था और भारतवासी अच्छी तरह जानते थे कि उनका उपयोग कैसे करें। खनिजों में थे लोहा, ताँबा, टिन, राँगा, चाँदी, सोना, काँसा, पारा आदि। खानों पर राज्य का एकाधिकार था और खानों में काम कैदियों से कराया जाता। लोग धातु गलाने की प्रक्रिया तथा धातु तत्वों की रासायनिक जांच की प्रक्रिया भी जानते थे। उद्योग स्थान-विशेषों में फैला हुआ था। ग्राम अर्थव्यवस्था में सबसे अधिक प्रचलित और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी लुहारगिरी। लुहार न केवल ग्रामवासियों को औजार बना देते थे, बल्कि सेना के लिए हथियार भी बनाते थे। वे राजकोष से मदद पाते थे और करों के भुगतान से बरी रहते थे।

कुम्हारों, बढ़इयों, लुहारों, सुनारों आदि के अलग-अलग गाँव होते थे। बुनकर ऊनी वस्त्रों में ऊन और पर का इस्तेमाल करते थे। हाथीदाँत की नक्कासी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग थी। सितुओं से मोती निकालना श्रीलंका और तमिल देश का चलता उद्योग था। समुद्र के भीतर की निधियां इस प्रकार गिनाई गई हैं—मुक्ता (मोती), मणि (क्रिस्टल), वेलूरिव (वैदूर्य), शंख, शिला (स्फटिक), प्रवाल (मूंगा), रजत (चाँदी), जगृतरूप (सोना), लोहितांक (पद्मराग, पन्ना), मासार्गल्ला (लहसुनिया) इत्यादि। कछुए की खोपड़ी निर्यात की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। प्लिनी ने समृद्ध मुक्ता-उद्योग की चर्चा की है। गन्धी का काम (परफ्यूमरी) विशेषज्ञता सापेक्ष धन्धा था और इसमें सबसे अधिक प्रचलित था चन्दन। चन्दन और फूल से गन्ध (इत्र) निकाला जाता था। और भी कई तरह के गन्धद्रव्यों का उत्पादन और निर्यात होता था। मृतक शरीर को लेप लगाकर अविकृत रखने की कला भी ज्ञात थी।

रत्न-उद्योग मौर्योत्तर काल में उत्कृष्टता के ऊँचे सोपान पर पहुँचा था। दिव्यावदान में रत्न-लक्षण अर्थात् मणियों की पहचान को वणिक्-पुत्रों के पाठ्य विषयों का एक अंग माना गया है और वात्स्यायन ने चौसठ कलाओं में स्थान दिया है। संगम-साहित्य में इस बात का साक्ष्य मिलता है कि दक्षिण भारत में रत्न-उद्योग और जौहरी का व्यापार तरक्की पर था। भारतीय रत्न--तराशों का कौशल कुषाण और तदुत्तर कालों की शुद्ध भारतीय कला के बचे हुए नमूनों से प्रकट होता है।

विलासिता की वस्तुएँ बहुत-सी थीं और इन सबों का उत्पादन विविध उद्योगों में होता था। लाख का उत्पादन व्यापक क्षेत्र में होता था और प्राचीन भारत में लाख-उद्योग उन्नत अवस्था में था। इसका उपयोग मुख्यतः रंग बनाने में तथा महिलाओं के पाँव रँगने के आलता बनाने में होता था। मधुमक्खी-पालन भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। इसी तरह खाने के मसाले, जड़ीबूटी, दवा, पत्थर रंग, नील आदि के उद्योग चलते थे।

लकड़ी प्रचुर थी। इसका उपयोग भारी मात्रा में घर बनाने में होता था। बढ़ई (बार्धकि) का पेशा जैसा ही महत्त्वपूर्ण था, वैसा ही प्रतिष्ठित भी। इमारती लकड़ी का इस्तेमाल महलों और गढ़ों के निर्माण में होता था जिसका पर्याप्त साक्ष्य पाटलिपुत्र के भग्नवशेष में मिलता है। बढ़ई लोग आमतौर से खटिया और अन्य काष्ठोपरकरण बनाने का ठेका लेते थे। एक ब्राह्मण बढ़ई का भी निर्देश मिलता है (जातक IV. 207)। रथ और नाव बनाना भी इस उद्योग के

दायरे में था। वास्तुकार भी गृह-निर्माण उद्योग में संलग्न था। संगतराश पत्थरों को वांछित आकृति देने में बड़े कुशल थे और देश के कई पुरातात्विक आविष्कारों से यह सिद्ध होता है कि इस शिल्प और उद्योग का कितना विकास हुआ था। वे स्तम्भों और निम्न उद्धृत कृतियों (बासरिलीफों) की तराशी कितनी कुशलता से करते थे, इसके साक्ष्य साँची तथा अन्य स्थानों में पाए गए नमूने हैं। वास्तुकार, बढ़ई, संगतराश और चित्रकार सभी एक ही उद्योग के अंग थे। चित्रकारी स्वतन्त्र कला के रूप में विकसित हुई। चित्रकार भित्तिचित्र लिखते थे और उनका वर्णन शिल्पशास्त्रों में है। इससे यह स्पष्ट है कि हर प्रकार की कला और उद्योग का सम्बन्ध प्रजा से था और प्रजा ने ही उसे चलाया। धोबी, माली, खाँड़सार (चीनी बनानेवाला), तेली, नोनिया, दरजी, लकड़ीहार, घसवाह आदि व्यवसायी भी थे।

स्त्राबो ने सामान्य रूप से सभी भारतीयों के न केवल खान सम्बन्धी कामों की, बल्कि औद्योगिक उपलब्धि की भी निन्दा करते हुए कहा है कि "उन्होंने किसी भी क्षेत्र में सूक्ष्म ज्ञान नहीं प्राप्त किया; केवल आयुर्वेद इसका अपवाद है, कुछ कलाओं के बारे में तो उनका विशेष अध्ययन करना भी निन्द्य प्रयास होगा; उदाहरणार्थ युद्ध की कला को लें।" लगता है कि उन्होंने इसकी जानकारी उन धार्मिक स्रोतों से प्राप्त की है जिसमें सभी भौतिक (शारीरिक) प्रयासों की निन्दा की जाती है। अन्यत्र उन्होंने स्वयं नियार्कोस को उद्धृत करते हुए बताया है कि इस देश के शिल्पियों की शिल्प-कुशलता और अपनाने की क्षमता प्रशंसनीय है। भारतीयों ने मकदूनियावासियों को लोई (स्पंज) का व्यवहार करते पहली बार देखा और देखते ही महीन धागे और ऊन से बुन कर और उसी रंग में रंग कर उसकी हू-ब-हू नकल तैयार कर ली। भारतवासी विदेशी सूझों को तुरत ग्रहण करते थे और उसकी प्रशंसा करते थे। धातु-उद्योग अति विशेषज्ञतापूर्ण हो चुका था और कम्मार (धातु गलाने और शुद्ध करनेवाले) उतने ही अभिज्ञ होते थे जितने धातुशिल्पी (सुनार, लुहार आदि)। वार्धकि हर तरह के काष्ठशिल्प का काम करत थे। नियार्कोस ने बताया है कि भारतवासी रुई से कागज बनाते थे। कर्टिअस के अनुसार, सिकन्दर के काल में भारतवासी वृक्षों के कोमल वल्कल का प्रयोग लिखने के काम में करते थे।

धातु, लोहा और इस्पात

भारत में खनिकर्म और धातु-उद्योग सदियों उन्नति करते रहे और धातु की कृतियाँ उत्कर्ष के ऊँचे स्तर पर पहुँची थीं। लोहे और इस्पात के क्षेत्र में, कार्बनाइ-

जेशन (शोधन) का तरीका भारत का अपना खास था और भारतीय लोहा आम तौर से बहुत ही शुद्ध होता था। इस देश में लोहा और इस्पात उद्योग इतनी जल्द विकसित हुआ; इसका एक कारण यह था कि यहाँ लोहा आसानी से उपलब्ध था। कम्मारों (लुहारों) का स्थान शिल्पियों में ऊँचा था। हमें इनकी भट्ठी का वर्णन मिलता है तथा इनकी निहाई और सँड़सी का हवाला मिलता है। लुहारों के हजार परिवारों वाले एक गांव का जो वर्णन मिलता है, उससे यह प्रकट होता है कि उनका धन्धा उन्नत अवस्था में था। लुहार खेत और घर के औजार तथा लड़ाई के हथियार भी बनाते थे। युद्ध-सामग्री का उत्पादन अवश्य ही भारी पैमाने पर होता होगा और ऐसा उत्पादन करनेवाले उद्योग में लुहारों का विशाल दल लगा होगा और ऐसे उद्योग के आसपास इनका इतनी तायदाद में जमाव स्वाभाविक ही है। परिवहन-साधनों के उन्नयन में भी लोहे का प्रयोग होता था, और लोहे की दो इंच चौड़ी एक पट्टी (हाल) पहिए के चारों ओर बाहर से जड़ दी जाती थी, ताकि वह मजबूत हो जाए। लुहार का काम विशेषज्ञतापूर्ण हो गया था। तीर बनाना एक अलग शिल्प था। अच्छी और मजबूत सुइयाँ भी बनती थीं।

मेहरौली का प्रसिद्ध लौहस्तम्भ, सुलतान गंज में प्राप्त बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा, देश के विभिन्न भागों में मिली काँसे की विविध कलाकृतियाँ, धातु के दर्पण का प्रतिरूप, राजघाट में प्राप्त ताम्र-मुद्राएँ, बुद्ध की विशाल ताम्र-प्रतिमा जो (पूर्णवर्मन द्वारा बनवाई बताई जाती हैं), एक कांसे का मन्दिर जो राजा शिलादित्य द्वारा बनवाया जा रहा था (हुएनत्सांग द्वारा देखा गया), उड़ीसा के मन्दिर में तथा अन्य स्थानों में पाई गई धरन, भारतीय इस्पात से डमास्कस में बनवाए गए फलक (ब्लेड)—ये सभी पर्याप्त रूप से सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत में धातु-उद्योग अपनी कारीगरी में बहुत ही ऊँचा स्थान रखता था। हुएनत्सांग ने भी खनिज कर्म देखा था और उसका कथन है कि इस देश में पीतल का उत्पादन भारी मात्रा में होता था। हलायुध (950 ई०) के अनुसार धातु-उद्योग के महत्त्वपूर्ण केन्द्र ये थे :

(1) सौराष्ट्र काँसे को लेकर प्रसिद्ध था,

(2) वंग टिन को लेकर,

(3) ऋषीक, सोपारा, वंग और अंग तलवार को लेकर,

(4) तंजौर धातुशिल्प और आभूषण को लेकर।

धातु निकालने के लिए खानें खोदी जाती थीं। खनिकर्म एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। मौर्य-काल में इस पर राज्य का एकाधिकार था। खनिज-अध्यक्ष खानों

का प्रभारी होता था। मौर्योत्तर काल में हमें खनिकर्म और धातु-उद्योग के बारे में चर्चा या जानकारी बहुत ही कम मिलती है। प्लिनी के अनुसार भारत को न पीतल थी और न सीसा, वह रत्नों और मोतियों से विनिमय करके इन्हें प्राप्त करता था। पेरिप्लस के अनुसार भारत में लोहे और इस्पात का उत्पादन गुणवत्ता और मात्रा दोनों में इतना उन्नत था कि उनका निर्यात काठियावाड से पूरबी अफ्रीका को होता था। भारतीय सोना लगभग वैसा ही दुर्लभ होता था जैसा ताँबा, टिन और सीसा। धातु का उत्पादन राज्य के नियन्त्रणाधीन था। मोती और रत्न पर भी राज्य का एकाधिकार था।

लौह-धातुकर्म के परम विकसित रूप का सर्वोत्तम उदाहरण है मेहरौली स्तम्भ जो पन्द्रह सौ वर्षों से अधिक पुराना होने पर भी जंग का शिकार नहीं हुआ है। काँसे और ताँबे की ढलाई की कला भी वैसी ही परिष्कृत और प्रचलित थी। कांस्य-प्रतिमा का निर्माण एक चलता उद्योग था। बुद्धदेव की एक विलक्षण प्रतिमा भारतवासियों के धातुकर्मिक और कलात्मक कौशल का प्रतीक है। तारा नाथ ने सूचित किया है कि धीमान और वितपाल ने धातु की कई कलाकृतियाँ बनाई थीं। कांस्य उद्योग उन्नति के ऊँचे सोपान पर पहुँचा था और इससे जावा की कला प्रभावित हुई थी। भारत के धातुशिल्पी और ढलाईकार अपनी दक्षता के लिए मशहूर थे। धातुशिल्पी स्थानीय परम्परा का अनुसरण करते थे। 'मिलिन्द-पञ्ह' में सोने, लोहे और टिन के शिल्पों को अन्य शिल्पों से पृथक् विशेष रूप में दिखलाया गया है। मेगास्थनीज ने धातु के आभूषणों का तथा धातु से सम्बद्ध अन्यान्य प्रकार के कार्यकलापों का निर्देश किया है। धातु से व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ औजार तथा युद्धास्त्र भी बनाए जाते थे।

चर्यापदों में उद्योग के बारे में चर्चा है। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो, कोणार्क आदि के मन्दिरों की बनावट इस बात का असन्दिग्ध साक्ष्य है कि यहाँ लोहा, सुर्खी, मसाला (सीमेंट) तथा अन्यान्य सम्बद्ध सामानों का उद्योग कितना विकसित था। क्षीर स्वामी ने कई अन्य उद्योगों का भी उल्लेख किया है। बंगाल, कामरूप, मगध, अपरान्त, कलिंग, काशी, वत्स, गुजरात, पठान और दक्षिण भारत के कई भाग तरह-तरह के उद्योगों के केन्द्र थे। धातुकर्मिक प्रगति प्रशंसनीय थी। लोहे का इस्तेमाल बहुत से कामों में होता था। लोहे की धरनों का व्यवहार मथुरा और कोणार्क के मन्दिरों में हुआ, किन्तु धरनों की ढलाई की प्रक्रिया की जानकारी केवल उड़ीसा में थी। धरन ढाली जाती थी और बड़ी-बड़ी धरनें पिटुआ लोहे के बहुत से बल्लों को जमा कर हथौड़े की चोट से एकीकरण करके बनाई जाती थी। लोहे के जल-

पात्रों का भी उल्लेख है। युक्तिकल्पतरू के अनुसार वाराणसी, मगध, नेपाल, सौराष्ट्र और कलिंग तलवार बनाने में मशहूर थे। शार्ङ्गधर के अनुसार, ऋषीक, वंग, सुरपार्क, विदेह, चेदि, सहसराम, कलिंग और अंग भी इसमें मशहूर थे। भोज ने अंग की तलवार को मलिन और भोथरी कहा है, किन्तु शार्ङ्गधर (श्लोकसंग्रह) ने अंग की तलवारों की तेजी, मजबूती और उत्कृष्ट मूठ की प्रशंसा की है। भोज ने विभिन्न प्रकार के लोहों के गुणावगुण का तुलनात्मक विवेचन किया है और लोहे के शोधन का तरीका भी बताया है।

जौहरी

जौहरियों की कला उन्नत अवस्था में पहुँची प्रतीत होती है। 'बृहत्संहिता' में 22 रत्नों का उल्लेख है—हीरा, नीलम, मरकत, पन्ना, वैदूर्य, जमुनिया, स्फटिक, चन्द्रकान्त, पुखराज, शंख आदि। इन सबों के पर्याय 'अमरकोश' में दिए गए हैं। वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं में रत्न की भी गणना की है। वराहमिहिर ने जो मोती के आठ उदन्वस्थानों की सूची दी है, उसमें श्रीलंका, पर्सिया और पांड्य देश के प्रसिद्ध मत्स्यागारों के नाम आए हैं। रत्नों का व्यवहार शुभ के लिए भी होता था। रत्नशिल्प एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' में नायिका के महल का जो प्रख्यात वर्णन है, उसमें अपने काम में लगे जौहरियों का विशद चित्र अंकित किया गया है। मोती का उद्योग भी उन्नत था। मोती का व्यवहार जड़ाऊ कामों में होता था। 'अमरकोश' और 'बृहत्संहिता' में विभिन्न प्रकार के मुक्ताहारों के नामों की लम्बी सूची दी गई है। कौटिल्य ने हीरा के कई प्रभेदों को गिनाया है तथा विदर्भ, कोशल, काशी और कलिंग उनके उद्गम-स्थल बताए गए हैं। हीरा और रत्न दक्षिण भारत के विशेष विख्यात थे। शिल्पशास्त्र सम्बन्धी धार्मिक नियमों के अनुष्ठान में लगे शिल्पियों का समाज में ऊँचा स्थान था। अधिकांश रत्नों का व्यवहार भूषणों के निर्माण और जड़ाऊ कामों में होता था। रत्नों को विविध आकृतियों में काटना और उन्हें चिकना बनाना स्वयं एक विशेष कला था और उन्हें भूषणों में जड़ना सुनारों का काम था। सुवर्णकार और मणिकार क्रमशः कीमती धातु और पत्थर के शिल्पी थे और वे इन दोनों वस्तुओं के उद्योग से सम्बद्ध थे। लोग भूषणों के बड़े प्रेमी थे और तरह-तरह के भूषण पहने और बनवाए जाते थे। भूषणों का व्यापार बड़े विस्तृत पैमाने पर होता था।

वस्त्र उद्योग

वस्त्र उद्योग खूब विकसित था। इसमें सूती वस्त्र निर्माण का स्थान

सबसे ऊपर था। मेगास्थनीज ने जो कहा है कि सौन्दर्य-प्रेमियों का मुख्य आकर्षण परिधान पर था, उसकी पुष्टि भरहुत, साँची, सारनाथ और अमरावती की पदक-मूर्तियों और उद्भूतमूर्तियों से होती है। मेगास्थनीज के अनुसार, वे अन्य वस्तुओं में जो सरलताप्रिय दिखते हैं, उसके विपरीत इस में सूक्ष्मता और आलंकारिकता को पसन्द करते हैं और सोने की जरी और रत्नों से गुँथे परिधानों के और बारीक मलमल के फूल काढ़े वस्त्रों को पसन्द करते हैं। श्रावस्ती, कौशाम्बी, राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली, चम्पा, कुशीनारा, मिथिला और अन्य स्थानों में देश और विदेश के बाजारों के लिए उच्च स्तर के वस्त्र प्रचुर मात्रा में बनाए जाते थे। बुनाई समाज में खूब प्रचलित थी। मदुराइ, अपरान्त, कलिंग, काशी, वंग वत्स और माहिष में उतम सूती वस्त्र बनते थे। कौटिल्य ने दुकूल के तीन प्रभेद बताए हैं — वंग का, पुंड्र का और सुवर्णकुड्य का। काशी, पुण्ड्र, मगध आदि स्थानों के क्षौम (वनस्पतिरेशों के) वस्त्र का भी उल्लेख विविध स्रोतों में मिलता है। कौटिल्य ने चीनभूमि से आनेवाले कौशेय का उल्लेख किया है तथा नेपाली कम्बल का और अन्यान्य कई तरह के वस्त्रों का वर्णन किया है। कम्बल का निर्माण एक विशिष्ट उद्योग था।

जैन ग्रन्थ **'आचारांगसूत्र'** (II. 5. 1. 4 और आगे) में रुई और रोएँ के कई प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है। **'महावग्ग'** (I. 30, 4) में वस्त्रों की नामावली आई है : खोम (क्षौम, रेशेका), कप्पासिकं (कपास का) कोसेयं (कौशेय, रेशम का), कम्बलं (ऊनका), सणं (पटसन का), और भंग (सनई का) **मिलिन्दपञ्ह** और **रामायण** से ज्ञात होता है कि कताई और बुनाई दोनों अलग-अलग उद्योग थीं। ऊन के सामान कई तरह के होते थे और विलासिता की वस्तुओं में आते थे। **'गोणक'** (बकरे के रोएँ का पलंगपोश), **'चित्तक'** (कई रंगवाले टुकड़ों को जोड़कर बनाई गई गुदड़ी), 'पाटिक' (सफेद कम्बल), 'तूलिका' (रजाई), **'उद्दलोमि'** (रोएँ की लोई), **'कोसेयं'** (रेशमी पलंगपोश), **'कुट्टकं'** (लम्बी दरी) आदि रेशम सबसे प्रचलित विलासवस्तु था। गलीचे गिलहरी के कोमल और बहुरंगी चाम से युक्त उत्तम रेशों के वस्त्र से बनाए जाते थे। तरह-तरह के कम्बल और अन्य ऊनी सामान होते थे—रँगा, कसीदाशुदा या चित्तीदार। कम्बल मनुष्य के बालों, घोड़े की पूँछ और उल्लू के परों से भी बनते थे। कम्बल, रेशों के वस्त्र और सूती वस्त्र अपनी-अपनी खूबियों और उत्पादन-स्थानों के साथ **'अर्थशास्त्र'** में उल्लिखित हैं तथा ज्ञात औद्योगिक उत्पादनों का भी उल्लेख है (II. 11)।

वस्त्र-बुनाई भारत का प्राचीनतम उद्योग है। चरखा और करघा द्वारा वस्त्र-निर्माण एक प्राचीन कला है। 'तन्तु', 'ओतु', 'तसर', 'मयूख', 'तर्कु' – ये सभी शब्द बुनाई की प्रवीणता के परिचायक हैं। इसका विकास गहन और व्यापक रूप से हुआ है। सभी देशों में भारत शायद प्रथम देश है जिसने बुनाई की अभिज्ञता प्राप्त की तथा इसकी सोने की जरी और महीन मलमल बनाने की कला, इसके अद्भुत कौशल से बुने हुए टिशर और कीमती जड़ाऊ परिधान स्मरणातीत काल से भारत के लिए प्रतिष्ठाकारक रहे हैं। पाणिनि ने बुनकर (तन्तुवाय) का, बुनाई के स्थान का, करघे का, बुनाई की प्रक्रिया का और वस्त्रों के निर्माण का उल्लेख किया है। वस्त्र-उद्योग में उत्तर भारत दक्षिण भारत से आगे था ('अशा'—VII. 1:) वाराणसी और बंगाल वस्त्र-उद्योग के केन्द्र थे और वहाँ का मलमल नामी था। काशी में उत्तम कोटि का सूतीवस्त्र बनता था।

'महापरिनिब्बाणसुत्त' के अनुसार, सूती वस्त्र की बुनावट इतनी महीन रहती थी कि वह तेल को सोख नहीं सकता था। बंगाल के बुनकर अत्युत्तम किस्म के मलमल तैयार करते थे जो विदेश भेजे जाते थे। वंग सूती वस्त्र और कम्बल का उद्भव-स्थान था। कम्बल बाह्लीक देश में भी आते थे। माहिष्मती, मदुरा, कोंकण, कलिंग और वत्स भी सूतीवस्त्र के मुख्य केन्द्र थे। उजैन वस्त्रउद्योग का एक प्रमुख केन्द्र था और वहाँ से यह सामान विदेश भेजा जाता था। आभीर लोग तरह-तरह के कम्बल बनाते थे। 'महाभारत' से संकेत मिलता है कि यहाँ मूल्यवान चर्म और रोम तैयार होता था—यह हिमालय के उत्तर-पश्चिम का तथा पश्चिमी भारत का मूल्यवान उद्योग था। विभिन्न स्रोतों में जो विभिन्न प्रकार के वस्त्र गिनाए गए हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि यह उद्योगयुग निरन्तर चलता रहा है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र बनते थे। कई प्रकार के छत्र भी ज्ञात हैं। गुजरात के राजा त्रिलोचनपाल (ग्यारहवीं शताब्दी ई०) के एक उत्कीर्णलेख में कहा गया है कि वत्सराज (उक्त राजा के पिता) ने भगवान् सोमनाथ को स्वर्ण से अलंकृत और रत्नों से खचित एक छत्र चढ़ाया था। गरीबों और अमीरों के परिधान में भारी अन्तर रहता था।

वस्त्र कपास, रेशम, ऊन, रेशे और तरुवल्कल का बनता था। अजन्ता के भित्तिचित्रों के सूक्ष्म परीक्षण से पता चलता है कि बुनावट के चार अलग-अलग तकनीक थे। मथुरा में महीन धारीदार सूतीवस्त्र बनता था, 'जत्तिपट्टक' (बुना-रेशम), और 'चित्रपट' (चित्रित वस्त्र, छींट)।

यद्यपि अनगिनत उद्योग भली-भाँति चल रहे थे, फिर भी विशेषीकरण और स्थानीकरण की बात थी : जैसे बंगाल का मलमल, पांड्य और श्रीलंका का मोती, मैसूर और असम का चन्दन तथा तिब्बत, गढ़वाल, मालावार, श्रीलंका आदि का सोना, इत्यादि इसके असन्दिग्ध साक्ष्य हैं ।

चर्म-उद्योग

चर्म-उद्योग उन्नतिशील था। दारू या पानी रखने का चमड़े का थैला बनता था। तीरन्दाजों के हाथों के लिए चमड़े का अंगरक्षक (दस्ताना) बनता था। खाल को सिझरने की कला का उल्लेख 'ऋग्वेद' में और 'शतपथब्राह्मण' में भी आया है। चमड़े के जूते और बूट बनाते थे। 'विष्णुपुराण' में उपदेश दिया गया है कि बिना जूते का कभी न रहना चाहिए। एरियन ने लिखा है कि भारतवासी जूते लगाए रहते थे। चमड़े के काम को 'चर्मण्य' कहते थे।

यान्त्रिक उपकरण

जानकारी की वर्तमान स्थिति में, यह कहना बड़ा कठिन है कि उद्योग में यन्त्रप्रयोग किस तरह होता था। इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता है कि विविध प्रकार के उद्योग में लगाए जानेवाले यान्त्रिक उपकरणों की काफी प्रगति हुई थी, जैसा कि कौटिल्य (II 18) से प्रकट होता है।

धार्मिक निष्ठावाले लोग यन्त्रोपकरणों के प्रयोग और भारी उद्योग की निन्दा करते थे तथा खानों एवं कारखानों से सम्बद्ध शिल्पों को अधम कहते थे। बहुत कम शिल्प ही ऐसे दोषों से मुक्त माने जाते थे। 'मनुस्मृति' में बड़े-बड़े यन्त्रों के प्रयोग की कला का जो प्रसंग आया है 'महायन्त्रप्रवर्तनम्' (XI. 64), उसकी टीकाएँ इस सम्बन्ध में बहुत-सी जानकारी देती हैं। स्पष्ट है कि यान्त्रिक युक्तियों की आवश्यकता बड़ी-बड़ी सिंचाई-परियोजनाओं में, अस्त्र-शस्त्र के निर्माण में और लड़ाई के दाँव-पेंचों में होती थी तथा ईख पेरने में, तेल पेरने में, पानी चढ़ाने के पम्पों या जलयन्त्रों में, ढिरकी, चाक और स्पोक वाले करघों में मशीन की जरूरत होती थी। यदि सारनाथ के सिंहस्तम्भ शीर्षाधार को मौर्यकालीन कारीगरी का प्रमाण मानें तो इसे प्राचीन भारत के यान्त्रिक विकास का स्मारक स्वरूप मानना होगा, क्योंकि इसके अखंड पिंडों (अनुमानतः पचास टन के आस-पास) को खड़ा करना और विभिन्न स्थानों से उठाकर लाना यन्त्र की मदद के बिना सम्भव नहीं था।

भारत ई० पू० छठी शताब्दी से ही एक औद्योगिक देश रहा है, जब नगरीकरण के प्रवाह के साथ ही औद्योगिक कलाओं के जमाव और परिष्कार तथा शिल्पों के विशेषीकरण को प्रश्रय मिला। कौटिल्य खान की प्रक्रिया का ब्योरेवार विवेचन करते हैं, तो बुद्ध लुहारों के हवा करने और तपाने के उपकरणों का उल्लेख करते हैं। धातुकर्मियों का व्यापार भिन्न-भिन्न धातुओं के आधार पर विभाजित और विशेषित था। विलसिता से वस्त्र-उद्योग को बढ़ावा मिला। पाटलिपुत्र नगर-प्रशासन की छह परिषदों में पहली परिषद् औद्योगिक कला-शिल्पों की देखरेख करती थी। ऊँची जातियों के लोगों को शिल्पकर्म का पेशा अपनाने में कभी प्रवृत्त नहीं किया जाता था और औद्योगिक जीवन पर उनके इस रूख का बुरा असर पड़ा। रँगाई-उद्योग में भारत का विशेष नाम था और भारत का रंग रोम-जगत् में कहावत-सा हो गया।

काँच उद्योग

भारत रत्नों का सबसे बड़ा उत्पादक था। कुमारस्वामी के अनुसार, मौर्य काल के पहले ही भारत काँच बनाने की कला में प्रवीण हो चुका था। काँच बनाने की क्रियाविधि भारतवासी जानते थे और प्लिनी के आधार पर यह कहा सकता है कि इसका कोई सानी नहीं था। रंगीन शीशा कौटिल्य को ज्ञात था 'महावस्तु' ने काँच बनानेवाले को 'मणिकारा' कहा है।

लवण-उद्योग

वाकाटक की अमलदारी में नमक के उद्योग पर राज्य का एकाधिकार था।

मृद्भाण्ड उद्योग

बहुत-सारे लोग मृदभाण्ड-उद्योग (मिट्टी के बरतन बनाने के काम) से जीविकार्जन करते थे। बरतन, ढक्कन, मूरतें आदि बनाए जाते थे। कुम्भकार लोग नक्काशी और ढलाई में अपना कौशल दिखाते थे। मिट्टी की मूरतों की काफी माँग थी—धार्मिक प्रयोजनों के लिए और सौन्दर्य के लिए भी। मिट्टी की खिलौना-गाड़ी भी बहुत प्रचलित थी।

कुटीर-उद्योग

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कुटीर-उद्योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अलग-अलग लोगों की अपनी अलग-अलग रूचि होती है और वे रूच्यनुसार जीवन में अलग-अलग धन्धे अपनाते हैं। सभी धन्धे समाज के विकास के लिए मूल्यवान माने जाते थे। कलापूर्ण शिल्पों और डिजाइनों के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन कुटीर-

कितना प्रौढ़ हो चुका था। कौटिल्य ने ऐसे शिल्पों की आर्थिक और सामाजिक भूमिका की काफी सराहना की है और उनके संघटन एवं विकास के लिए कई तरीकों के प्रयोग का सुझाव दिया है। शिल्पियों को तकनीकी ज्ञान कितना रहता था, इसका उन्होंने अच्छा चित्रण किया है। कला-शिल्प को राज्य से सम्पोषण मिलता था। राज्य बाजार-सुविधा प्रदान करता था।

काष्ठ-उद्योग

काष्ठ-शिल्प बहुत ही समुन्नत विशेषीकृत पेशा हो चुका था। इस कला को ऊँचे दर्जे की प्रवीणता प्राप्त थी। सम्पत्तिशाली काष्ठ शिल्पियों का, लकड़ी-विक्रेताओं का, रथ के निर्माण का, नक्काशी का और लकड़ी की इमारत बनाने का निर्देश जहाँ-तहाँ पाया जाता है। काष्ठशिल्पी स्थापित घर और महल बनाते थे। मौर्य-काल में इस शिल्प में जो असामान्य प्रवीणता आई थी, वह कुम्हरार (पटना) और जयमंगलागढ़ (बेगूसराय) में पाए गए सात बड़े-बड़े और रहस्यमय स्तम्भों से ज्ञात होता है। लकड़ी का वास्तुशिल्प इस देश में खूब प्रचलित था। मौर्य सम्राट् का राजप्रासाद लकड़ी का था। प्रस्तरवास्तु के आरम्भ से पहले, लकड़ी ही सर्वाधिक प्रचलित थी। लकड़ी के सामान्य घरों की भी चर्चा मिलती है। जातकों में लकड़ी के महलों की चर्चा है। 'महाउमगजातक' में आया है कि मिथिलपुरी का नगर-प्राकार बनाया गया और पुराने भवनों का जीर्णोद्धार किया गया जिसके लिए तीन सौ नावों पर लादकर लकड़ी लाने के वास्ते बढ़ई जंगल भेजे गए। एक अन्य जातक में भवन-निर्माण में लगे बढ़इयों के कार्य का जीवन्त वर्णन आया है। काष्ठशिल्पी नाव, जहाज, ताँगा, विविध प्रकार का रथ और यन्त्र बनाने में भी प्रवीण होते थे। वे विभिन्न प्रकार के घरेलू साज-सामान भी बनाते थे। उनके औजार थे रुखानी, बसूला और हथौड़ा। वे यज्ञ के उपकरण भी बनाते थे। उनकी भूमिका दिहाती-शहरी अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण थी।

हाथी दाँत-उद्योग

बताया जा चुका है कि सोना, मोती और जवाहरों का व्यवहार केवल धनवान् और उच्च स्तर के लोग करते थे और इन वस्तुओं से सम्बद्ध उद्योग फूलता-फलता था। हाथीदाँत का काम भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। देश में अच्छे-अच्छे दन्तशिल्पी थे। दाँत जंगलों में मिलते थे। जीवित हाथी का दाँत अधिक मूल्यवान होता था। इस उद्योग ने एक खास वर्ग को पैदा किया जिसका व्यवसाय था जंगलों में खोजकर दाँत जमा करना। दक्षिण भारत की दन्त वस्तुओं

का उल्लेख महाभारत में हुआ है। विदिशा के दन्तशिल्पियों ने साँची के गोमेद-द्वार में अपना दाँत अभिलिखित कराया। हाथी के दाँत का इस्तेमाल कंघी, पाँसा और कई वस्तुओं के निर्माण में तथा तलवार की कलात्मक मूठ, कवच आदि बनाने में होता था।

प्रस्तर-उद्योग

संगतराशी भी एक सुविकसित उद्योग थी। प्रस्तर-शिल्प का एक उत्कृ-ष्टतम नमूना है पिपरावा स्तूप (मौर्यपूर्व युग) के नीचे से खोदकर निकाली गयी एक विशाल-शव-शिविका जिसके भीतर की भस्म मंजूषा पर ब्राह्मी उत्कीर्ण लेख है। दूसरी मंजूषा जो वैदूर्यमणि से बनी भट्टिप्रोलु से प्राप्त हुई है और कुछ परवर्ती काल की है, संगतराश की कला का परम सुन्दर उदाहरण है। पत्थर, स्तूप और शैल पर अशोक के परिष्कृत उत्कीर्ण लेख प्रस्तरशिल्पियों की एक उपलब्धि है।

छोटे-छोटे उद्योग

अन्य छोटे-छोटे उद्योगों में उल्लेखनीय हैं मद्य-निर्माण, चीनी-निर्माण, बेंत का काम, रँगाई, पोशाक बनाना, गन्धद्रव्य बनाना आदि।

राज्य और उद्योग

उद्योग और वाणिज्य के व्यापक प्रसार से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अतीत में देश ने कितनी प्रगति की थी। लोगों ने विभिन्न शाखाओं में विशिष्टता प्राप्त की। काम करने के औजारों और क्रियाविधियों के बहुत-से पारिभाषिक पदों के निर्देश मिलते हैं। उद्योग को बढ़ावा देने के लिए विशेष कोशिश की गई, क्योंकि इससे राज्य की सम्पदा बढ़ती थी। व्यापारियों और औद्योगिक काम करने वालों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था, ताकि प्रजा तरह-तरह के दुराचारों का शिकार न हो। राज्य ने खानों और खनिजों को अपने पूरे एकाधिकार में कर लिया, क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में खानों और खनिजों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। राज्य के औद्योगिक और वाणिज्यिक नीति के परिपूर्णतम विकास का आभास कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलता है।

निजी उद्यम

कौटिल्यानुसारी राज्य बड़े पैमाने पर वस्त्र-उद्योग में लगा था। सूत्राध्यक्ष महिलाओं से, खासकर आश्रयहीन महिलाओं से, सूत कताता था। इसका पारिश्र-

मिक कते सूत की उत्कृष्टता के अनुसार नियत किया जाता था। कताई और बुनाई दोनों के अलग-अलग उद्योग थे। सूत्राध्यक्ष गाड़ियों, लड़ाई के रथों आदि के लिए अपेक्षित रसियों और पाशों के निर्माण का भी पर्यवेक्षण करता था। रथाध्यक्ष विविध प्रकार के रथ और गाड़ियाँ बनवाता था। इस प्रकार लगता है कि उद्योग में निजी उद्यम के लिए अधिक गुंजाइश नहीं रहने पाई थी। अतः जिसे हम निजी उद्यम के भीतर रख सकते हैं वह है ऐसे कुछ पंसारियों और कारीगरों का कार्यकलाप, जो 'कारुशिल्प' कहलाता था और जिसमें ग्राहकों का वास्तविक काम सँभालने के लिए कई शिल्पी नियोजित किए जाते थे। इसमें जो लाभ होता था, वह नियोजक शिल्पी का होता था, नियोजित शिल्पी केवल वेतन पाता था। कुछ स्वतन्त्र शिल्पियों का भी निर्देश मिलता है जो अपनी ही पूँजी से अपनी ही कर्मशाला में अपने ही लिए खटते थे। ऐसे शिल्पी 'स्ववित्तकारु' कहलाते थे।

औद्योगिक कामगारों की स्थिति

शिल्पियों के काम पर नियन्त्रण रखना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था। शिल्पवर्गों से सम्बद्ध औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए एक न्यायाधिकरण होता था। राज्य न्यायाधिकरण की स्थापना औद्योगिक श्रमिकों की, मुख्यतः यन्त्रों पर तथा कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों की समस्याओं से निपटने के लिए करता था। पंसारियों और बढ़इयों का स्तर समाज में बहुत नीचे होता था और औद्योगिक कामों में खटनेवाले श्रमिक बड़े गरीब होते थे। उन लोगों की स्थिति सुधारने की चिन्ता राज्य को भी नहीं रहती थी। कौटिल्य ने उद्योग के विकास और विस्तार पर ध्यान इसलिए दिया है कि राज्य की आमदनी बढ़ाई जाए, लेकिन इसी के साथ उनका ध्यान इस बात पर नहीं है कि एक ऐसी नीति चलाई जाए जिससे श्रमिकों की मजूरी दर बढ़ाकर उनकी आर्थिक स्थिति ऊपर उठाई जाए। उन्होंने श्रमिकों की कठिनाई को दूर करने की चिन्ता नहीं की। वे श्रमिकों को दो वर्गों में बाँटते हैं, साधारण औद्योगिक श्रमिक और सुदक्ष श्रमिक। साधारण शिल्पी को प्रति वर्ष 120 पण दिया जाता था, जबकि शासकीय बढ़ई को प्रति वर्ष 2000 (दो हजार) पण मिलता था।

राज्य कर्मशालाएँ राजा और प्रजा दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थापित होती थीं। आकराध्यक्ष आरम्भ से लेकर अन्त तक खान सम्बन्धी सभी क्रियाओं का सर्वोच्च नियन्त्रक और पर्यवेक्षक होता था, जबकि दर अन्य अध्यक्षलोग खान सम्बन्धी उद्योग और खनिज के व्यापार की विभिन्न शाखाओं को सँभालते थे। उत्पादित वस्तुओं से राज्य की अनुमति के

बिना जीविका चलाना अपराध माना जाता था। खन्यध्यक्ष, लोहाध्यक्ष और लवणाध्यक्ष उद्योग की अपनी अलग-अलग शाखाओं के प्रभारी होते थे। लवणाध्यक्ष का कर्तव्य था लवण-उद्योग पर पूर्ण नियन्त्रण रखना। खान से नमक निकालने का काम राज्य को स्वामित्व चुकाकर निजी पक्ष (प्राइवेट पार्टियाँ) करते थे। नमक का निर्यात करनेवाले व्यापारी को सीमा-शुल्क चुकाना पड़ता था और नमक-उद्योग के लिए राज्य से लाइसेन्स लेना पड़ता था। स्वर्ण-उद्योग पर स्वर्णाध्यक्ष का नियन्त्रण रहता था, जो शिल्पियों पर कड़ा नियन्त्रण रखता था। सुराध्यक्ष भट्ठियों और मद्यनिर्माणशालाओं का प्रभारी होता था। भारत में औद्योगिक जीवन बड़ी उन्नत अवस्था में था। भोज के 'युक्तिकल्पतरु' में पूर्व मध्य काल में प्रचलित बहुत-सारे उद्योगों का विवरण दिया गया है।

राज्य की भूमिका

उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। नगरों में बाजारों की स्थापना, दिहात में सड़कें बनाना और उन्हें दुरूस्त रखना तथा सड़कों पर सुरक्षा की व्यवस्था राज्य की बुनियादी जिम्मेवारी थी। उद्योग और वाणिज्य में लगे वर्गों का राजदरबार से निकट सम्बन्ध रहता था। यह बात उन नियमों से जाहिर होती है जो किलाबन्द राजधानी के सुनियोजित आवासन के लिए निर्धारित थे। परिष्करणात्मक या निर्माणात्मक उद्योगों में राज्य की प्रत्यक्ष हिस्सेदारी रहती थी, यह बात विभिन्न स्रोतों से जाहिर होती है। राजा व्यापार के विघ्नों को दूर करता था और तद्द्वारा उद्योग को सुविधा पहुँचाता था। शिल्पियों, व्यापारियों और उद्योगपतियों पर कड़ा नियन्त्रण रखना राज्य की नीति का एक अंग होता था। मूल्य, मजूरी और मुनाफा तीनों विनियमित थे।

आधुनिक तत्त्व

मौर्य राज्य की आर्थिक नीति का लक्ष्य था अंशतः उद्योग और व्यापार में प्रत्यक्ष भागग्रहण द्वारा, अंशतः अफसरतन्त्री पितृतुल्य अभिभावकता द्वारा स्वतन्त्र स्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था की बुराइयों को सुव्यवस्थित ढंग से नियन्त्रण में रखना। उद्योगसम्बन्धी कुछ नियमों में आधुनिक तत्त्वों का दर्शन होता है। वाणिज्याध्यक्ष आज के मूल्य-नियन्त्रक की तरह काम करता था; वह इस बात को ध्यान में रखते हुए कि माल स्थानीय उत्पादन है या बाहर से मँगाया हुआ है, माल का मूल्य-निर्धारण करता था। कहा गया है कि जब कभी आपूर्ति अत्यधिक होने लगे, बिक्री का केन्द्रीकरण कर देना अध्यक्ष का कर्तव्य है। यह भी प्रावधान

था कि यदि धनी-मानी सज्जन किसी व्यापार में बुड़ने लगे तो राजा को उनका उद्धार करना चाहिए। यह उद्योग में राज्य के हस्तक्षेप का गौर करने लायक उदाहरण है।

उद्योग और श्रमिक-समस्या

ऊपर यह बताया जा चुका है कि मौर्य-काल में कई उद्योगों पर राज्य का एकाधिकार था और उनमें अधिकांश राष्ट्रीयकृत थे। चूँकि राज्य आर्थिक और औद्योगिक कार्य-कलापों में सबसे बड़ा भागग्राही था, इसलिए कौटिल्य ने हर प्रकार के मजदूर के लिए मानक मजदूरी विहित कर दी थी। सूती वस्त्र की बुनाई का पारिश्रमिक उसमें लगी रूई के मूल्य के बराबर था। रेशमी या ऊनी कपड़े की बुनाई का पारिश्रमिक क्रमशः रेशम या ऊन के मूल्य के बराबर से डेढ़ गुना तक और दुगुना नियत था। पारिश्रमिक सूत के मूल्य के अनुसार चुकाया जाता था। धुलाई और रँगाई के लिए अलग-अलग दरें तय थीं। मजूरी काल और कार्य के आधार पर या करार के अनुसार दी जाती थी; वस्तुतः काम शुरू करने से पहले ही तय कर लेने का नियम था। विवाद होने पर ढुलाई की मजदूरी तय करने के लिए जानकार लोगों की राय मानी जाती थी। यदि कामगार सौंपा गया काम नियोजकों के अभीष्ट समय और स्थान में पूरा न कर पाता तो उसे कुछ भी न दिया जाता था। कामगार से छुट्टी/त्योहार के दिनों में भी काम लिया जा सकता था, किन्तु इसके लिए विशेष मजदूरी दी जाती थी। गोपालकों और कृषि-मजदूरों को निर्धारित मजदूरी दी जाती थी। शिल्पियों को उनके काम के अनुपात में भोजन और मजूरी दी जाती थी। कौटिल्य बच्चों से काम लेने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने महिला-मजदूरों के लिए भी नियम निर्धारित किए। मजदूर को अपने काम से अनुपस्थित होने की इजाजत दी जाती थी, लेकिन यदि वह किसी अन्य कारण से छुट्टी पर जाना चाहे तो उसे अपना एवज देने पर ही छुट्टी दी जा सकती थी। मजदूरों को इनाम भी दिया जाता था। कौटिल्य का विश्वास था कि सन्तुष्ट मजदूरों से ही अधिक उत्पादन सम्भव है।

औद्योगिक नियम-कानून का निर्धारण राज्य करता था। राज्य जहाँ नियमित रूप से मजदूरी मिलते रहने की गारंटी देता था वहीं यह शर्त भी रखता था कि काम ईमानदारी से किया जाए, काम से जी चुराना या इनकार करना अपराध माना जाता था। यदि मालिक मजदूरी चुकाने में चूकता था या मजदूर को काम से हटा देता था तो वह भी दंड पाता था। विवाद का निबटारा जानकारों की राय से होता था। कामगारों की अस्वस्थता-सौविध्य, प्रसवावकाश

वार्धक्य-सौविद्य और सेवोत्तर भरण-पोषण (पेंशन) मिलता था। जो कामगार काम करते हुए मर जाते थे, उनके कुटुम्बों को राज्य से मुआवजा दिया जाता था। मजदूर लोग अपने काम और पारिश्रमिक के बारे में स्वेच्छापूर्वक कोई करार कर सकते थे और उन्हें राज्य द्वारा निर्धारित कायदा-कानून का पालन करना पड़ता था। यदि मजदूर की गलती से कोई हानि या नुकसान होता था तो उसकी प्रतिपूर्ति उसे करनी पड़ती थी। वृत्तिसंघ सामाजिक-सह-आर्थिक संघटन की प्राथमिक इकाई था। मजदूर करारशुदा मजदूरी पाने के हकदार होते थे और यदि मजदूरी पहले ही ठीक से तय न कर ली जाती थी तो उसे किए गए काम और लगे समय के अनुपात में मजदूरी मिलती थी। शिल्पियों, गायकों और वैद्यों का पारिश्रमिक उतना जायज माना जाता था जितना उनके तुल्य लोगों को अन्यत्र मिल रहा हो; अन्यथा जानकार लोग जितना तय करें।

II

श्रम

प्राचीन भारत में यह कहावत थी कि मिठाई के बिना स्वाद का नाम नहीं और मिहनत के बिना आराम नहीं। कहावत सोलहों आना सही मालूम होती है। कार्लाइल ने एक बार कहा था—सब काम अच्छा है, केवल काम अच्छा है। वैदिक सूक्तों में श्रम की प्रशंसा की गई है, क्योंकि विजय और कठिन श्रम दोनों साथी हैं। प्रसिद्ध वर्णाश्रम धर्म भी, और कुछ नहीं, श्रम का विभाजन ही है। समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं से तरह-तरह के शिल्पों और व्यवसायों का जन्म हुआ और श्रम-विभाजन की उपयोगिता महसूस हुई। आरम्भ में कोई भी व्यवसाय अधम नहीं माना जाता था। शिल्पों और व्यवसायों से बाहर बहुत-सारे भूमिहीन गरीबों के वर्ग थे। ये सेवक वर्ग निम्न स्तर के शिल्प-कार्यों में कामगार के रूप में खटते थे। वैदिक साहित्य में बहुत प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख है। महत्त्वपूर्ण वृत्तियाँ हैं :

(1) पुरोहित—यज्ञादि करानेवाला।
(2) गनक या नक्षत्रदर्श—ज्योतिषी।
(3) भिषक्—चिकित्सक।
(4) कीनास या कृषीवल—हल चलाने वाला।
(5) गोप या गोपाल—मवेशी पालने वाला।
(6) अविपाल या अजपाल—भेड़ या बकरी पालने वाला।

(7) पशुपाल—चरवाहा ।

(8) धान्यकुट्ट—चावल आदि कूटनेवाला ।

(9) ध्माता—धातु गलाने वाला ।

(10) कर्मकार या कर्मार—कमार या लोहे का काम करनेवाला ।

(11) कुलाल या मृत्तिपच—कुम्हार ।

(12) इषुकार—तीर बनाने वाला ।

(13) धनुष्कार—धनुष बनाने वाला ।

(14) तक्षन्—बढ़ई ।

(15) प्रकरिय—संगतराश ।

(16) रथकार—रथ बनाने वाला ।

(17) रज्जुक—रस्सी बाँटने वाला ।

(18) सुराकार—दारू बनाने वाला ।

इनके अतिरिक्त भी बहुत-से व्यवसायी थे ; जैसे—(1) नाई, (2) धोबी, (3) लकड़हारा, (4) मछुआ, (5) शिकारी या बहेलिया, (6) कैवर्त या नाविक, (7) ढोलिया, (8) सेवक, (9) अनुचर, (10) नापित या नहाने वाला, (11)-मालिश करने वाला, (12) वेष बनाने वाला, (13) वीणावादक, (14) कलाबाज, (15) ताली बजाने वाला, आदि । इन सबों की गणना नृत्यवर्ग में होती थी। वैदिक काल में श्रमिक पूर्णतः ताबेदार नहीं हुए थे, किन्तु समाज में दास प्रथा का उदय होते ही कुछ ही समय में स्थिति क्रमशः बदल गई ।

एक जैन ग्रन्थ 'उपासक दशसुत्त' के अनुसार निम्नलिखित वृत्तियाँ अशुचि (गन्दी) हैं और जैनों के लिए वर्जित हैं ; (1) कोयला बेचना, (2) लकड़ी काटना (3) बैलगाड़ी, लदनियाँ घोड़ा या खच्चर हाँकना, (4) धरती जोतना, (5) तेल, घी, मक्खन आदि चिकनई बेचना, (6) हाथी दाँत का व्यापार करना, (7) लाह बनाना, (8) जहर बेचना, (9) बाल या रोआँ बेचना, (10) चीनी आदि बनाना, पशु को दागना, (12) जंगल काटना, (12) दलदल या गीली जमीन से पानी बहाना, और (14) बेचने के लिए जंगली जानवर पालना। कौटिल्य कारु को अशुचि मानते थे ।

महाभारत में कुछ ऐसे निर्देश मिलते हैं जिनसे संकेत मिलता है कि अलग-अलग व्यक्ति की कार्य-क्षमता के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों के बीच कर्म का वैज्ञानिक वितरण महत्त्वपूर्ण माना जाता था । पाणिनि ने भी कुशल और अकुशल श्रमिकों का निर्देश किया है—'शिल्पिन' और 'कर्मकार' । उन दोनों के कर्म और पारिश्रमिक भी उनकी योग्यता तथा सौंपे गए काम के अनुसार भिन्न-

भिन्न होते थे। कर्मकर अर्थात् मजदूर उत्पादन के विविध क्षेत्रों में पाए जाते थे और बोआई तथा कटाई के समय उनकी संख्या बहुत हो जाती थी। वे गाँवों में और शहरों में भी पाए जाते थे। उनके पास उत्पादन का अपना कोई साधन नहीं होता था और वे मजूरी पर या केवल पेट पर दूसरे के काम में खटते थे। आरम्भिक काल में श्रमिकों में गतिशीलता (नए-नए व्यवसायों में प्रवेश की छूट) थी और हम देखते हैं कि एक ही कुटुम्ब का एक व्यक्ति ऋषि (वैदिक सूक्त का निर्माता) है, उसका पिता वैद्य है और माता अनाज पीसने वाली है (ऋग – IX. 12. 3)। कौटिल्य ने वृत्तिसंघ के रूप में मजदूरों के संघटन का निर्देश किया है और उसके लिए नियम निर्धारित किये हैं।

आर्थिक धरातल पर सभी जातियाँ एक साथ मिल-जुलकर रहनेवाली प्रतीत होती हैं और सामाजिक धरातल पर गतिशीलता दिखाई देती है। व्यापार और श्रम के क्षेत्र में हर दिशा में कदम उठाने की छूट तथा गतिशीलता की झलक लकड़हारों की एक बस्ती के उद्यमों में मिलती है (जातक IV. 159)। आरम्भ में जाति का विभाजन अधिक दृढ़ नहीं था और श्रमिकों में समस्तरीय और ऊर्ध्वाधर दोनों तरह की गतिशीलता थी। सामाजिक वर्गीकरण और आर्थिक व्यवसाय दोनों में कोई गँठबन्धन नहीं था। ऋग्वेद में शूद्र का राजा होना भी उल्लिखित है, और हमें यजुर्वेद की एक शाखा के प्रवर्तक जाबाल, कवष, वाल्मीकि आदि अनेक उदाहरण मिलते हैं जो शूद्र थे। आपस्तम्बसूत्र (II. 5. 10) से प्रकट होता है कि अपने सत् या असत् आचरण के आधार पर कोई शूद्र महिला भी ब्राह्मणी बन सकती है और कोई ब्राह्मण भी शूद्र। वशिष्ठ (II. 24 और आगे) के अनुसार, कुछ प्रतिबन्धों के साथ, ब्राह्मण या क्षत्रिय भी वाणिज्य और कृषि की वृत्ति अपना सकते हैं। बुद्ध के काल में कृषि का पेशा न तो सामाजिक प्रतिष्ठा से बँधा था और न अप्रतिष्ठा से। आगे चलकर जो व्यक्ति जिस पेशेवाले कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ, वह स्वभावतः उसी पेशे में आजीवन बँधा रहने लगा; फलतः सामाजिक जीवन का सामान्य स्वरूप ऐसा हो गया कि श्रम की गतिशीलता अर्थात् एक पेशे में से दूसरे पेशे में बहाव जाता रहा।

जब तक व्यवसाय या कर्म बदलने की छूट रही, श्रम की प्रतिष्ठा कायम रही। वैदिक काल में रथकारों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। वैदिक ऋषि स्वयं यज्ञ-स्तूप बनाते थे। किन्तु धीरे-धीरे स्थिति बदल गई और जब सम्पत्ति मुट्ठी भर लोगों के हाथ में संचित हो गई, तब लखपतियों के एक वर्ग का जन्म हुआ जो मजदूरों को भाड़े पर खटाते थे (जातक— I. 408)। ऐसे मजदूरों के लिए जीवन कष्टकर हो गया। काशी भारद्वाज के पास पाँच सौ के साथ गँठबन्धन हल थे और वह खेती के

लिए भाड़े पर मजदूर रखता था। जाति-प्रथा का विस्तृत ताना-बाना तथा पेशा का जाति के साथ गठबन्धन मौर्य युग की देन बताया जाता है।

कौटिल्य में शिल्पियों की हैसियत ऊँची थी। हर जाति और शिल्प का अपना-अपना इलाका था (अशा—II, 4)। कृषि-श्रमिकों को कोई प्रतिष्ठा नहीं थी और खान-मजदूर की भी हालत अच्छी नहीं थी। आन्ध्र कुषाण काल में श्रमिकों में गतिशीलता थी। 'मणिमेख' (अध्याय 9) से प्रकट होता है कि राज-प्रासाद के निर्माण में मगध से कुशल मजदूर, महाराष्ट्र से मिस्त्री, अवन्ति से कमार, और यवन देशों से बढ़ई आए और तमिल नागरिकों के साथ काम किया। अध्याय-XVIII में गूर्जरों द्वारा बनाए गए एक भव्य मन्दिर का वर्णन है। अलग-अलग व्यक्ति और शासन विभिन्न कोटियों के मजदूरों को खटाते थे, जिनमें अस्त्र-शस्त्र एवं यन्त्रोपकरण बनाने वाले, बढ़ई, राजमिस्त्री, स्वर्णकार, कृषि-मजदूर आदि शामिल रहते थे।

मजदूरी के बारे में शुक्र के विचार

शुक्र ने वेतन और कर्म (मजदूरी और श्रम) के निर्धारण के बारे में नियमावली दी है। उन्होंने हर वर्ग के कामगार के लिए न्यूनतम मजदूरी सुनिश्चित करके न्यूनतम या निर्वाहयोग्य या उचित मजदूरी का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि वेतन कामगार की योग्यता के अनुरूप होना चाहिए। मालिक को अपने कामगारों का अनादर कभी नहीं करना चाहिए। उन्होंने सवैतनिक अवकाश, अस्वस्थता-अवकाश, पेंशन, मुआवजा आदि का विधान किया है। मनु ने कहा है कि जो कामगार अंगीकृत काम को पूरा न करे, उसे सजा मिलनी चाहिए। जो अपनी संविदा (करार) को पूरा न करे, उसे दंड मिलना चाहिए, मजदूरी नहीं मिलनी चाहिए।

कौटिल्य

कौटिल्य मालिक-मजदूर के सम्बन्ध को संविदाश्रित मानते हैं। जहाँ मजदूरी के विषय में संविदा (करार) पहले ही न कर ली गई हो, वहाँ मजदूरी उस समय में प्रचलित दर से किए गए काम और लगाए गए समय के अनुपात में दी जानी चाहिए। स्वेच्छा से खटने वाले शिल्पी, गायक, वैद्य, भाँड़, रसोइया, आदि उतनी मजदूरी पाने के हकदार हैं, जितनी उनके तुल्य कामगार अन्यत्र सामान्य तौर पर पाते हैं, अथवा जितनी जानकार लोग निर्धारित करें। कौटिल्य ने काम की उपेक्षा करने वाले कामगार और मालिक दोनों के लिए दंड की दर निर्धारित

की है। मजदूरी के बारे में हुए विवाद का फैसला गवाहों के साक्ष्य के आधार पर होना चाहिए। (प्रशा—III. 4)।

महाभारत में कई जगह इस बात का संकेत मिलता है कि अलग-अलग व्यक्ति की अपनी-अपनी क्षमता के आधार पर कर्म का वैज्ञानिक वितरण महत्त्वपूर्ण माना जाता था। कौटिल्य के अनुसार, कामगारों के संघ को अंगीकृत काम पूरा करने के लिए, करार में जितना समय दिया गया हो, उसके अतिरिक्त, सात रातों का अनुग्रह-काल भी मिलना चाहिए। कामगारों के संघ (टोली) अपने सदस्यों के बीच लाभ का वितरण या तो बराबर-बराबर करके या करार के अनुसार किया जाता था। स्मृतिकारों ने सभी कामों की तात्विक महत्ता को स्वीकार किया है।

शिल्पी (पंसारी)

शिल्पी प्राचीन भारतीय समाज का एक अंग होता था। वह ग्राम-जीवन के सूत्रों में पिरोया रहता था और कृषि-उपज में हिस्सा या कर मुक्त जमीन पाता था। नगर में उसका स्थान भी प्रतिष्ठित होता था। पंसारियों को अपने श्रम का फल देने का यह ढंग ऐसा था कि जिससे कृषि और उद्योग दोनों का सुखद मेल हो जाता था। शिल्पी अपने इलाके में अच्छी हैसियत और प्रतिष्ठा वाले स्थानों पर आसीन थे और अपने घर के स्वयं मालिक थे। इन्हें अपनी मिहनत के लिए जिन्सी पारिश्रमिक मिलता था या जमीन मिलती थी। इसके अलावा विशेष अवसरों पर इनाम भी मिलता था।

मजदूरी तय करने में संविदा की शर्तें दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी होती थीं। मजदूरी का भुगतान करार के अनुसार काम के आरम्भ में या मध्य में या अन्त में किया जाता था। अपने जिम्मे सौंपे गए औजारों की हिफाजत में सावधान रहना मजदूरों का कर्तव्य था। दायित्व-भार का निर्धारण करार द्वारा की गई आपसी शर्तों के आधार पर होता था। राज्य दोनों पक्षों के हितों को देखता था। बड़े-बड़े व्यापारी और भूस्वामी भारी संख्या में भाड़े के मजदूर रखते थे।

वेतन की अवधारणा

वैदिक काल में मुद्रा की अवधारणा तो हो गई थी, किन्तु उसका व्यवहार बहुत अधिक प्रचलित न था। दैनन्दिन कारबार विनिमय-पद्धति से होता था और मजदूरों को जिन्सी भुगतान किया जाता था। बुद्ध काल में, विनिमय-पद्धति

और सिक्कों का प्रयोग दोनों साथ-साथ चलते रहे। लोग मजदूरी पर काम करने के लिए बाध्य थे। कारीगर मजदूरों को कभी-कभी अधिक मजदूरी दी जाती थी। साधारण मजदूरों की मजदूरी बहुत कम थी। एक जैन ग्रन्थ में मजदूरों का वर्गीकरण निम्नलिखित कोटियों में किया गया है :

(1) दिवस भायग (संस्कृत, दिवसभाजक) — दैनिक मजदूरी पाने वाले।
(2) जत्तभायग(संस्कृत, यात्राभाजक)—खास तौर से दौरा करने के लिए नियोजित।
(3) उच्चत्तभायग (संस्कृत, उच्छत्रभाजक)—सारा काम सँभालने की शर्त पर नियोजित।
(4) केवल दिन भर के लिए नियोजित।

जो वेतन पर काम करते थे वे 'वैतनिक' कहलाते थे। पाणिनि ने ऐसे कुशल और अकुशल श्रमिकों का उल्लेख किया है जो विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाकर अपनी रोजी चलाते थे। कात्यायन ने मजदूरों को नगद भुगतान किए जाने का निर्देश किया है। पतंजलि ने मजदूरों के मासिक वेतन का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने कामगारों और मजदूरों के पारिश्रमिक का नियम-निर्धारण किया है। उन्होंने हर किस्म के श्रमिक के लिए वेतन निर्धारित किया है। त्यौहार के दिनों में काम कराने पर मजदूर को विशेष पारिश्रमिक देना पड़ता था। महिला कामगारों के लिए भी श्रम की शर्तें तय थीं। कामगारों को ज्यादा और अच्छा काम करने पर इनाम भी मिलता था। उचित पारिश्रमिक न देने पर नियोजक भी दंड का भागी होता था। कामगार को कई तरह की प्रसुविधाएँ मिलती थीं। कामगार अपने काम और मिहनताना के बारे में स्वतन्त्रतापूर्वक कोई करार कर सकता था और उसे राज्य द्वारा इस सम्बन्ध में बनाए गए नियम-कानूनों पर चलना पड़ता था।

अकुशल कामगार का दैनिक औसत वेतन एक पण प्रतिदिन था, जबकि कुशल कामगार का छह पण। एक पण दैनिक मजदूर के लिए निर्धारित मजदूरी, या न्यूनतम मजदूरी था। पानी भरनेवाले को प्रतिदिन आधा ताम्रपण मिलता था और महिला कामगार को भी वही दिया जाता था। चाँदी के एक 'मासक' से दो व्यक्तियों का पेट भर सकता था और घास काटनेवाले को यही दैनिक मजदूरी थी। दरवान, बाजार-प्रहरी और मेहतर को प्रतिदिन ताँबे के एक पण की दो तिहाइयाँ मिलती थीं। पाँचवीं शताब्दी ई० में दैनिक मजदूर प्रतिदिन ताँबे के डेढ़ पण अथवा औसतन उक्त पण की दो-तिहाइयाँ पाता था। प्राणनाथ ने यह

निष्कर्ष निकाला है कि मूल्य में यह वृद्धि पाँचवीं और ग्यारहवीं शताब्दी ई० के बीच हुई थी। किसी महाविहार से सम्बद्ध एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार, उदन के पुत्र अमरकरादव ने प्रतिदिन दस भिक्षुओं के भोजन और दो अखंड दीपों के तेल की व्यवस्था के लिए पचीस दीनार दिए। श्रमिक वर्गों के बीच सुविधा-स्तर बहुत नीचे था।

कौटिल्य के अनुसार कर्मकरों, दासों और भृत्यों को वेतन के बदले अन्न और वस्त्र दिए जाते थे और इसके अलावा जेब-खर्च के लिए प्रति मास नाम मात्र रकम ताँबे का सवा पण दिया जाता था। मनु के अनुसार भूमिहीन श्रमिक वर्ग (शूद्र) का धर्म ही था उच्च वर्णों की सेवा करना और वे अपने स्वामी की स्वीकृति से भी स्वच्छन्द नहीं हो सकते थे। नारद ने श्रेष्ठता-क्रम से मजदूरों को तीन वर्गों में बाँटा है—सेना में काम करने वाले, कृषि-कर्म करने वाले और भार ढोने वाले।

बेगारी

विष्टि (बेगारी) और दास प्रथा दो ऐसी संस्थाएँ हैं जिनका सम्बन्ध मजदूर से है। विष्टि पूर्वकालीन भारतीय आर्थिक इतिहास में औद्योगिक व्यवस्था का एक प्रसिद्ध अंग थी, जिसके सहारे कई अतिशय विशाल निर्माण सम्भव हुए। शिल्पी, उद्योगपति, मजदूर आदि को प्रति मास एक दिन राजा के काम में मुफ्त खटना पड़ता था। ग्राम-समुदाय को प्रजा के लिए कुआँ, पोखरा, नहर, सड़क, सार्वजनिक भवन आदि का निर्माण और अनुरक्षण करना पड़ता था और इसमें समुदाय के हरेक सदस्य को अपना हाथ बँटाना पड़ता था, ताकि ये निर्माण दुरुस्त रह सकें।

प्राचीन भारत में बेगारी खूब प्रचलित थी। राज्य इस मुफ्त सेवा पाने के अपने अधिकार का प्रयोग उचित अवसर आने पर किया करता था। कौटिल्य ने विष्टि के विविध प्रकार की सविस्तार विवेचना की है। ऐसे काम के लिए प्रति परिवार से कितने-कितने आदमी देने होंगे, इसका निर्धारण राज्य करता था। धनी लोग इसमें अपने-अपने दासों को भेजते थे। इसमें दबाव का भाव स्पष्ट है और इसे मानवीय श्रम के शोषण का एक सहज उदाहरण माना जा सकता है। दास और कर्मकर वर्ग बेगारी देने के लिए सदा बाध्य रहते थे (अशा—II. 15; V. 3)। एक अधिकारी, जिसका पदनाम 'विष्टि बन्धक' था, बेगारी जुटाने के लिए रखा जाता था। विष्टि राज्य की आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत थी। मनु ने विष्टि को सामान्य करों के रूप में रखा है। यह एक स्मृति सम्मत

प्रचलित प्रथा थी। सामन्ती ढांचे में दानग्राहियों (जागीरदारों) को अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी हद तक बेगारी की मात्रा बढ़ाने का अधिकार रहता था। पुरालेखों से प्रतीत होता है कि बलजोरी मुफ्त काम लेने का रास्ता खुल जाने पर विष्टि अपनी अन्य सहवर्ती परिपाटियों के साथ एक नियमित परिपाटी या रूढ़ि हो गई। गुप्त-काल में इसमें तरह-तरह के मुफ्त श्रमदोहन शामिल हो गए और इसकी कहीं सीमा न रही।

अपने अधिकारियों के दौरे के अवसर पर या अपने सैनिक प्रयोजनों के लिए राजा अधिकारपूर्वक जबरन किसी से भी बेगारी ले सकता या किसी को भी शाही फौज में भरती कर सकता था। छठी शताब्दी ई० में यह कमारों, बढ़इयों, नाइयों, कुम्हारों आदि पर भी लादी गई। कल्हण के अनुसार लोगों से बलजोरी भार ढुलवाया जाता, सड़क बनवाई जाती और तरह-तरह के और-और काम कराए जाते थे। हुएनत्सांग ने जबरन मुफ्त काम कराने की परिपाटी का उल्लेख किया है। इस तरह की बेगारी के टट्टुओं से अच्छे उत्पादन की आशा कभी नहीं की जा सकती है (इहिक्वा—XXXVIII नं० 1,1962)। भारत में मौर्यों की अमलदारी से ही बड़े-बड़े लोकनिर्माणों की रचना और अनुरक्षण बेगारी प्रथा की ही देन हैं, जैसे हिमालय पर्वत होते हुए तिब्बत जानेवाली सड़क तथा तंजोर का महामन्दिर।

बेगारी लगाने (श्रम कर लेने) की प्रथा कौटिल्य के काल से या उससे भी पहले से चली आ रही थी। गुप्त सम्राट् इसकी वसूली करते थे। 'अग्निपुराण' के अनुसार ऐसे बेगारों को भोजन देना राजा का कर्तव्य है। लक्ष्मीधर के अनुसार लुहार, कुम्हार, माझी, गाड़ीवान और नट से मास में एक दिन बेगारी ली जानी चाहिए। परवर्ती काल में, जब सेना चलती थी तो लोगों से जबरन भार ढुलाया जाता, सड़कें बनवाई जातीं और अन्यान्य सेवाएँ ली जाती थीं। कश्मीर में हर्ष के शासन काल में ब्राह्मणों से भी इस तरह का काम लिया जाता था।

बेगारी उन क्रूर और अनैतिक प्रथाओं में थी जो गरीबों की स्थिति को बिगाड़नेवाली थीं। कौटिल्य ने इसे राजकीय अधिकारियों और भूस्वामियों का विशेषाधिकार माना है। बौद्धों और जैनों ने भी इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाई। यह एक ऐसा विशेषाधिकार था जिसे राजा किसी को प्रदान कर सकता था। भूमि का दान समय-समय पर बेगारी लेने के अधिकार के साथ दिया जाता था। (एइ—IV, 80; XI-81)। कुम्हारों और अन्य पंसारियों के परिवार दानग्राहियों को सौंप दिए जाते थे। जब राजा की सवारी किसी गाँव में आती थी तो

ग्रामवासियों को उनकी माँग के अनुसार भोजनादि की सारी व्यवस्था करनी पड़ती थी। इससे अमीर-उमरा भी बरी नहीं थे (एइ—IV.80; XI. 6, 177, 81)। गरीब वर्ग की आर्थिक स्थिति का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि ग्रामवासी राजा के अधिकारियों और सेवक उनके सेवकों को दूध, घास, जलावन, सब्जी आदि वस्तुएँ मुफ्त देने के लिए बाध्य थे। दानग्राही को कुछ देनदारियों की कठिनाइयों से बचाने के लिए शिवस्कन्द वर्मन् ने आदेश दिया—"यह आराम सभी करों से नमक और चीनी के कष्टों से मुक्त, करों और बेगारियों से मुक्त; बैल, घास, जलावन, सब्जी और फूल के हरण से मुक्त रहेगा; इन छूटों और अठारह प्रकार की अन्य देन दारियों से छूटों के साथ यह आराम मुक्त रहेगा और इस प्रान्त के निवासियों द्वारा मुफ्त रखा जाएगा" (एइ—I. 6)। आठवीं शताब्दी ई० में आकर यह प्रथा कहीं अधिक बलवती और बहुमुखी होकर भारतव्यापी हो गई। कोई किसी भी जाति का क्यों न हो, बेगारी चुकानी ही पड़ती थी।

कृषि के क्षेत्र में बेगारों को लगाने की घटना सबसे पहले 'भागवतपुराण' में मिलती है। इसमें तीन प्रकार की बेगारी का दर्शन होता है :

(1) अनैच्छिक अवैतनिक श्रम (विष्टि),
(2) अनैच्छिक वैतनिक श्रम और
(3) महाजनों द्वारा (सूद में) लिया गया श्रम।

उत्तर मध्यकाल में इस प्रथा को सुव्यवस्थित रूप देने की प्रवृत्ति देखी जाती है। 'सारावली' (नौवीं शताब्दी) से प्रकट होता है कि उस समय बेगारों से खेती कराने की प्रथा प्रबल हुई थी। कुछ धर्मदायों और धार्मिकेतर भूस्वामियों की भूमि में बेगारी की गुंजाइश थी। मेधातिथि ने कहा है कि बलात् श्रम लेने के विषय में स्मृतिवचन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह सामाजिक व्यवस्था में संक्रान्त हो चुका है।

दास श्रमिक

प्राचीन भारत में श्रमिक समस्या का एक दूसरा पहलू है दास-प्रथा। वैदिक काल में दास या गुलाम दान या प्रीतिदान में दिए जाते थे। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है :

(1) युद्ध-बन्दी,
(2) भरण पोषण के लिए बना दास,
(3) दासी का पुत्र
(4) धन से खरीदा हुआ,

(5) दान में प्राप्त
(6) आनुवंशिक, और
(7) अपराधवश बनाया गया।

नारद ने पन्द्रह प्रकार के दास बताए हैं :

(8) स्वामी के घर में उत्पन्न,
(9) दायागत या आनुवंशिक,
(10) दुर्भिक्ष के समय पालित,
(11) यथार्थ स्वामी द्वारा गिरवी किया हुआ,
(12) "मैं आप का हूं" यह घोषणा कर आया हुआ,
(13) नियत अवधि के लिए दासताबद्ध,
(14) भरण-पोषण के लिए दासत्व स्वीकार करनेवाला और
(15) आत्मविक्रयी संन्यासच्युत आदि।

नारद के अनुसार दास सभी अशुचि कर्म (गन्दा काम) करते हैं। दास का काम अधम कोटि का होता था। महाजनों को कर्ज चुकाने के लिए या राजा के अधिकारियों द्वारा लगाए गए दंड चुकाने के लिए लोग अपने को बेच-बेचकर दास बनने के लिए बाध्य होते गए और इस प्रकार समय-समय पर दासों की संख्या बढ़ती गई यद्यपि कामगार अधिक स्वतन्त्र रहते थे, फिर भी उनकी दशा दासों से भी बदतर रहती थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और सामाजिक संस्थाएँ खुलती गईं, त्यों-त्यों दास-प्रथा अधिकाधिक सुव्यवस्थित होती गई और इसके रूप और प्रकार बढ़ते गए।

वैदिक साहित्य में केवल एक युद्धबन्दी दास होता था। 'विनयपिटक' में तीन है, 'विधुरपंडित जातक' के श्लोक में चार हैं, मनु में सात, कौटिल्य में आठ और नारद में तो यह बढ़ते-बढ़ते पन्द्रह प्रकार के हो गए। दासत्व से मुक्ति और उद्धार का भी प्रावधान था।

राजा के दास राज्य की औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी स्थापनाओं में खटते थे (अशा—II. 24) या राजा की सेना में लड़ाई करते थे। निजी दास छोटे-छोटे खेतों या औद्योगिक कर्मशालाओं में काम करते थे। मालिक कभी-कभी अपने दासों को भाड़े पर लगाते थे और इस तरह उनके सहारे एक लाभकर व्यापार चलाते थे। दासियों का प्रयोग रखेल और वेश्या के रूप में भी किया जाता था। बुद्ध ने दासों पर दयाभाव रखने का उपदेश दिया है। अशोक ने भी ऐसा कहा है (शैले—XIII)।

दास बहुत-सी कानूनी कठिनाइयों में जकड़ा रहता था इस अर्थ में वह अपने मालिक की मानों चलन्त सम्पत्ति होता था। विदुर कहता है—"मैं जन्म से दास हूँ। मेरे दुख-दर्दों का विधाता राजा है। यदि मैं दूसरे के पास चला जाऊँ तब भी राजा का ही दास रहूँगा। वह अपने अधिकार से मेरा दान तुम्हें दे सकता है।" दास को सम्पत्ति का अधिकार नहीं था। संघ का दरवाजा उसके लिए बन्द था। वह साक्षी नहीं हो सकता था। उसे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक दृष्टि से तथा अन्यान्य दृष्टियों से भी तरह-तरह के अपमान का सामना करना पड़ता था। जो वर्ग उच्च वर्णों के टहलुए का काम करता था, वह जन्मतः अधम होता था। नारद ने दास के लिए जिन गन्दे कामों का विधान किया है, 'अर्थशास्त्र' में दास के लिए उन कामों का निषेध किया गया है। मनु और नारद ने दास को सम्पत्ति का अनधिकारी कहा है, किन्तु कौटिल्य ने उसे धन के अर्जन, स्वामित्व और दाय का अधिकारी माना है। कहा गया है कि दास की सम्पत्ति पर उसके मालिक के दावे से पहले उसके ज्ञातियों का दावा होता है। दास को बेचना या गिरवी रखना निन्दनीय समझा जाता था। दासियों के सतीत्व की रक्षा न केवल उसे मालिक से बचाकर बल्कि राजकीय अधिकारियों तथा अन्य पुरुषों से भी बचाकर यत्नपूर्वक की जाती थी। कौटिल्य के अनुसार आर्य दास हो जाने पर भी अपना जन्मजात अधिकार खोता नहीं है।

मगध के उत्थान काल से दास-प्रथा अधिकाधिक बढ़ती गई और बौद्ध साहित्य में ऐसे असंख्य प्रसंग आए हैं जहाँ दास की परिभाषा दूसरे पर आश्रित सहवासी के रूप में की गई है। पूर्वकालीन पुराख्यान काव्यों में दासको अपशु कहा गया है। धर्मशास्त्रों में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति के साथ-साथ दासों के भी उत्तराधिकार की व्यवस्था दी गई है। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन भारत में दासों के मालिक होते थे और दासों का भी वारिसों के बीच बँटवारा होता था। दास बेचा जा सकता था, गिरवी किया जा सकता था, जुए की दाँव में रखा जा सकता था और उसे अपने विषय में भी कुछ निर्णय करने का अधिकार नहीं होता था। दास का मूल्य उसके स्वास्थ्य और कौशल के अनुसार भिन्न-भिन्न होता था। वह सदा दंड के भय से काम करता था। वह अपनी मुक्ति पैसा चुकाकर खरीद सकता था। दास के प्रति कौटिल्य का रूख स्मृतिकारों से बेहतर है।

आर्थिक क्रिया-कलाप की भीतरी धरा पर दासों का कृतित्व प्राचीन भारत में अवश्य रहता था। दासों के श्रम से खेती की जाती थी-राजकीय खेतों में, निजी खेतों में, मठों और विहारों की सम्पदाओं में तथा कई अन्य क्षेत्रों में भी। दास

श्रमिक मजदूरी पर काम करनेवाले स्वतन्त्र श्रमिकों के बहुत निकट थे। कौटिल्य दासों और कर्मकरों को एक ही समूह में रखते हैं। दास घरेलू काम में भी लगाए जाते थे। स्वामी और दास के बीच पितापुत्रादिवत् सम्बन्ध रहता था और इसी आधार पर मेगास्थनीज ने कहा होगा कि सभी भारतवासी स्वतन्त्र थे, उनमें कोई भी दास नहीं होता था। आर्थिक क्रियाकलाप के विकास में अवश्य ही दासप्रथा का योगदान है और दासप्रथा की बदौलत ही आदि कालीन समाज की तुलना में एक प्रगतिशील रूप निखरा।

दास दो तरह के होते थे—कृषिदास और गृहदास। समृद्ध वर्ग अपने खेतों में खटाने के लिए भाड़े पर दास और कर्मकर रखते थे। दास राजाओं और अमीरों के दरबार में परिजन का काम भी करते थे। बुद्धदेव ने दासों के प्रति दयापूर्ण बरताव करने का तो उपदेश दिया है, परन्तु गरीबी और दासप्रथा को समाज की बुराई बताकर उसको मूलतः समाप्त कर देने की आवश्यकता नहीं प्रतिपादित की है। कौटिल्य पूर्व काल में दास पर स्वामी का अधिकार असीम था। कौटिल्य ने उन लोगों के लिए दंडविधान किया जो गिरवी किए गए दासों से कुछ खास प्रकार के गन्दे काम कराते थे। गुप्त-काल में स्थिति बदली। यहाँ हम देखते हैं कि नारद दासों और कर्मकरों में इस आधार पर भेद करते हैं कि दास अशुचि कर्म करते हैं, किन्तु कर्मकर वैसा नहीं करते। अशुचि कर्म दास करते थे और शुचिकर्म कर्मकर। नारद और कात्यायन से दासों की हालत आम तौर से बिगड़ने का संकेत मिलता है। कौटिल्य ने मुक्त आदमियों को खरीद कर दास बनाना अवैध घोषित कर दिया।

मजदूर श्रमिक या कर्मकर

मजदूर श्रमिकों अर्थात् कर्मकरों का स्थान दासों के नीचे था। अकुशल कर्मकर पाँच प्रकार के होते थे :

(1) कृषि एवं पशुचारण श्रमिक—भूस्वामी लोग भारी संख्या में उन कृषि-श्रमिकों, दासों और कर्मकरों को खटाते थे जिनका अपना कोई संघ नहीं होता था। दासों और कर्मकरों के अलग-अलग दल जोत-कोड़, रखवाली, कटनी, चरवाही और गोरस उत्पादन में लगाये जाते थे। बहुत से पेशेवर हलवाहे और रखवाले होते थे जिनकी झोपड़ियाँ खेत के निकट रहती थीं। ओसाने, फटकने वाले भी होते थे।

(2) औद्योगिक श्रमिक—दास के साथ-साथ कर्मकर भी राज राजकीय स्थापनाओं में या निजी स्वामियों के अधीन कताई, बुनाई या अन्य निर्माण कार्यों में लगाए जाते थे।

(3) वाणिज्य श्रमिक—दासों के साथ साथ भाड़े के मजदूर फेरी लगाकर माल बेचने या नाव चलाने के काम में स्थलीय और जलमार्गीय व्यापारियों द्वारा नियोजित किए जाते थे। ये अपने मालिकों के विदेश भी जाते थे।

(4) प्रकीर्ण श्रमिक (गृहसेवक सहित)—इस वर्ग में वे श्रमिक आते थे जो धनियों और व्यापारियों के घर में काम करते थे। इसमें मजदूर भी शामिल थे।

(5) सीर-वाहक (बृहस्पति वर्णित)—सीर वाहक शायद वे श्रमिक कहलाते थे जो 'सीर' भूमि जोतते थे। वे इच्छाधीन अभिधारी होते थे और उपज में हिस्सा (हिस्सा तृतीयांश से पंचमांश तक—द्रष्टव्य, विल्सन की ग्लासरी पृष्ठ 485) पाते थे।

भाड़े के श्रमिक अर्थात् कर्मकर कृषि, पशुपालन, उद्योग और व्यापार के कामों में नियोजित होते थे। उत्पादन की पद्धति ऐसी थी कि उसमें भाड़े के श्रमिक, बेगार और दास आदि लगाए जाते थे। कर्मकर तीन प्रकार के होते थे—सैनिक, खेतिहर और भारवाहक तथा गृहसेवक आदि। उन्हें नकद या अन्न में हिस्से के रूप में मजदूरी मिलती थी। कृषि-सेवक के लिए नारद ने उपज का दसवाँ हिस्सा, बृहस्पति ने भोजन के साथ पाँचवाँ हिस्सा और भोजन के बिना तीसरा हिस्सा निर्धारित किया है। बौद्ध संघ इत्सिंग के अनुसार बैल और खेत देते थे और उसके बदले सामान्यतः उपज का छठा हिस्सा लेते थे। इसमें मौसम के अनुसार हेरफेर भी होता था। मठों और विहारों की भूमि में काश्तकार को छह भागों में पाँच भाग तक मिलता था। स्मृतियों में स्वामी और सेवक दोनों के पारस्परिक दायित्व का प्रतिपादन किया गया है।

दासों के बाद इस नये श्रमिक-वर्ग (कर्मकर) का उद्‌भव अवश्य ही आर्थिक मन्दी का परिणाम है। भाड़े के श्रमिक और आकस्मिक मजदूर सदा गरीबी और तकलीफ में रहते थे। विपन्नता और सम्पन्नता दोनों साथ-साथ चलती थीं और यद्यपि मजदूरी पर खटना अधम समझा जाता था, तथापि मजबूरन इस पेशे में आए लोगों की संख्या कोई कम न थी। पालि स्रोतों से ज्ञात होता है कि जीवन-यापन सबों के लिए आसान नहीं था। अकिंचनता और भूख से विवश लोग अपने को बेचकर दासता तक अंगीकार करते थे और इन्हीं बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाड़े के श्रमिकों की विपन्न आर्थिक स्थिति के बावजूद भूमिहीन और अकिंचन वर्गों के लोगों के इस वर्ग में आते रहने के कारण इस वर्ग की जनसंख्या

बढ़ती ही गई। श्रमिकों को पारिश्रमिक नकद या वस्तु रूप में दिया जाता था। उनकी सामान्य कार्य-स्थिति दयनीय थी और उनका भोजन निम्न स्तर का था। कर्मकरों की औसत दैनिक कमाई बहुत ही छोटा ताँबे का सिक्का होती थी, जो निर्वाह-योग्य वेतन से कतई कम मूल्य का होता था। जैसे :

(1) प्रतिमास 20 माषक या प्रतिदिन 2/3 माषक (अशा—II. 24);
(2) 1 पण—16 माषक अधम भृत्य के लिए (मनु);
(3) 6 पण—96 माषक उत्तम भृत्य के लिए, साथ ही एक द्रोण अन्न और वस्त्र हर छमाही (मनु – VII. 126);
(4) 1¼ पण कृषि सेवकों और खेत के रखवालों के लिए किए गए काम के अनुपात में भोजन सहित (कौटिल्य—II. 24)
(5) बृहस्पति (XVI. 8) ने वेतन पर और उपज में हिस्से पर काम करने वाले श्रमिकों का उल्लेख किया है।

श्रमिक हमेशा पेट भर भोजन का हकदार नहीं होता था; कभी-कभी उसके काम की मात्रा के आधार पर उसके भोजन में कमी भी की जाती थी। पारिश्रमिक जो नकदी या जिन्सी दिया जाता था, बहुत ही कम मिलता था। खेतिहरों को उपज में, पशुपालों को घी में और फेरी वालों को बिक्री राशि में लाभांश की दरें जानकारों द्वारा तय की जाती थीं (अशा—III. 1) थीं। बृहस्पति ने इस पद्धति को कुछ उदार बनाया। धर्मशास्त्रों में पाए गए श्रमिक सम्बन्धी विधानों से ऐसा प्रकट होता है कि सम्पत्ति के वितरण में इस मौलिक विषमता की ओर लोक चेतना नहीं थी, क्योंकि ये रक्षात्मक नियम कानून भी तो प्राचीन परम्परा से ही निकले हुए थे। दासों, कर्मकरों और अकुशल श्रमिकों की आर्थिक स्थिति विकट थी। कर्मकरों को बृहस्पति ने उनकी हैसियत के अनुसार ऊपर से नीचे के क्रम से चार कोटियों में रखा है—योद्धा, खेतिहर तथा भारवाहक एवं गृहसेवक (XVI. 10)। छोटे-छोटे शिल्पियों के चेले को आम तौर से कड़ा श्रम करना पड़ता था और उसमें किसी भी स्थिति में कमी न होती थी।

अध्याय 9

व्यापार और वाणिज्य

I

व्यापार उद्योग का सहज परिणाम है क्योंकि; औद्योगिक उत्पादन को खपाने के लिए बाजार की खोज जरूरी हो जाती है। औद्योगिक उन्नति के साथ ही गहन भीतरी और बाहरी व्यापार का विकास हुआ और समुद्री व्यापार भी उदित हुआ। भारत में समुद्री व्यापार की चहल-पहल सिन्धु घाटी काल से ही दिखाई देने लगती है और फिर वैदिक 'पणियों' ने इसे आगे बढ़ाया। विदेशों से साथ भारत के व्यापार की प्राचीनता इतिहास समर्थित तथ्य है।

(1) ऋग्वेद में पोतों का और धनार्जन के लिए वणिकों की समुद्र-यात्रा का जो निर्देश है उससे भारत में समुद्री व्यापार का अस्तित्व ध्वनित होता है;

(2) डा० सेस (Sayce) ने यह प्रतिपादित किया है कि भारत और बेबोलोनिया के बीच व्यापार कम-से-कम 3000 ई० पू० में ही चालू था। बेबिलोनिया में भारतीय सागवान की लकड़ी पाई गई है।

(3) असीरिया के शलामानसर चतुर्थ (आठवीं शताब्दी ई० पू०) ने बैक्ट्रिया और भारत से उपहार पाया था।

(4) 'बबेरुजातक' से प्रकट होता है कि पश्चिम भारत के लोग फारस की खाड़ी के तटप्रदेशों में समुद्री मार्ग से जाकर व्यापार करते थे।

(5) लासन (Lasson) ने बताया है कि मिस्र के लोग भारतीय नील रंग में अपने कपड़े रँगते थे और अपने ममियों (पुरातन शवों) को भारतीय मलमल में लपेट कर रखते थे। इससे जाहिर होता है कि भारत को मिस्र के साथ नियमित व्यापार-सम्पर्क था।

(6) ओल्ड टेस्टामेन्ट में भी पश्चिमी एशिया और फिलस्तीन के साथ भारत के व्यापार का हवाला आया है।

प्रजाति-प्रजाति के बीच, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच, देश-देश के बीच और संस्कृति-संस्कृति के बीच सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने में भारत के स्थलीय एवं समुद्री व्यापार वाणिज्य का अवश्य ही सशक्त हाथ रहा होगा। मालों के विनिमय से अवश्य ही देश को एक सुदृढ़ आर्थिक एकात्मता प्राप्त हुई, जिसके साथ बाह्य देशों का

भी वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ऋग्वेद (I. 56. 2.) के समय में ही वणिक् महत्त्वपूर्ण हो चुके थे जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है—"जिस तरह धन की कामना करने वाले वणिक् समुद्र के चारों ओर छाए रहते हैं, उसी तरह ये पुरोहित लोग इन्द्र के चारों ओर विद्यमान हैं।" वैदिक 'पणि' व्यापारी जन थे।

वणिक् विविध वस्तुओं का व्यापार करते थे; जैसे अन्न, फल, गन्ध, रस, खाल, लकड़ी आदि-आदि। दूकानें सड़कों के दोनों किनारे दो कतारों में विन्यस्त रहती थीं। तरह-तरह के उद्योगों के प्रचुर उत्पादन के फलस्वरूप विशाल मात्रा में भीतरी और बाहरी व्यापार चलने लगा। थोक व्यापारी और दलाल उत्पादक एवं उपभोक्ता के बीच में सक्रिय थे। व्यापार की विशाल मात्रा से सहज ही अनुमान किया जाता है कि विनिमय की अच्छी प्रणाली रही होगी। आरम्भ में अवश्य ही वस्तु-विनिमय का प्रचलन रहा होगा। मूल्य का एक प्रतीक गाय को माना जाता था और धातुमुद्रा के अर्थ में 'निष्क' भी था। हिरण्य', 'हिरण्यपिण्ड', 'शतमान', 'सुवर्ण', 'पाद', 'कृष्णल', आदि शब्द पूर्वकाल की विविध मुद्राओं के अर्थ में प्रचलित थे। एरियन के अनुसार भारत में सिकन्दर से बहुत पहले से ही सिक्का ढाला जाता था।

सुसंगठित दूकानों और मंडियों के अतिरिक्त, फेरीवाले भी विविध वस्तुएँ बेचने में काफी हाथ बँटाते थे। बड़े-बड़े व्यापारी उत्पादन-केन्द्रों से गाड़ियाँ भर-भर सामान जुटाते थे और उन्हें दूर-दूर देश भेजते थे। दो-दो पहियोंवाली बैल-गाड़ियों का लम्बा ताँता (जैसा कि भरहुत मूर्तिशिल्पों में प्रदर्शित है) खरीद और वितरण का दृश्य प्रस्तुत करता है। ऐसे बड़े-बड़े सार्थों, कारवों का निर्देश मिलता है जो 'सार्थवाह' शब्दों से विदित एक मुखिया के नेतृत्व में पाँच-पाँच सौ गाड़ियों के साथ चलता था। पूरब से पश्चिम को जानेवाली हजार गाड़ियों के एक कारवाँ का भी उल्लेख मिलता है। आम तौर से पाँच-पाँच सौ गाड़ियों पर एक-एक सार्थवाह दिया जाता था। बड़े व्यपारी और वणिक् बड़े-बड़े नगरों में अपने थोक विक्रेता एजेंट भी रखते थे। वे कमीशन या लाभांश के आधार पर खुदरा विक्रेताओं के बीच माल बाँट देते थे। इस विषयकी विस्तृत नियमावली 'अर्थशास्त्र' में मिलती है। खुदरा व्यापारी उस दर से मूल और लाभ चुकाने को बाध्य होते थे जो दर माल उठाने के समय प्रचलित थी और उसमें टूट-फूट के लिए कुछ रियायत करनी होती थी। व्यापारियों को दलालों की दैनिक कमाई का हिसाब रखना होता था और वह रकम तय कर देनी होती थी जिससे वे अपना निर्वाह करेंगे,

क्योंकि विक्रेता और क्रेता के बीच जो भी आय (अर्थात् दलाली) होती है, वह लाभ में शामिल नहीं है। दलालों को अच्छी आय होती थी

साझेदारी

व्यापार और कारबार में साझेदारी अज्ञात नहीं थी। महाभारत में कहा गया है कि धन की चिन्ता अकेले नहीं करनी चाहिए। व्यापारियों ने अपने व्यापारिक प्रयासों में साझेदारी कायम की और वे आकर्षक लाभ प्राप्त करते रहे। कारबार में सहकारिता के उदाहरण कम नहीं हैं। कारवाँ-दल और समुद्रयात्रियों आदि के दल अपनी दूर की यात्राओं में सुरक्षा के ख्याल से ही आपस में एकजुट होते थे और सार्थवाह को अपना नेता बनाते थे। इस संस्था में इसकी आवश्यकता न होती थी कि व्यापारियों के बीच का कोई संघटन हस्तक्षेप करे। व्यापारियों के ग्रामों के भी निर्देश मिलते हैं, किन्तु ऐसे ग्रामों के स्वरूप के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। अलग-अलग व्यापारी अपनी-अपनी व्यापारिक सूझ के अनुसार पारस्परिक हित के लिए तथा व्यापारजीवी समुदाय के हित के लिए अपने में साझेदारी करता था। कौटिल्य (VIII.4) के अनुसार, व्यापारी लोग मूल्य बढ़ाने और अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए एकजुट होते थे। 'सामयिकपत्र' (शुक्रनीति के अनुसार) या साझानामा वह संलेख है जो किसी व्यापार-कार्य के लिए पूँजी में अपने-अपने हिस्से को मिलाने के निमित्त लिखा जाता था। व्यापार दीर्घ काल तक भटकाव और झटके का विषय रहा।

व्यापार की परिपाटी

व्यापार की परिपाटी से वाणिज्य के विकास की झलक मिलती है। व्यापारिक दस्तावेजें मालूम थी। बड़े-बड़े सौदे उधार पर चलते थे। सट्टेबाज वणिक् लोग गारंटी देते थे। व्यापारी लोग अपने माल का विज्ञापन कई तरीकों से करते थे—अपने माल की बड़ाई खुद करके या एजेंटों के जरिए कराकर, इश्तिहार देकर आदि। स्ट्राबो ने सूचना प्रसारित करके आम नीलाम द्वारा बिक्री का उल्लेख किया है। व्यापार पर राजनैतिक संकट का असर पड़ता था। बौद्ध साहित्य में एक दूकानदार का सजीव चित्रण है। वह धूर्त, चालाक, चतुर, अपने ग्राहकों को विश्वासी बनाने में कुशल और इन गुणों के सहारे अपने जीवन में उन्नति प्राप्त करनेवाला कहा गया है। दूकानदार 'आपणिक' कहलाता था।

सेट्ठि

शहरी व्यापारी-समुदाय के प्रसंग में, वैदिक साहित्य में हम 'श्रेष्ठिन' या 'श्रेष्ठ' शब्द पाते हैं, वह बौद्ध काल में 'सेट्ठि' शब्द से विदित था। व्यापार-जगत

में उसका स्थान सर्वप्रथम था। वह महान् व्यापारी होता था। गहरे समुद्र के पार तथा पूर्वान्त से अपरान्त तक कारवाँ चलाता था। विहारी क्षेत्र के 'भोजक' और औद्योगिक क्षेत्र के 'जेठक' के समान परम समृद्ध और प्रजा में प्रतिष्ठित सेट्ठि व्यापारी वर्ग का प्रधान होता था और राजा के निकट सम्पर्क में रहता था। जातकों' के अनुसार उसकी सम्पत्ति अस्सी करोड़ की होती थी। वह अनाज को जमा करके रखता था, ताकि दुर्भिक्ष के समय बेचकर अधिक लाभ पा सके।

सेट्ठि लोग सबसे अधिक धनी होते थे और उन्हें आर्थिक ढाँचे में अद्वितीय स्थान प्राप्त था। कभी-कभी साधारण व्यापारी भी अपने को 'सेट्ठि' कह देता था, जैसा कि कार्ले गुहा-लेख से प्रकट होता है। जेतवन के दान के समय श्रावस्ती को मुख्य सेट्ठि अनाथपिण्डक पाँच सौ सेट्ठियों से सेवित था। सेट्ठि राजा और वणिक्-समुदाय के बीच की कड़ी होता था। वह राज्य के एक उच्चतम पद का धारक होता था। राजा के सात रत्नों में एक गहपति को भी बुद्धघोष ने सेट्ठिगह-पति कहा है।। वणिक्-जाति के व्यापारी के रूप में वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों संघटनों में विशिष्ट स्थान रखता था।

वह आर्थिक दृष्टि से ठोस रहता था। जब राजा संसार से उदास होकर संन्यास लेने लगे तो सेट्ठि ने उन्हें अपना संचित धन देकर संन्यास न लेने का अनु-रोध किया (जातक-V. 85)। वह वणिकों के सहकारी प्रयासों का नेतृत्व करता था। वह राजा का, नागरिकों का और प्रजा का भी आदर पाता था। वह राज का एक पदाधिकारी तो होता था, पर वास्तविक अर्थ में 'राजसेवक' नहीं होता था। उसका चयन राजा सम्पत्ति और प्रभाव के आधार पर करता था, किन्तु आरम्भ में चयनीत होते हुए भी उसका पद कालक्रमेण आनुवंशिक हो गया। जातक' में सेट्ठि की छठी पीढ़ी के एक पुरुष का निर्देश आया है जो अपने पूर्वजों के पद पर आसीन था (जातक–V 384)। वह राजा को वित्तीय नीति के निर्धारण में मदद करता था और सलाह देता था कि किस तरीके से और किस दर से बड़े व्यापारों का अभिनिर्धारण किया जाए। वह राजा का आदेश अपने वणिक्-बन्धुओं तक पहुँचाता था और सम्भवतः ऐसे आदेश के कार्यान्वन के लिए जिम्मेवार भी होता था। कभी-कभी उसकी मदद के लिए 'अनुसेट्ठि' भी रखा जाता था।

अनुसेट्ठि या सेट्ठि को राजा के खजाने से कोई मतलब नहीं रहता था। किसी-न-किसी व्यापार क्षेत्र के पथ-कर, सीमा-शुल्क और सामान्य कर राजकीय सेवा के प्रतिफल के रूप में उसे सौंप दिए जाते थे। नगरीकरण के फलस्वरूप जब उद्योग और वाणिज्य की गतिविधि अधिकाधिक होती गई, सेट्ठि की प्रतिष्ठा और

बढ़ गई और राज्य की आर्थिक गतिविधियों में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई। स्वभावतः उसने शहरी या नगरपालिका प्रशासन को भी प्रभावित किया, जैसा कि बसाढ़, पहाड़पुर और दामोदरपुर की खुदाइयों से जाहिर है। इन पुरावशेषों से सेट्ठि के प्रशासनीक कृत्यों पर अच्छा पार्श्व-प्रकाश पड़ता है। अपनी उदार और निष्कलुष सदाशयता के बल पर वह असाधारण शक्ति और सम्पत्ति का भागी हुआ था।

II

मूल्य और लाभ

वस्तुओं का उत्पादन तो विविध उद्योगों द्वारा किया जाता था, पर उसका मूल्य तब तय होता था जब लोग मोल-मुलाई करके समझौते पर आ जाते थे। मोल-मुलाई की यह परिपाटी जातकों के युग के बहुत बाद तक चलती रही। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच विनिमय की कला का रूप स्वच्छन्द सौदेबाजी का था, और इसमें आमतौर से मोल-मुलाई का तनाव रहता था। व्यापार और उद्योग की अभिवृद्धि होने पर सभी सम्बद्ध लोगों को ऐसा महसूस होने लगा कि इस नाहक खींचा-तानी को दूर करने के लिए किसी-न-किसी तरह से कीमत निर्धारित होनी चाहिए। निर्धारित स्थिर कीमत का लाभ उत्तरोत्तर अधिक प्रतीत होने लगा। अग्गतहारक या अग्गपणिक (जातक-I, 124) सम्भवतः राजकीय मूल्यनिर्धारक था, जो राजभवन के लिए खरीदी जानेवाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था और इसीके परिणामस्वरूप कई मानक लगान भी स्थिर हुए।

स्त्राबो के अनुसार मौर्यकालीन नगरपालिका मूल्यनिर्धारण करती थी। कौटिल्य कहते हैं कि मूल्य-विशेषज्ञ, हर बात को ध्यान में रखते हुए और यह देखते हुए कि माल कितने दिन पहले तैयार हुआ या कितनी दूर से मँगाया गया, उस माल का मूल्य-निर्धारण करेंगे। हमें कौटिल्य और मनु में नियम-निर्धारत मूल्य की बात मिलती है। कौटिल्य निर्धारित मूल्य के अतिरिक्त स्थानीय माल पर पाँच प्रतिशत और बाहरी माल पर दस प्रतिशत लाभ का विधान करते हैं। इस नियम का उल्लंघन करने वाले व्यापारी दंडनीय होते थे (अशा–IV. 2)। मनु के अनुसार, राजा का कर्तव्य है कि हर पाँचवें या पन्द्रहवें दिन लोगों के समक्ष व्यापारी के साथ मूल्य निर्धारित कर दिया जाय (VIII. 401 और आगे)।

लगता है कि बड़े-बड़े व्यापारी और वणिक् राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य सीमा को हमेशा मानते नहीं थे। कौटिल्य कहते हैं—"व्यापारी लोग एकजुट होकर अपने माल की कीमत बढ़ाते हैं और कच्चे माल की कीमत घटाते हैं और इस

प्रकार शतप्रतिशत लाभ पाने की चेष्टा करते हैं (मशा VIII. 4) । कौटिल्य ने इसके लिए दंड-विधान किया है । याज्ञवल्क्य ने (II.549 और आगे) ऐसे वणिक् को कीमत के गिराव या चढ़ाव को जानते हुए भी एकजुट होकर श्रमिकों और शिल्पियों के लिए हानिकर वेतन अपने मन से निर्धारित करें या एकजुट होकर बाहर से आए माल को कम कीमत में खरीदने के लिए दबाव डालें या उसे बेचें, दंडनीय कहा है । विष्णु ने भी अधिक कीमत पर बेचने वालों के लिए दंड-विधान किया है (V. 125 और आगे) । इन सभी स्मृतियों से प्रकट होता है कि ऐसे बेईमान व्यापारी और वणिक् होते थे जो अधिकाधिक लाभ की नीयत से मूल्य-निर्धारण के नियमों का उल्लंघन करते थे । इस विषय में सट्टेबाजों का भी हाथ रहता था और कभी-कभी तो स्वयं राज्य भी लाभ बढ़ाने की नीयत से माल को दबाकर कृत्रिम उपायों से कीमत बढ़ाने की तिकड़म में उन्हीं व्यापारियों के मार्ग पर चलता था । वह पुराना नियम अब भी चालू था कि एक बार जो कीमत तय हो चुकी, वही मान्य रहेगी और जो बिक्री हो गई, वह फेरी नहीं जा सकती ।

नाजायज तरीके

माप-तौल में बेईमानी चलती थी और हमारे स्मृतिकारों ने इसकी निन्दा की है । इस तरह की चालबाजी में सुनारों का स्थान ऊँचा था । दूसरा दुर्व्यवहार था अच्छे माल कह कर घटिया माल दे देना । अपमिश्रण, मिश्रण और तौल में कमी करना भी प्रचलित था जिसके लिए दंड-विधान किया गया है । अपमिश्रण के विषय में याज्ञवल्क्य ने (II, 244) कौटिल्य और बृहस्पति के वचन को दुहराया है । मनु ने भी अपमिश्रण की निन्दा की है । कभी-कभी धन के लोभ से ग्रस्त होकर दलाल और मूल्य-विशेषज्ञ भी बाजार में इस गन्धे व्यापार में हिस्सेदार हो जाते थे । व्यापार में सबसे [illegible] रण था बाजार में आए प्रतिस्पर्धी को उसके माल की गलत निन्दा करके या उसकी खरीद-बिक्री में बाधा डालकर बाजार से निकाल बाहर करने का षड्यन्त्र रचना । इसी कारण से मनु ने यह खुलकर स्वीकार कर लिया है कि वाणिज्य-व्यवसाय में सत्य और असत्य दोनों का सहारा लेना पड़ता है—**सत्यानृतं तु वाणिज्यम्** (IV.6) । कौटिल्य न **पण्याध्यक्ष** (वाणिज्य-अधीक्षक) के जरिए बाजार को नियन्त्रित करने का प्रयास किया । **पण्याध्यक्ष** का कर्तव्य था बाट-माप का निरीक्षण करना (II. 14) और गलत तौल की ठगी से लोगों को बचाना । मौर्यकालीन नगर-प्रशासन के चौथे बोर्ड का काम था व्यापार-वाणिज्य का और साथ-साथ माप-तौल का भी पर्यवेक्षण करना ।

वाणिज्य नीति

वाणिज्य-नीति का पता पूर्व में कौटिल्य तक चलता है। व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा देने के लिए विशेष यत्न किया जाता था और उसके साथ ही लोक-हित में बाजार के कार्य-कलाप पर उसी तरह से कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था। बाजार पर राज्य का नियन्त्रण कौटिल्य के अर्थशास्त्र का कल्याणकर लक्षण है। यह काम अंशतः निम्नलिखित अधिकारियों को सौंपा जाता था—

(1) **शुल्काध्यक्ष**—नगर के चुंगी दफ्तर का प्रभारी।

(2) **पण्याध्यक्ष**—वाणिज्य का प्रभारी या क्रय-विक्रय-अधिकारी।

(3) **संस्थाध्यक्ष**—वाणिज्य वस्तुओं के भंडार का प्रभारी या व्यापारियों के स्टाकों के नियन्त्रण का प्रभारी।

शुल्काध्यक्ष का कर्तव्य था कि बाहर से नागरीक सीमा के भीतर के माल पर शुल्क (चुंगी) बैठाने के सिलसिले में ही एक निश्चित दर पर खुलेआम बिक्री की व्यवस्था करे। इस नियन्त्रण का उद्देश्य यह था कि जनसाधारण उचित कीमत पर वस्तु खरीद सके और व्यापारी कीमत बढ़ाने की कोई तिकड़म न निकाल सकें।

पण्याध्यक्ष का काम था एक ओर स्थानीय तथा चालानी माल की खपत के लिए भीतरी बाजार पर नियन्त्रण रखना तथा दूसरी ओर स्थानीय माल की बिक्री बढ़ाने के लिए बाहरी बाजार ढूँढ़ना। इन्हें राजकीय और निजी दोनों मालों पर नजर रखनी थी। जहाँ तक भीतरी बाजार का सवाल है, इनकी नीति का उद्देश्य था व्यापारियों की तिकड़म से जनता को बचाना और बाहरी बाजार के बारे में इनका काम था निर्यातक व्यापारियों को मित्रवत् सलाह और चेतावनी देना।

संस्थाध्यक्ष का काम था व्यापारियों के दुराचारों से जनता को बचाना। विष्णु ने (V. 122-23) बताया है कि जो व्यापारी गलत तराजू रखे, अपमिश्रित माल बेचे, माल को समेट ले या छुपाकर रखे, ग्राहक से मूल्य लेकर उसे माल न दे और राजा द्वारा जब्त किया हुआ माल बेचे, उसे क्या-क्या दंड होना चाहिए।

राजकीय व्यापार

कौटिल्य के अनुसार, **पण्याध्यक्ष** का कर्तव्य है राजकीय माल को इस तरह बेचने की कोशिश करना जिससे घर और बाहर दोनों जगह अधिक से अधिक लाभ हो। उसे चालू बाजार के हाल से भलिभाँति अवगत रहना चाहिए तथा माल के विभिन्न मूल्य स्तर, माँग, जमाव और निबटाव आदि की जानकारी रहनी चाहिए।

स्थानीय बाजार के सम्बन्ध में, उनका कर्तव्य था कि आपूर्ति फाजिल माल को उचित कीमत दिलाने के लिए एक जगह संचित कर रखें और बाद में कीमत घटाएँ-बढ़ाएँ। स्थानीय उत्पादन वाले राजकीय माल की बिक्री का प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में केन्द्रित था। उन्हें सतर्क कर दिया जाता था कि फाजिल आपूर्ति होने की दशा में वह माल की बिक्री को रोकें नहीं तथा बाजार से माल को समेटें नहीं।

राजकीय माल निर्धारित मूल्य पर अधिकृत व्यापारी के हाथ बेचना है। वह व्यापारी यदि स्वभावतः अधिकाधिक ग्राहकों को आकृष्ट करने के लिए, मूल्य घटाये तो दंडनीय होगा। दिन भर के कारोबार के बाद हर रोज व्यापारी बिके माल का मूल्य, अनबिका माल और बाट-माप भी पण्याध्यक्ष को सौंप देगा। बाहरी बाजार के बारे में, वे स्थानीय एवं चालानी माल के मूल्य-स्तर में अन्तर का विचार करते हुए यह हिसाब करेगा कि हुई बिक्री से लाभ की कितनी गुंजाइश है। यदि उसमें लाभ की आशा न हो, वे सोचेंगे कि माल वस्तुविनिमय द्वारा निबटाया जाय अथवा आगे लाभ की सम्भावना रहने पर, प्रत्याशित लाभ की एक चौथाई ढुलाई में खर्च करें और विविध स्थानीय अधिकारियों से सम्पर्क करके बिक्री का प्रयास करें।

कौटिल्य ने राजकीय व्यापार-वस्तुओं की रक्षा के कई उपायों की सूची दी है। दो उच्चतम राजस्व-अधिकारियों, समाहर्ता और प्रदेष्टा को यह अधिकार सौंपा गया था कि अध्यक्ष और उनके अधीनस्थ अमलों को सामान्य मार्गदर्शन कराएँ। राजकीय कारखानों और भंडारों से, जो राजकीय क्षेत्र के भीतर पड़ते हैं, वस्तुओं की चोरी के लिए दंड-विधान किया गया है।

बाटों और मापों के मानकीकरण की दिशा में प्रयास किया गया था और इसका निश्चित और स्पष्ट निर्देश कौटिल्य (II. 19) में मिलता है। बाटों और मापों की ढलाई के लिए राजकीय कारखाना था और एक विशेष अधिकारी पौतवाध्यक्ष इसका प्रभारी था। बाट लोहे का, स्थानविशेष के पत्थर का, या विशिष्ट गुण वाली लकड़ी का बनता था। बाटों और मापों का निरीक्षण हर चार मास में एक बार पौतवाध्यक्ष द्वारा किया जाता था और यदि माप में कोई त्रुटि पाई गई तो सजा मिलती थी। शृंखलावद्ध तुलाएँ इस तरह बनाई जाती थीं कि राज्य को अपने पावनों की तहसील में अधिक से अधिक सुविधा हो। बाट-माप पर राजकीय नियन्त्रण धर्मसूत्र में भी मिलता है। वसिष्ठ ने कहा है कि कूट मानों और कूट तुलाओं से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। बाट-माप के वैज्ञानिक तरीके से उपयोग की परिपाटी चलाने का श्रेय नन्द राजाओं को है (पाणिनि II. 4.21)।

यद्यपि वस्तुविनिमय की परिपाटी चालू थी, भारत में विकसित सिक्के की परिपाटी भी चलने लगी थी। कार्षापण चान्दी का सिक्का था। आहत मुद्राएँ केन्द्रीय सत्ता की ओर से निर्गत होती थीं। सिक्के राजा के द्वारा निर्गत किए जाते थे, इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि पाए गए बहुलतम सिक्कों का मानक भार 51.5 ग्रेन से 52.5 ग्रेन के बीच पाया जाता है। सिक्का-ढलाई पर राज्य का नियंत्रण था; इस बात की पुष्टि कौटिल्य (II. 12) से होती है, जिसमें मुद्रांकित सिक्कों के प्रभारी अधिकारी '**लक्षणाध्यक्ष**' का उल्लेख है। सिक्के राजकीय सत्ता से बनते थे। टकसाल की नियमव्यवस्था ठोस थी। इस विभाग में एक और अधिकारी थे— '**रूपदर्शक**' अर्थात् सिक्कों की परीक्षा करनेवाला। उनका काम था सिक्कों के परिसंचरण का नियमन करना।

व्यापार का स्वरूप

देश के आर्थिक समुत्थान में व्यापार का बहुत बड़ा हाथ था और सिन्धु-घाटी सभ्यता के दिनों से ही दूर देशों के साथ व्यापार भारत के आर्थिक जीवन का एक विशेष लक्षण था। प्राचीन भारत में हर प्रकार का आन्तरिक और विदेश-व्यापार चलता था। देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में व्यापारियों का ऊँचा स्थान और मान था। **रामायण और महाभारत** में व्यापारियों और उनकी व्यापारवस्तुओं का सजीव चित्रण मिलता है। आन्तरिक व्यापार की मात्रा विदेश-व्यापार की मात्रा से अधिक थी। देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह की वस्तुओं का आवागमन होता था। भिन्न-भिन्न राज्यों को एक दूसरे के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहता था तथा पूरब और पश्चिम के देशों के भीतर व्यापार के लिए बहुत से वाणिज्य-मार्ग थे। भारत का पूरब और पश्चिम के बहुत-से देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध था। व्यापारी कई नामों से पुकारे जाते थे। विदेश व्यापार प्रतिष्ठित एवं विधि-सम्मत आजीविका माना जाता था। देश के उत्पादनकारी संघटन की खाई इससे भरती थी। भारतीय कारवाँ एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करता था। कौटिल्य और मनु ने देशी और विदेशी व्यापार के स्वरूप और महत्त्व की चर्चा की है। वह राष्ट्र की समृद्धि के विशिष्ट साधन था। मात्रा बढ़ाने के फेर में कारीगरी और गुणवत्ता को तिलांजलि नहीं दी जाती थी। कौटिल्य और मनु वाणिज्य-वृत्ति के चरम औचित्य के कायल थे और दोनों ने ठोस व्यापार के मूल सिद्धान्तों पर जोर दिया है।

III

व्यापार मार्ग

परिवहन व्यापार एवं उद्योग के शरीर का मानों रक्त-संचार है। परिवहन और संचार के साधन मानों राष्ट्रीय शरीर की धमनियाँ हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा

में कहा गया है कि विविध प्रकार के वाहन आवश्यक हैं और राजपथों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। रथ, गाड़ियाँ, याक, बकरा, घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि वाहक पशुओं का इस्तेमाल सुविधानुसार भिन्न-भिन्न तरह के इलाकों में किया जाता था और राजपथ एवं राष्ट्रीय महामार्ग दुरुस्त रखे जाते थे। सड़कों का वर्गीकरण उनके उपयोग या गम्य स्थान के अनुसार होता था। वाणिज्य-वस्तुएँ सड़क से गाड़ियों या अन्य वस्तुओं पर ढोई जाती थीं। नदियाँ भी परिवहन-साधन थीं। समुद्रगामी पोत समुद्रतटीय यातायात के काम में आते थे। ग्रामों और जनपदों की एकान्तता सक्रिय व्यापार से तथा इनके बीच से गुजरती हुई वाणिज्य की बड़ी-बड़ी सड़कों से भंग होती थी। बहुमुखी दिहाती सड़कें गावों और जनपदों को एक-दूसरे से जोड़ती थीं और इन्हें केन्द्रीय बाजार से जोड़ते हुए कारवाँ चलते रहते थे।

व्यापार की उन्नत स्थिति का आभास न केवल सड़कों और बाजारों की ओर अधिक ध्यान से मिलता है, बल्कि विभिन्न व्यापार-मार्गों के बुद्धिमत्तापूर्ण आकलन से भी मिलता है। हिमालय की ओर जानेवाली सड़कें दक्षिणापथ को जानेवाली सड़कों से अच्छी थीं, हालाँकि कौटिल्य के अनुसार दक्षिण का मार्ग अच्छा है, क्योंकि उस रास्ते से नाना प्रकार की प्रचुर वाणिज्य वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं (II.11-12)। कौटिल्य ने जो भारत के विभिन्न प्रदेशों के खेतों और कारखानों आदि के तरह-तरह के उत्पादनों की अद्भुत सूची दी है उससे मालूम हो जाता है कि भारत का भीतरी व्यापार कितना विस्तृत था। मौर्यों ने न केवल महत्त्वपूर्ण आन्तरिक व्यापार मार्गों को नियन्त्रित किया, बल्कि देश से बाहर पूरब और पश्चिम जानेवाले स्थलमार्गों तथा जलमार्गों को भी अपने नियन्त्रण में लिया। सिल्यूकस से सिन्धु घाटी बरामद करने तथा अतिरिक्त क्षेत्र हस्तगत करने के बाद मौर्यों ने पश्चिमोत्तरी और पश्चिमी स्थल मार्गों पर काबू पाया जो भारत को भूमध्य सागरीय देशों से जोड़ते थे। डेकन की विजय से कई महत्त्वपूर्ण मार्ग और बन्दरगाहें मगध साम्राज्य के अधीन आ गईं और कलिंग-विजय के फलस्वरूप पूरबी व्यापार पर पूरा आधिपत्य जमाने में जो एक सम्भावित प्रतिस्पर्धा थी, उसका भी अन्त हो गया और व्यापार-मार्गों पर काबू पाने का सिलसिला पूरा हो गया। यूनानी राज्यों के साथ मैत्री स्थापित होने से भी भारत को अपना व्यापार पश्चिम एशिया एवं मिस्र में फैलाना आसान हो गया।

हमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण स्थल मार्गों की जानकारी मिलती है:

(1) मध्यगंगा मैदान को निम्न गंगा-मैदान और पूरबी समुद्रतट से मिलाने वाला;

(2) मध्यगंगा-मैदान को उच्च गोदावरी घाटी और दक्षिण-पश्चिमी समुद्र-तट से मिलाने वाला;

(3) मध्यगंगा-मैदान को सिन्धु प्रदेश और सिन्धु नदीमुख से जोड़ने वाला;

(4) मध्य गंगा-मैदान को सिन्धुघाटी और गान्धार से मिलाने वाला;

सुत्तनिपात में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण मार्गों और स्थानों का ब्योरा मिलता है :

(1) अलका के प्रतिष्ठान से माहिष्मती, उज्जयनी, गोनर्द, विदिशा, कौशाम्बी, श्रावस्ती और कपिलवस्तु जानेवाला;

(2) कपिलवस्तु से दक्षिण की ओर मध्य गंगा मैदान के बीच ; यह मार्ग कुशीनारा, पावा और वैशाली तक जाता था ; यह पुनः यहाँ से दक्षिण की ओर पाटलिपुत्र, नालन्दा, राजगृह और गया जाता था।

(3) प्रतिष्ठान—श्रावस्ती खंड के प्रमुख सहायक मार्ग वे थे जो इसके उत्तरी और दक्षिणी भागों को पश्चिम की विशाल बन्दरगाह भरुकच्छ या भृगुकच्छ (बेरीगाजा के भरोंच) से जोड़ते हैं।

(4) दक्षिण में भरुकच्छ बैलगाड़ी लीकद्वारा गोदावरी-पथ से जुड़ा था जो प्रतिष्ठान और तगाड़ा तक जाता था। मुख्य मार्गों की ये पश्चिमी शाखाएँ अधिक चालू उस समय हुई, जब भरुकच्छ पश्चिमी दुनिया में जानेवाली भारतीय वस्तुओं का निर्गम द्वार बन गया था।

(5) पूरबी मार्ग ताम्रलिप्ति की बन्दरगाह जाकर समाप्त होता था। यह गया और वाराणसी होते हुए कौशाम्बी में प्रतिष्ठान-श्रावस्ती महामार्ग से मिलता था। नदी-मार्ग वाराणसी, पाटलिपुत्र और चम्पा से गुजरता था।

(6) पूरब-पश्चिम मार्ग पाटलिपुत्र से सिन्धु तक था—पूर्वान्त से अपरान्त तक जानेवाला मार्ग। यह कौशाम्बी और वाराणसी के बीच कौशाम्बी-तामुलिप्ति मार्ग में लीन हो जाता है।

राजगृह-कलिंग मार्ग बोधगया होते हुए उड़ीसा जाता था।

मेगास्थनीज से बहुत पहले मिथिला को गान्धार और कश्मीर से मिलानेवाली एक सड़क थी। यह काम्पिल्य होते हुए शाकल को पारकर गन्धार में तक्षशिला और पुष्कलावती पहुँचती थी। दक्षिण-पूरब की ओर यह मिथिला से अंग के नगर चम्पा तक जाती थी और सुदूर पूर्व को उत्तर-पश्चिम से मिलाती थी।

वणिक् लोग देश के विभिन्न भागों से विविध व्यापार-केन्द्रों में आते थे, जैसे राजगृह, गान्धार, चम्पा, विदेह आदि। इन नगरों में स्थल मार्गों से वाणिज्य

व्यापार चलता था। यह बात गान्धार और कश्मीर से वणिकों के विदेह-आगमन के निर्देश से प्रकट होती है। कहा गया है कि विदेह के राजा ने व्यापारियों से जिज्ञासा की कि उनके मित्र गान्धार राज और कश्मीर राज कुशल तो हैं (जातक-III. 365)। विदेह में सिन्धु के घोड़ों का व्यवहार होता था।

(7) तक्षशिला होकर जानेवाला राजगृह-पुष्कलावती मार्ग सबसे अधिक चालू व्यापार मार्ग था। तक्षशिला एक अन्तरराष्ट्रीय व्यापार-केन्द्र थी। वह पश्चिम के साथ भारत के व्यापार-सम्बन्ध का द्वार थी। यह पाणिनि का 'दक्षिणा-पथ' मार्ग या यूनानियों का उत्तरी मार्ग था। इसका उपयोग मौर्यकाल में होता था। शेरशाह ने इसकी मरम्मत कराई और इसे लोकविख्यात किया। आज यह ग्रेंडट्रंक अथवा शेरशाह सूरीपथ कहलाता है। यह पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी मथुरा, इन्द्रप्रस्थ और शाकल से गुजरता था। पुष्कलावती से इससे एक शाखा निकली थी जो उत्तर-पूरब में कश्मीर को और उत्तर-पश्चिम में बैक्ट्रिया को जाती थी। इसी राजगृह पुष्कलावती मार्ग से कृष्ण और भीम इन्द्रप्रस्थ से राजगृह आए थे।

(8) राजगृह-प्रतिष्ठान मार्ग (पाणिनि के अनुसार) 'कान्तारपथ' कहलाता था, क्योंकि यह अन्य प्रदेशों से गुजरता था। कौशाम्बी तक यह वही प्राचीन राजगृह पुष्कलावती मार्ग था, जहाँ से यह विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी और माहिष्मती होते हुए प्रतिष्ठान गया था। राजगृह, पाटलिपुत्र और वैशाली से भरुकच्छ को चलने वाला कारवाँ इसी मार्ग से महिष्मती तक जाता था, वहाँ से वह लगता है भरुकच्छ के लिए कोई शाखा-मार्ग पकड़ता था। कौशाम्बी से श्रावस्ती जानेवाला एक दूसरा मार्ग था जिस होकर उत्तर बिहार से व्यापारी लोग दक्षिण-पश्चिम भारत के व्यापार केन्द्रों में जाते थे। राजगृह-सिन्धु मार्ग भी प्रचलित था। सिन्धु जानेवाला मार्ग रेगिस्तानों और जंगलों से गुजरता था और इस मार्ग से चलनेवाला कारवाँ शीतल रात में ताराओं और 'थउनियामक' नाम से विदित मार्गदर्शकों के सहारे प्रयाण करता था।

(9) भृगुकच्छ या भरुकच्छ एक सड़क द्वारा गान्धार से भी जुड़ा था; हालाँकि इस सड़क की गति ठीक-ठीक मालूम नहीं है।

(10) पुष्कलावती से एक सड़क बैक्ट्रिया गई थी। यह मार्ग था तो अपनाने लायक, लेकिन निरन्तर युद्ध एवं कबीलों की गतिविधियों के कारण यह अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार के लिए अधिक प्रशस्त नहीं था। प्रथम शताब्दी ई० में शक-युद्धों के कारण इसका व्यवहार बहुत कम हो गया और भरुकच्छ से चलनेवाले समुद्री व्यापार का महत्त्व बहुत ही बढ़ गया।

(11) भारत का पश्चिम से जुड़ाव तीन स्थलमार्गों द्वारा था—(क) पहला था सबसे उत्तर में काबुल नदी के किनारे-किनारे अफगानिस्तान के पहाड़ों के तंग भागों के आर-पार जहाँ वंक्षु (ओक्सस) और सिन्धु दोनों नदियों की घाटियों को अलग करनेवाला केवल हिन्दूकुश पर्वत था ; (ख) दूसरा लगभग पाँच सौ मील-दक्षिण पश्चिम की ओर था, जहाँ अफगान-पर्वतों का अन्त होता है और कन्दहार से हेरात तक के पठार के आरपार सुगम रास्ता शुरू होता है और एक दूसरा रास्ता है जो कन्दहार के दक्षिण-पश्चिम से बोलन दर्रा होते हुए निम्न सिन्धुघाटी जाता है; और (ग) तीसरा है मकरम रेगिस्तान के आरपार या बलूचिस्तान के समुद्रतट के किनारे-किनारे।

मौर्य-माल में सड़कों में साइनबोर्ड लगे हुए थे, जिसमें मोड़ और बीच-बीच में दूरियाँ बताई रहती थीं। आन्तरिक व्यापार का बहुत अंश नदियों द्वारा भी चलता था। जहाँ नदी मार्ग उपलब्ध रहता था, वहाँ व्यापारी स्थल-मार्ग को छोड़ देते थे और व्यापारी लोग सामान्यतः वाराणसी से ताम्रलिप्त तक, जो पूरब की एक बड़ी बन्दरगाह था, नदी-मार्ग से यातायात करते थे। इस बन्दरगाह से समुद्री मार्ग तीन दिशाओं में जाते थे—इनमें दो समुद्रतटीय मार्ग थे, जिनमें से एक दक्षिण पश्चिमी दिशा में कलिंग और कुरुमंडल (कोरोमांडेल) के समुद्र तट से आये दक्षिण-भारत और श्रीलंका जाते थे। ताम्रलिप्ति से दक्षिण-पूर्वी मार्ग का अवलम्बन स्वर्ण-भूमि की पूर्वकालीन यात्राओं में किया गया था।

नदी-मार्ग भी बड़े प्रचलित थे। गंगा, यमुना, सरयू, सोन, गंडकी, कोसी, कृष्णा, कावेरी, तुंगभद्रा, महानदी, गोदावरी आदि का उपयोग व्यापार और नाव जल-यातायात में किया जाता था। देश में कई महत्त्वपूर्ण नदी-पत्तन (नावघाट) थे। बड़ा-बड़ा परिवहन केवल नदी-मार्ग से ही होता था। कुम्हरार की खुदाई से पता चलता है कि चुनार से भारी-भारी बलुआ पत्थर या स्तम्भ गंगा द्वारा पाटलिपुत्र लाए गए थे। मौर्यकाल में स्तम्भ नदियों के सहारे मँगाए जाते थे। नावघाट स्थलीय व्यापार-केन्द्रों से सड़क द्वारा जुड़े रहते थे। पाणिनि ने अनेक प्रकार की नावों का उल्लेख किया है। कौटिल्य के समय में नाव-यातायात बहुत उन्नत अवस्था में था, जिन्होंने नदी मार्गीय यात्रा को श्रेष्ठ कहा है और समुद्री व्यापार से समुद्रतटीय व्यापार को अच्छा बताया है।

समुद्री मार्ग

विदेश-व्यापार समुद्र पार करके किया जाता था। समुद्र-यात्रा का निर्देश ऋग्वेद में मिलता है। कुशल समुद्रयात्रियों को 'मनुस्मृति' में आदरणीय कहा गया

है। पोत (जहाज) बनाना एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था और मौर्य-काल में इस पर राजा का एकाधिकार था। जहाज के मालिक बन्दरगाह पर अपना जहाज रखते थे और व्यापारियों को लक्ष्य स्थान पर पहुँचाते थे। मौर्यों का नौकाधिकरण वणिकों को भाड़े पर जहाज देता था। मालाबार और कोरोमांडल समुद्र तट में बन्दरगाहें यत्र-तत्र छाई हुई थीं। उत्तर में भरुकच्छ सबसे अधिक चालू बन्दरगाह थी। सुरपारक और बर्बरिकम भी उसी तरह महत्त्वपूर्ण थे। पूरब में ताम्रलिप्ति सबसे महत्त्वपूर्ण थी। भारतीय जहाजरानी इतनी विस्तृत थी कि वाणिज्य-जगत् का कोई भी ओर-छोर उसे अज्ञात नहीं था। सातवीं शताब्दी ई० पू० में भरुकच्छ को बेबिलोनिया के साथ व्यापार चलता था, हालाँकि पश्चिम के साथ भारत के समुद्र-व्यापार-सम्बन्ध का पता 3000 ई० पू० तक चलता है। भारत-मेसोपोटामिया-व्यापार के तीन मार्ग थे :

(1) समुद्र-मार्ग, जो सिन्ध, गेदरोसिया और ईरान के तट-प्रदेशों से गुजरता था;

(2) संयुक्त जल-स्थल-मार्ग, जो गान्धार और बैक्ट्रिया से वंक्षुनदी की सीध में तथा कैस्पियन एवं काला सागर के पार जाता था; और

(3) स्थल-मार्ग, जो सिन्ध से ईरान होते हुए जाता था। अरब और भारत के बीच सोकोत्रा (Socotra) था, जो अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र था और जहाँ विभिन्न देशों के व्यापारी अपने-अपने मालों के विनिमय के लिए जुटते थे। पेरिप्लस के समय में यह अरब, भारतीय और यूनानी लोगों का संगम था। बरबेरा मिस्र और भारत के बीच मध्यवर्ती बाजार था। लाल सागर पर अरबों का एकाधिकार था। मिस्र और दक्षिण भारत के बीच आदान-प्रदान खूब चालू था। भारत और मिस्र के बीच समुद्र यात्रा खतरनाक थी और बिरले ही की जाती थी। भारत मिस्र मार्ग लगता है, पहले अलकजेंड्रिया से नाइल की सीध में जाते थे। प्लिनी ने बताया है कि कैसे भारत का मार्ग उत्तरोत्तर नई-नई खोजों से कम दूरी का होता गया और इन खोजों के सिलसिले में अन्तिम और सबसे महत्त्व का जो आविष्कार हुआ, वह है हिपेलस द्वारा मानसून का आविष्कार।

पूर्वकालीन व्यापारी वाणिज्य के लिए समुद्र पार कर विदेश जाते थे। राजकुमार विजय सात सौ अनुयायियों के साथ समुद्र पार कर श्रीलंका गए। इससे यह सिद्ध होता है कि पहले से ही समुद्र-व्यापार और आवागमन चलता था। बौधायन और मनु ने समुद्र यात्रा ब्राह्मणों के लिए वर्जित बतायी है। स्वभावतः इसमें वैश्य आगे बढ़े। उत्तर के ब्रह्मणों ने समुद्रयात्रा का त्याग नहीं किया, जैसा

कि बौधायन से प्रकट होता है । समुद्रयात्रियों को पोत विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी जिसका नाम था 'नियामकसिप्प' । उन्हें विविध व्यापार-मार्गों, हवा की दिशाएँ, और 'दिशकों' के प्रयोग की जानकारी कराई जाती थी । समुद्र यात्रियों के लिए पक्षी बड़े सहायक होते थे । जहाजों के डूबने की घटना अक्सर होती थी । समुद्र-व्यापार सदा संकटग्रस्त रहता था ।

समुद्र व्यापारियों (नियामकों) का संघ होता था । 'महानिद्देस' में कहा गया है कि पूर्व की ओर भारत का व्यापार कालमुख, सुवर्णभूमि, वेसुंग, वेरपथ, टक्कोल, तमलि, ताम्रपर्णी, जावा आदि के साथ चलता था । 'अपदान' में कहा गया है कि मलय और चीन के व्यापारी भारत आते थे । भारत और बेबिलोनिया के बीच समुद्र-व्यापार तेज था । 'सुपारकजातक' में आया है कि एक कुशल समुद्र यात्री के नेतृत्व में समुद्रयात्रियों का एक दल भरुकच्छ बन्दरगाह से चला और छह समुद्रों को पार किया (जातक-IV, 138-43) । इन छह समुद्रों की पहचान फारस की खाड़ी, अरब घाट, नूबिया, लाल सागर एवं भूमध्यसागर को जोड़नेवाली नहर आदि से की गई है । भारत का मिस्र से सम्बन्ध लाल सागर के मार्ग से था । स्राबो ने पश्चिमी व्यापार में भारत की साझेदारी के बड़े रोचक संस्मरणों को सुरक्षित रखा है । टॉलेमी यूर्गेटिस (145-116 ई० पू०) के शासन-काल में एक भारतीय अरब की खाड़ी (लाल सागर) के तट पर भटक गया और अलग्जेंड्रिया लाया गया । उसने ग्रीक भाषा सीखकर राजा को भारत जाने का समुद्री रास्ता बता दिया । तब टॉलेमी ने दो यात्री-दलों को भेजा ।

भारत और अरब के बीच वाणिज्य-सम्बन्ध जो हजार से अधिक वर्षों से चलता आ रहा था, रोमन साम्राज्य के प्रभाव से विच्छिन्न-सा हो गया । टॉलेमी राजाओं ने भारत के साथ सीधे व्यापार-नीति को चालू रखा और इसे यमन पर निर्भर होने से मुक्त रखा । अरब वाले भारत के साथ रोम का सीधा सम्बन्ध रहना नहीं पसन्द करते थे । भारत-रोम व्यापार में भारत का पलड़ा भारी रहता था । दक्षिण भारत के लोग समुद्र-तरण में बड़े दक्ष होते थे और उनके जहाज समुद्र यात्रा के लिए अधिक उपयुक्त और अधिक बड़े-बड़े होते थे । दक्षिणपूर्व भारत में पहुँचने का द्वार था ताम्रलिप्ति । जातकों में सुवर्णभूमि वाणिज्य-यात्रा के लिए निश्चित स्थान है । आन्ध्र, कलिंग और बंगाल के समुद्र व्यापारी समुद्र को पार करके सामूहिक रूप से उपनिवेश बना लेने का साहस रखते थे; किन्तु पश्चिमी जगत् से व्यापार करनेवाले काम्बे की खाड़ी के व्यापारियों में ऐसा साहस नहीं था ।

समुद्र-यात्रा बड़ी खतरनाक होती थी, किन्तु धनार्जन की प्रबल इच्छा से प्रेरित हो ये व्यापारी ऐसे खतरों की परवाह नहीं करते थे। जहाज का डूबना एक आम बात थी। समुद्र-यात्रा स्थल-यात्रा से कहीं अधिक खतरनाक थी। कच्छ और काम्बे की खाड़ियाँ खतरनाक इलाका मानी जाती थीं। पेरिप्लस ने यहाँ के ज्वार की सनक का वर्णन किया है। राज्य में पायलटों (दिशानिर्देशकों) की एक नियमित सेवा होती थी। समुद्री व्यापारियों के लिए समुद्री लुटेरों का एक अलग खतरा रहता था। अशोक के समय में पूरबी समुद्र में जलदस्यु नागों का उपद्रव था। कोंकण तट तो मानों भारतीय समुद्र में दस्यु-वृत्ति करनेवालों का संकेत-गृह था। पेरिप्लस और प्लिनी दोनों ने इसका उल्लेख किया है। इन सभी संकटों के बावजूद भारतीय समुद्र व्यापारी अदम्य उत्साह के साथ समुद्र-यात्रा करते थे।

IV

व्यापार

(क) **आन्तरिक व्यापार**—आन्तरिक व्यापार फेरी वालों, छोटे दूकानदारों, सौदागरों तथा उत्पादन एवं वितरण के नियन्ता, बड़े-बड़े वणिकों द्वारा संचालित होता था। भारत में आन्तरिक व्यापार की एक व्यापक व्यवस्था विकसित हुई थी। विभिन्न प्रक्रमों से गुजरते हुए इसके मार्ग सुविज्ञात और सुनिरूपित हो गए थे जो देश के विभिन्न भागों को आपस में जोड़ते थे। इनमें से दो मार्ग विशेष महत्त्व के थे—(i) दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पूर्व मार्ग जो प्रतिष्ठान से जुड़ा था; और (ii) पूर्व-उत्तर-पश्चिम मार्ग जो चम्पा से शुरू होकर नदी से जाता था।

चम्पा से सुवर्ण भूमि तक का नदी-मार्ग बहुत प्रचलित था। पेरिप्लस में पश्चिमोत्तर सीमान्त से दो व्यापार-मार्गों का उल्लेख है: एक सिन्धु के नीचे से भारतीय-शकों की राजधानी मीननगर और उसका पोत-घाट बर्बरिकम जाता था, और दूसरा पुष्कलावती से प्रसिद्ध वाणिज्य केन्द्र बेरिगाजा को जानेवाले रास्ते से कश्मीर, हिन्दूकुश और काबुल जाता था। उज्जयिनी दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पूर्व मार्ग का केन्द्र-बिन्दु थी और बेरिगाज़ा से जुड़ी थी। इसी मशहूर बन्दरगाह को प्रतिष्ठान से भी कई मार्ग जाते थे जो पूरब की ओर बढ़ते हुए कृष्णा-गोदावरी डेल्टा तक जाते थे। साथ ही पश्चिमी और पूरबी घाटों में भी विशाल मात्रा में व्यापार होता था। चोल बन्दरगाहों से भारत की शिल्प-वस्तुएँ मालाबार तक जाती थीं और बड़े-बड़े पोत गंगा के मुहानों में जाते थे। पेरिप्लस और टोलेमी ने देश के मुख्य-मुख्य वाणिज्य-केन्द्रों के नामों का उल्लेख किया है, जैसे भरुकच्छ,

सोपारा, कल्याण, कन्ननूर, मंगलोर, कोट्टायम, पोराकद्, कावेरी पट्टनम, पांडिचेरी, पितुंडा, दंडपुर, उज्जयिनी, ताम्रलिप्ति आदि।

सार्थवाह

मालों के उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण रखने वाले व्यापारियों में छोटे और बड़े पक्ष होते थे। थोक विक्रेता अपना माल खुदरा विक्रेताओं के बीच बाँट देते थे। खुदरा विक्रेता थोक विक्रेताओं के अभिकर्त्ता या सेल्समैन होते थे। खुदरा विक्रेताओं के लिए नियम निर्धारित थे। उन्हें उस दर से मूल्य और लाभ चुकाना पड़ता था जो दर उनके द्वारा माल की प्राप्ति के समय चालू थी। व्यापारी लोग कमीशन एजेंट या दलाल भी बहाल करते थे। व्यापारी लोग मिल-जुलकर संयुक्त उद्यम भी करते थे और वे सार्थवाह के नेतृत्व में व्यापारिक कारवाँ चलाते थे। प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में सहकारिता विकसित अवस्था में लक्षित होती है और 'सार्थ' का अर्थ होता था आन्तरिक परिवहन एजेन्सी। सार्थवाह सार्थमंडल का अध्यक्ष होता था। वह सार्थ का प्रधान होता था; उसे विभिन्न मार्गों, स्थापना, प्रशासन तथा सुरक्षा का पर्याप्त ज्ञान रहता था। पर्याप्त वाहक पशुओं सहित भारी संख्या में मालगाड़ियाँ और सवारीगाड़ियाँ जुटाना और माल को लदवाना सार्थवाह का कर्त्तव्य होता था। वह कारवाँ के साथ जाने वाले लोगों के भोजन, आवास तथा अन्य सुविधाओं की देखभाल भी करता था तथा मार्ग के विभिन्न केन्द्रों में माल उतारने और चढ़ाने की व्यवस्था करता था। कारवाँ-दल का मुखिया सार्थवाह अपनी अलग गाड़ी में चलता था। कौटिल्य ने सार्थ की सुरक्षा का विधान किया है और इसके लिए सार्थवाहों से 'विवीताध्यक्ष' मार्ग-शुल्क (एक तरह का सेस) लेता था। रात होते ही शिविर के चारों ओर आग जला दी जाती थी। वे यात्रा के समय पीने के लिए पानी भी लिए चलते थे। सुरक्षा के लिए यात्रा-सम्बन्धी नियमों का कड़ाई से पालन कराया जाता था।

सेट्ठि

आन्तरिक व्यापार का संचालन व्यापार के विषय में कुशल लोग करते थे। बड़े-बड़े सौदे उधारी होते थे। दिहात के दूकानदार 'आपणिक' कहलाते थे। शहरी इलाकों में आन्तरिक व्यापार सेट्ठि के नियन्त्रण में चलता था। वह पूँजी लगाता था और कर्मचारी रखता था और उसे काफी मुनाफा होता था। उदाहरणार्थ, राजगृह के एक सेट्ठि ने चिकित्सा-शुल्क के रूप में दो लाखों का भुगतान किया। वह वणिक्-समुदाय का नेता होता था और सामान्यतः बड़े-बड़े व्यापारों से सम्बद्ध रहता था। वाणिज्य जीवन में उसकी बड़े महत्त्व की भूमिका होती थी। शहरी

वणिक-वर्ग के नेता के नाते वह बहुत हद तक आन्तरिक व्यापार के रुख को प्रभावित करता था। सेट्ठि लोग प्राचीन वर्णव्यवस्था के बन्धन को काटकर ऊपर आ गए और अपने को अभिजात के रूप में प्रतिष्ठित करके श्रीमानों के वर्ग के प्रतिनिधि बन गए। वे शक्तिशाली आर्थिक हित का प्रतिनिधित्व करते थे।

जब देश के विभिन्न क्षेत्रों और भागों का आर्थिक विशेषीकरण हुआ तब उत्पादित वस्तुओं की स्थायी विनिमय-व्यवस्था जरूरी हो गई। मुद्रा का प्रचार भी बढ़ता जा रहा था। गंगा का मैदान मुख्य व्यापार-क्षेत्र था। आन्तरिक व्यापार के विषय में भरुकच्छ, सिन्धु डेल्टा के पाटल, पुष्कलावती, शाकल, कौशाम्बी, वाराणसी, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, चम्पा आदि मुख्य व्यापार केन्द्र थे। साझे का व्यापार (ज्वायंट स्टाक कम्पनी) और व्यापारियों के संघ भी थे। आन्तरिक व्यापार उन्नत अवस्था में था।

व्यापारिक बरताव में सहूलियत के लिए वाणिज्य-शिक्षा की व्यवस्था थी। इस प्रसंग में 'महावग्ग' में लेख, गणना और रूप (रुपया) का उल्लेख है (सेबुई-XIII-201 और आगे)। राज्य हर प्रकार के व्यापारिक हितों को बढ़ावा देने की कोशिश करता था। खुदरा व्यापार बहुत प्रचलित था और यह काम सामान्यतः फेरीवाले करते थे। पेरिप्लस के अनुसार पश्चिम भारत में पइठान, तेर, सोपारा, कल्याण आदि थोक व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। इनको सुविधा पहुँचाने वाले थे दूर-दूर तक फैले कारवाँ-मार्ग जो गंगा के मैदान को विन्ध्य और सतपुरा पर्वतमाला के ऊपर वाले भारत के सभी भागों से जोड़े हुए थे। ये मार्ग भौगोलिक और राजनैतिक दृष्टियों से निर्धारित किए गए थे और इनमें से कई का उल्लेख पेरिप्लस ने किया है। इन देशव्यापी मार्गों के अलावा, बहुत-से गौण शाखा-मार्ग भी थे।

राज्य आन्तरिक व्यापार-सन्तरणों को सुविधा प्रदान करने की कार्रवाई करता था। व्यापारियों से वर्तनी (रोडसेस) और शुल्क (चुंगी) लिया जाता था। कपास पूर्व और दक्षिण-पश्चिम प्रदेश (अपरान्त) से रेशम, चीन और बाह्लीक (बैक्ट्रिया) से, कम्बल-कम्बोज (गज़ना) से, लोहे के हथियार पश्चिम प्रदेश और अपरान्त से, घोड़े और ऊँट उत्तर-पश्चिम प्रदेश से, तथा हाथी पूर्व और दक्षिण प्रदेशों से मँगाए जाते थे।

राजपथ और पार्श्वपथ के दोनों बगल दूकानों की कतारें भीटा के उत्खनन में प्रकट हुई हैं। समुद्री बंदरगाहें देश के भीतरी भाग से सुदूरव्यापी मार्गों द्वारा होनेवाले आयात-निर्यात व्यापार के लिए प्राकृतिक द्वार के रूप में काम करती थीं।

ताम्रलिप्ति समुद्र के पार से होने वाले पूर्व भारत के विशाल व्यापार का बिक्री केन्द्र हो गई। यह चीन, इंडोनेशिया और श्रीलंका से पूर्वी भारत आने और वहाँ से लौटने वाले समुद्री जहाजों के लिए सम्भरण एवं मरम्मत की जगह का काम करती थी। फाहियान ने इस बन्दरगाह का इस्तेमाल किया था। इत्सिग ने कई सौ व्यापारियों के साथ ताम्रलिप्ति से बोध गया की यात्रा की थी। उदयमान के दूध पानी शैल-लेख में वणिकों की अयोध्या से ताम्रलिप्ति की यात्रा का उल्लेख है। हुएनत्सांग के अनुसार गंजाम समुद्री व्यापार की बदौलत ही धनी हुआ था।

याज्ञवल्क्य ने साझेदारी (पार्टनरशिप) के नियमों का विचार किया है और इससे प्रकट होता है कि व्यापार सम्मिलित प्रयास से चलाया जाता था। लाभ का बँटवारा या तो लगाई गई पूँजी के अनुपात में होता था या साझेदारों के आपसी करार के अनुसार। पश्चिम भारत के बौद्ध विहार अपने दानों के कुछ अंश को व्यापार में लगाते थे, सार्थों (बनजारों) को पूँजी के रूप में ऋण और निर्वाह व्यय देते थे। ये विहार व्यापार-मार्ग के चौराहों के निकट अवस्थित होते थे और पश्चिम भारत के व्यापक क्षेत्र में फैले हुए थे।

वित्तीय प्रशासन में कौटिल्य द्वारा विहित पद्धति का अनुसरण किया जाता था। कृषि एवं पशुपालन के साथ-साथ महाजनी और वाणिज्य वैश्यों के विहित कर्म थे। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार वैश्य शिल्पज्ञ होते थे। व्यापारिक सम्बन्ध स्मृतियों में प्रसिद्ध विषयों के रूप में आए हैं; उदाहरणार्थ, **'क्रीतानुशय'** (खरीद-बिक्री को मंसूख करना), **'अस्वामिविक्रय'** (स्वामित्व के बिना दूसरे का माल बेचना), **'सम्भूय समुत्थान'** (साझेदारी) आदि। मौर्योत्तर कालीन स्मृतियों में जो व्यापार पर राज्य के नियन्त्रण का विधान किया गया है, वह मौर्य-प्रशासन में वैसा ही देखा जाता है। माल की कीमत समय-समय पर राजा निर्धारित करता था। वह बाटों और मापों पर छाप लगवाता था और समय-समय पर उनका निरीक्षण कराता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार, कम कीमत पर खरीद कर ऊँची कीमत पर बेचने की प्रवृत्ति रोकी जानी चाहिए और ऐसा करनेवालों को सजा मिलनी चाहिए।

व्यापार के दो पक्ष थे, निजी और राजकीय। कहा गया है कि सभी बातों को देखते हुए दरें निर्धारित करने का अधिकार राज्य को है। देश से बाहर के बाजार में माल खपाने की चेष्टा मूलतः वाणिज्य भावना से प्रेरित रहती थी। कीमत बाँधकर और मुनाफे की दरें तय करके राजा मुनाफाखोरी रोकने का कारगर

उपाय करता था। कौटिल्य के अनुसार दलाली का काम केवल प्राधिकृत व्यक्ति ही कर सकता है और लगता है उसे राज्य के प्रति वैयक्तिक दायित्व उठाना पड़ता था। यदि व्यापारियों का माल चोरी जाता या बरबाद किया जाता था तो उसके लिए 'अन्तपाल' जिम्मेवार होता था। व्यापारी का लाभांश और राजा का शुल्क ये दोनों कीमत तय करने के लाजिमी पहलू होते थे।

मूल्य की अवधारणा

उचित मूल्य की अवधारणा से किसी-न-किसी मात्रा में सभी पक्षों का हित होता है। व्यापारी के नाते राज्य को निजी व्यापारियों से अधिक सुविधा रहती थी। कौटिल्य में जो वाणिज्य का ढाँचा है, उसमें व्यापारिक कदाचार के खिलाफ काफी बचाव किया गया है और व्यापार सम्बन्धी नियमों को भंग करने वाले हर प्रकार के अपराध के लिए दंड-विधान किया गया है। कौटिल्य ने व्यापार और वाणिज्य का जो विवरण दिया है उसमें एक बात की स्पष्ट त्रुटि है। खुदरा बिक्री की विधि क्या थी और स्रोत स्थल में ही मूल्य के निर्धारक तत्वों का पता कैसे चलता था। मनु के अनुसार राजा को हर पखवारे मूल्य-तालिका की जाँच करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य ने कारबार में छल-प्रपंच के लिए भारी दंड का विधान किया है। लाभांश का निर्धारण योगक्षेम के आधार पर किया जाना चाहिए। ब्राह्मणों को वाणिज्य आपत्काल में ही करना चाहिए और वाणिज्य खासकर वैश्य का कर्म है। वाणिज्य को सत्य और असत्य का मिश्रण कहा गया है। विष्णुसेन (592 ई०) के शासन पत्र में कहा गया है कि एक अधिकारी हर पाँच दिनों पर माल का मूल्य (अर्घ) तय करता था और उसकी सूचना ऊपर के अधिकारियों को देता था। वाणिज्य सम्बन्धी मामले को देखने के लिए एक अधिकारी होता था जो 'पेटविक वारिक' (Petavika Varika) कहलाता था। वह मालों का मूल्य तय करने के काम से सम्बद्ध था।

व्यापारियों का एक अलग वर्ग था। वह भीतरी और बाहरी दोनों व्यापार करता था। कामन्दक ने राजा को सलाह दी है कि व्यापारी वर्ग का सम्पोषण करना चाहिए। कालिदास और शूद्रक ने भी स्वकालीन व्यापार और वाणिज्य पर काफी प्रकाश डाला है। व्यापारी लोग कई तरह के वाहनों के प्रयोग के साथ-साथ माल को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के लिए मजदूरों को भी लगाते थे। नगरश्रेष्ठिन् और सार्थवाह दोनों तरह के वणिक्-प्रमुख होते थे। सेट्ठि शहर और दिहात के बीच वस्तुओं के विनिमय की व्यवस्था करता था तथा महाजनी भी करता था। वह ऐसा वणिक् होता था जो अपने धन, मान और प्रभुत्व के आधार पर

चुना जाता था। वह वणिक्-समुदाय के प्रधान नेता, महाजन और बैंकर के रूप में काम करता था और नगर-प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य होता था। सार्थवाह भी इसी तरह शहरी जन-जीवन और प्रशासन में महत्त्वपूर्ण पुरुष होता था।

फाजिल उत्पादन अधिकतर दलालों के हाथ में रहता था। परवर्ती काल में सड़क-मार्ग उतने सुरक्षित नहीं रहे जितने मौर्य-काल में थे। मार्ग के रूप में नदियों का भी इस्तेमाल किया जाता था। कालिदास के अनुसार नाव चलाने में बंग के लोग बड़े दक्ष होते थे। आन्तरिक व्यापार के माल में हरेक वस्तु शामिल होती थी, किन्तु दुग्ध, तक्र, घृत, मधु, मोम, लाह, कड़ुए मसाले, रस, सुरा, मांस, भात आदि बेचना ब्राह्मण के लिए वर्जित था।

दैनिक उपयोग की वस्तुएँ गाँव के बाजार में बिकती थीं। नमक समुद्र तट से मँगाया जाता था, गोल मिर्च, चन्दन और मूँगा दक्षिण भारत से; कस्तूरी, केसर और मृग चर्म हिमालय प्रदेश से; हाथी कलिंग, अंग और असम से; सोना, ताँबा, लोहा और अबरख बिहार से। कालिदास के अनुसार हस्तिनापुर में एक बहुत बड़ा वणिक् था। नारद और बृहस्पति ने क्रेता और विक्रेता दोनों की भलाई के लिए व्यापार सम्बन्धी नियम निर्धारित किए हैं। व्यापार में बेईमानी खूब चलती थी। अपमिश्रण के विरुद्ध नियम विहित किए गए थे। व्यापारिक लिखितों और करारनामों का भी उल्लेख मिलता है। एक जगह में हुआ फाजिल उत्पादन देश के दूसरे भाग में भेज दिया जाता था। कश्मीर के व्यापारी देश के दूर-दूर इलाकों में भी जाते थे। क्रय-विक्रय गाँवों में भी हाटों और बाजारों के जरिए होता था, जो हर शहर में नियमित रूप से चलते थे। महत्त्वपूर्ण बाजार महाजनों के नियन्त्रण में रहते थे (**एइ—I. 162 और आगे**)।

बाजार

भारत में बाजार का उद्भव किस प्रकार हुआ इसका तो हमें कोई आभास नहीं है, लेकिन स्मरणातीत काल से व्यापार का जो प्रचलन रहा है, उससे बाजार के अस्तित्व का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। सिन्धु घाटी के बाट और माप एलाम और मेसोपोटामिया की तुलना में अधिक परिशुद्ध और सुसंगत पाए गए हैं। अवश्य ही वाणिज्य के कारबार में दाशमिक बाटों का प्रयोग होता था। रामायण और महाभारत में कई तरह के बाजारों का निर्देश मिलता है। मेला लगता था और उसमें वस्तुओं की खरीद-बिक्री होती थी। '**अर्थशास्त्र**' में बाजारों के प्रभारी अधिकारी का उल्लेख है। '**जातकों**' के सन्दर्भ में '**निगम**' का अर्थ बाजार किया

जा सकता है । 'महाउमग्ग जातक' के अनुसार मिथिला में चार बाजार-नगर थे। कौटिल्य के 'पण्यगृह' से प्रकट होता है कि ऐसा बाजार होता था जहाँ हर प्रकार की वस्तु के लिए अलग-अलग भवन रहते थे। भंडार घर अलग रहते थे। पण्यगृह वस्तुतः व्यापार-गृह था जिसका अभिप्राय हुआ बाजार। पाटलिपुत्र का बाजार बहुत विशाल था, इसकी पुष्टि मेगास्थनीज से होती है जिन्होंने बताया है कि राजा का एक अलग अधिकारी बाजार का प्रभारी होता था। अरिष्टोब्युलस ने लिखा है कि तक्षशिला में बाजार थे जहाँ वेश्याएँ भी रहती थीं। प्लिनी ने उदुम्बर के बाजार का निर्देश किया है। उदुम्बर वाणिज्य का एक विशाल केन्द्र था जहाँ तरह-तरह की वस्तुओं की खरीद-बिक्री होती थी। सियालकोट भी व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था और वहाँ मिलिन्द के राज्य में उन्नतिशील बाजार थे। यहाँ के नगरबाजार की तुलना पाटलिपुत्र के बाजार से भली-भाँति की जा सकती है। सियालकोट (सागल) और पाटलिपुत्र के बीच नियमित रूप से व्यापार चलता था। अर्बरिकम नगर के बाजार का भी उल्लेख मिलता है। भरूकच्छ और उज्जैन भी महत्त्वपूर्ण बाजार-नगर थे।

दक्षिण में गोदावरी-तट पर पैठान एक महत्त्वपूर्ण बाजार-नगर था। तगर (तेर) भी एक महत्त्वपूर्ण वाणिज्यस्थल था। सोपारा और कल्याण महत्त्वपूर्ण वाणिज्य-नगर थे। कल्याण के आगे सेमिल्ला, मन्दगारा, बालिपत्तन, मेलिगारा, वैजयन्तीपुर आदि थे। केरल में मुजिरिस, पांड्य राज्य में नेली सिन्ध, काल्कै, आर्गुरु, पोडुक, सोपटम, मसालिका (मुसलीपत्तनम), दुसरा आदि भी विख्यात बाजार-नगर थे। मदुरा एक महत्त्वपूर्ण वाणिज्यकेन्द्र था। दक्षिण भारत में मदुरा और पुहार के बाजार बड़े मशहूर थे।

छठी शताब्दी में आकर भी कासमस ने भारत में मशहूर बाजार देखे, जैसे सिन्दोस, ओरोहट्ठ, कल्लियाना, सिबोर, मल्ले, पार्ले, मंगरोठ, सोलापट्टम, नालोपट्टम, पोण्डुपट्टम आदि। हुएनत्सांग के अनुसार थानेश्वर में देश के कोने-कोने से आई दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुओं का अम्बार लगा रहता था। नेपाल में वाणिज्य के काम में ताँबे के सिक्के चलते थे। उड़ीसा में चरितपुर भी एक वाणिज्यकेन्द्र था। कांचीपुर में अन्न की समृद्धि थी। वल्लभी में, विभिन्न प्रदेशों की दुर्लभ और अनमोल वस्तुएँ संचित थीं। वह बड़े महत्त्व का बाजार था। इस समय में भरुकच्छ बहुत महत्त्वपूर्ण न रह गया था। हुएनत्सांग ने पश्चिमी समुद्रमार्ग स्थित सौराष्ट्र के बारे में काफी ब्योरेवार वर्णन किया है जहाँ के सभी निवासी अपनी जीविका समुद्र से चलाते थे और वाणिज्य एवं वस्तुविनिमय में लगे रहते थे। उन्होंने

बताया है कि गंजाम (उड़ीसा) उत्पादन करता था और समुद्र के किनारे में था तथा इसमें बहुत-सी दुर्लभ एवं बहुमूल्य वस्तुओं का अम्बार लगा हुआ था। यहाँ के व्यापारी व्यापारिक लेन-देन में कौड़ी और मोती का उपयोग करते थे।

सड़कें

आन्तरिक व्यापार-मार्गों से आन्तरिक व्यापार की उन्नति और अभिवृद्धि में मदद मिलती थी। हम व्यापार-मार्गों का वर्णन पहले ही कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि यात्री उत्तर से दक्षिण और पश्चिम से पूरब सारे देश में यात्रा कर सकते थे। कपीशा स्थलमार्ग से व्यापारिक सम्पर्क का सबसे पश्चिम का स्थान था जहाँ केन्द्रीय और पूर्वीय भारत से रास्ते आ-आकर मिले थे। इसके बाद आती थी तक्षशिला। इसके बाद वाराणसी का स्थान आता था। यहाँ मगध से, अंग से और सुदूर कावेरी पट्टनम से तथा माहिष्मती एवं सागल से भी आने-जाने के मार्ग थे। सड़कों का जाल-सा बिछा हुआ था। वाणिज्य-वस्तुएँ सड़कों से आती थीं। अशोक के समय में पाटलिपुत्र से पांड्य और चोल राज्य होते हुए दक्षिणापथ का मार्ग था जो श्रीलंका तक जाता था। इसकी पुष्टि खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से भी होती है। प्लिनी के अनुसार ताम्रलिप्ति से कलिंग तक एक सड़क थी और फिर वहाँ से त्रिपुरी और माहिष्मती तक सड़क थी। भरुकच्छ पैठान और उज्जैन से जुड़ा हुआ था, जो काफी लम्बे अरसे तक वाणिज्य-केन्द्र बना रहा। उज्जैन से एक सड़क सोमनाथ पट्टन को जाती थी, जो मन्दसोर, भरौंच, सोपारा होते हुए नासिक तक पहुँचती थी।

टोलेमी ने पांड्यों के छह नगरों और चोलों के आठ नगरों का निर्देश किया है। अंग से पिथुंड (वारांगल) जाने का रास्ता था और इन दोनों के बीच किसी-न-किसी प्रकार का सम्पर्क था। फाहियान और हुएनत्सांग दोनों ने विभिन्न मार्गों से भ्रमण किया था। उन्होंने लगभग समान ही सड़कों से यात्रा की। समुद्रगुप्त जो दक्षिण भारत के भीतर घुसे उनका मार्ग था विलासपुर, रायपुर, सम्बलपुर, गंजाम और विशाखापट्टनम जिले में पीठपुरम वेंगी, पालकड्ड। वे मध्य भारत से बिहार, उड़ीसा, तमिलनाडु और आन्ध्रप्रदेश गए और वहाँ से पूर्व के सेन्ट्रल प्रोविन्स होते हुए पाटलिपुत्र लौटे। हुएनत्सांग तामलुक से दक्षिणापथ गए थे।

पेरिप्लस और प्लिनी दोनों ने स्थलाकृति का कुछ वर्णन किया है। चीन से फारस तक रेशम (के व्यापार का) मार्ग था। कास्मस ने इसका उल्लेख किया है। पाटलिपुत्र से एक अन्य मार्ग चम्पा, काजंगल, पुंड्रवर्धन, होते हुए कामरूप तक गया था। भास्कर वर्मा हर्ष के साथ वार्ता करने के लिए राजमहल तक जहाज

से गए थे। हुएनत्सांग को ज्ञात हुआ था कि कामरूप से बर्मा और फिर वहाँ से चीन जाने का मार्ग है।

सार्वजनिक सुरक्षा

वाणिज्य-संचार में बाधा न हो इस उद्देश्य से, प्रजा और व्यापारियों की रक्षा के लिए कठोर ढंग के विशिष्ट उपाय किए गए थे। कौटिल्य ने सड़कों से सभी विघ्न-बाधाओं को दूर रखने के उपाय बताए हैं। वाणिज्य वस्तुओं की सुरक्षा वैयक्तिगत्त रूप से की जाती थी अथवा राजकीय सुरक्षा-अधिकारियों द्वारा की जाती थी; अथवा यह गाँव की सामूहिक जिम्मेदारी होती थी। प्रतीत होता है, प्रजा की सुरक्षा करना 'नागरक' का एक मुख्य कर्तव्य था। अशोक ने प्रजा की सुरक्षा के लिए कई लोकोपकारी उपाय किए। चाट और भट (चौकीदारी) की प्रथा प्रजा की सुरक्षा के लिए ही चलाई गई होगी। 'शीलपट्टीकाराम' (पाँचवीं शताब्दी) में मदुरा में स्थानीय प्रहरियों की व्यवस्था का उल्लेख है।

(ख) विदेश व्यापार

ऐतिहासिक काल में मौर्यों के आते ही भारत ने सीरिया, मिस्र, सीरीन, मकदूनिया, एपिरस आदि के साथ अन्तरराष्ट्रीय परिवार में प्रवेश किया। पाटलिपुत्र में विदेशियों का आगमन इतना अधिक हो गया कि उनकी देखरेख के लिए नगर-पालिका को एक अलग समिति बनानी पड़ी। मकदूनिया के लोग पंजाब की जन-जातियों के जहाजघाट देखकर चकित हो गए। जहाज-उद्योग पर मौर्यों का एकाधिकार था। उनके पास शक्तिशाली नौसेना थी जिसके बेड़े सैनिक और व्यापारिक दोनों कामों में लगाए जाते थे। सातवाहनों के समय में पश्चिमी बन्दरगाह भरुकच्छ और सोपारा में विश्रामगृह बनवाए गए। उन्होंने जोरदार वाणिज्यनीति चलाई और कनहेरी (Kanheri) गुहाओं में समुद्र-यात्रा के दृश्यों वाली मूर्तियाँ अंकित हैं। राज्य में समुद्रयात्रियों के मार्गदर्शन के लिए नियमित व्यवस्था थी। राज्य वाणिज्य-सम्बन्धी कार्यकलाप में पूर्ण तत्पर रहता था और पेरिप्लस ने इस बात का उल्लेख किया है। आन्ध्र के लोग समुद्र-सन्तरण में बड़े प्रवीण थे और उनके सिक्कों पर जहाजों के एडभाइस अंकित थे।

पश्चिमी समुद्रतट के उन्नत वणिक् समुदायों के राजा ने कल्याण को अपने कब्जों में कर लिया और वहाँ के व्यापार पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया, ताकि यदि संयोगवश यूनानी जहाज उसकी बन्दरगाहों में घुसे तो उन्हें जब्त कर अनुरक्षक दल के साथ बेरिगाजा पहुँचा दिया जाए। इसका उद्देश्य यह था कि

कल्याण के समुद्र पार व्यापार की दिशा को मोड़कर भरुकच्छ में केन्द्रित किया जाय। चोल, कलिंग, बंग, पुंड्र और समतट के निवासी पूरबी व्यापार में इनके प्रतिस्पर्धी थे। बंग के राजा के पास प्रबल नौसेना थी।

कुषाणों के राज्यकाल में रोम का व्यापार उन्नति के शिखर पर था। रोम पार्थियनों और सासानियों के विरुद्ध यू-ची सन्धि के महत्त्व से भली-भाँति सतर्क हो गया था तथा पूरब और पश्चिम के बीच अफगानिस्तान होते हुए जानेवाले महान् स्थलीय व्यापार-मार्ग का नियन्ता था। भारत और चीन के बीच समुद्री व्यापार चलता था। इस बात की पुष्टि मैसूर में पाए गए द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व के चीनी सिक्के से होती है। चीन और बैक्ट्रिया के बीच अचानक जोरदार व्यापार चालू हुआ। चीनी रेशम विश्व-बाजार में हावी हो गया, चीन के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के फलस्वरूप भारत कभी-कभी, बिचौलिया व्यापारी के रूप में काम करते हुए, चीनी रेशम की आपूर्ति करता था। भारत ने जो भूमध्यसागरीय व्यापार में कई शताब्दियों तक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, वह इसी बात की बदौलत कि उसको सुदूर पूर्व से सीधा सम्पर्क था।

वाणिज्य-जीवन की अक्ष-रेखा न केवल महादेशव्यापी थी, बल्कि समुद्रव्यापी भी थी। चालू महादेशीय मार्ग मेसोपोटामिया और बलूचिस्तान होते हुए भारत आता था और दूसरा मध्य एशिया को जाता था जो रेशम-मार्ग था। इस तरह भारत सुदूर पूर्व और पश्चिमी दुनिया का संगम-स्थल था। वह वाणिज्य-वस्तुओं का निर्यातक केन्द्र था; और अन्तरराष्ट्रीय बाजार की तात्कालिक माँग की पूर्ति करता था क्योंकि वह भारी मात्रा में उत्पादन करता था।

प्रोफेसर रस्तोजेफ (Rostovtzeff) ने इन (वाणिज्यक) गतिविधियों का गहन अध्ययन किया है। भारत मिस्र को हाथीदाँत, कछुए की खोपड़ी, मोती, कुंकुम, रंग, चावल, गोलमिर्च, जटामांसी, पोशाक, दुर्लभ लकड़ी, औषध, कपास, रेशम आदि भेजता था। भारत और बेबीलोन को जोड़नेवाला अति प्राचीन मार्ग बहुत ही चालू और विकसित था। भारतीय व्यापार को रास्ता उन प्राचीन सड़कों से मिलता था जो ईरानी पठार के पार टिग्रिस नदी के तट पर सेल्यूकिया को जाती थीं। इन रास्तों से माल ले जाना फारस की खाड़ीवाले मार्ग की तुलना में सस्ता और आसान होता था। निश्चय ही विविध मार्गों से विदेशों के साथ भारत के चालू व्यापारिक सम्बन्ध को देखकर ही अशोक के मन में बुद्ध के उपदेश उन देशों में फैलाने के लिए

आयुक्त भेजने की महान् भावना जगी होगी। भारत और सेल्यूकसीय साम्राज्य के बीच व्यापार स्थल और समुद्र दोनों मार्गों से चलता था।

कई और कारण भी थे जिनसे पश्चिम के साथ भारत के व्यापार में क्रान्तिकारी प्रगति हुई और उनमें सबसे बड़ा कारण हुआ मानसून का आविष्कार। प्रथम शताब्दी ई० पू० और द्वितीय शताब्दी ई० के बीच यूनानी समुद्रयात्री सिन्धु-डेल्टा, गुजरात-तटप्रदेश और मालाबार बन्दरगाहें होते हुए सीधे समुद्रमार्ग से जाने लगे। दूसरा कारण था रोम द्वारा भारतीय विलास-वस्तुओं की माँग में उत्तरोत्तर वृद्धि, जिससे रोम और भारत के बीच समुद्री व्यापार को बढ़ावा मिला। ऑगस्टस के काल में तो यह व्यापार उन्नति की चोटी पर पहुँचा गया। रोम के व्यापारी समुद्री व्यापार में सक्रिय रूप में सम्मिलित हुए। मिश्र से बड़े-बड़े जहाज भारत आते थे, और संगाम-साहित्य में इसका उल्लेख है कि समुद्रतट के नगरों में यवन-वणिकों की बस्तियाँ थीं। रोमन मृद्‌भांड के टुकड़ों और रोमन सम्राट् के सिक्कों के खजानों की उपलब्धि से यह प्रमाणित होता है कि रोम के साथ भारत का अच्छा व्यापार चल रहा था। पेरिप्लस इस बात पर जोर देते हैं कि समुद्री व्यापार में भारतीय भी उसी तरह सक्रिय थे।

'मिलिन्दपञ्ह' में चर्चा है कि कई समुद्रगामी जहाज शत-सहस्र गाँठों से लदे हुए हैं तथा कई बहुत-सारे यात्रियों से भरे हैं और उनमें मस्तूल, लंगर, रस्सियाँ, पाल और फीते लगे हुए हैं। हमें पता है कि 130 ई० पू० और 300 ई० के बीच आमनिया में भारतीय उपनिवेश था। भारत मौर्योत्तर काल में जो आर्थिक उन्नति की ओर बढ़ा, उसमें उसके समुन्नत विदेशव्यापार का हाथ था। भारत के नगर परम समृद्ध थे, इसकी पुष्टि तत्काल स्रोतों से होती है। समसामयिक स्रोतों से जो चित्र सामने आता है, वह है उद्योग और वाणिज्य से गुंजार, मालों से भरे-पूरे बजारों और आलीशान भवनों से शोभायमान, सुविन्यस्त वीथियाँ, उद्यानों और आरामों से तथा भाँति-भाँति के नागरिकों से भर-पूर नगर। पेरिप्लस ने तत्कालीन राजाओं की विलास-रुचि का संकेत दिया है। उच्च और मध्य स्तर के लोग सुखी-सम्पन्न थे जैसा कि वात्स्यायन से प्रकट होता है, किन्तु निम्न वर्ग की अवस्था वैसी ही दयनीय थी जैसी आज है।

बैक्ट्रिया—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मार्ग

पश्चिम एशिया से प्राचीन भारत का जुड़ाव बहुत ही पुराना है और व्यापार स्थलमार्ग और समुद्रमार्ग दोनों से चलता था। मिस्र के पितर शव

(मम्मी) भारतीय मलमल में लिपटे पाये गये हैं। रानी हैप्सेस्टस भारत से सुगन्धि द्रव्य मँगाती थी। हाथी और सागवान की लकड़ी भी भारत से जाती थी। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से ही पश्चिम एशिया और तमिलनाडु के बीच वाणिज्य-सम्बन्ध था। जातकों में भारत और बेबिलोनिया के बीच व्यापार का उल्लेख है। सिकन्दर के बाद अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का मार्ग और भी प्रशस्त हो गया। बैक्ट्रिया पहुँचानेवाला उत्तरा पथ का मार्ग मशहूर तिजारती रास्ता था। बैक्ट्रिया भारत, चीन, मध्य एशिया और भूमध्यसागरीय देशों के बीच आयात-अग्रसारण-व्यापार केन्द्र था। वहाँ से यह व्यापार-मार्ग फारस के रेगिस्तान के उत्तरी भाग से गुजरते हुए हेरात और मेरु के शहर, तिगरिस और अफरात के उस-पार जागरस घाटी जाते हुए, सीरिया में अन्तियोक पहुँचता था। खैबर दर्रा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार-मार्ग के निकट पड़ता था और वह पहली शताब्दी ई० पू० से, जब रेशम का संचार और भी नियमित रूप से होने लगा, खूब गुलजार हो गया था। फारस की खाड़ी का उपयोग व्यापारी लोग बहुत पहले से करते आ रहे थे। सिकन्दर ने सिन्धु से अफरात तक इस मार्ग का पता लगाने के लिए नियारकस को भेजा था। अफरात पहुँचने में उसे छह महीने लगे थे।

तीसरी शताब्दी ई० पू० में आकर बैक्ट्रिया और पार्थिया स्वतन्त्र राष्ट्र हो गए और बैक्ट्रिया की सीमाओं से चलनेवाले विशाल पश्चिम-पूर्व अग्रसारण व्यापार की बदौलत बहुत ही समृद्ध हो गए। बेगराम में हुई हाल की खुदाई से प्रकट होता है कि व्यापार भारी मात्रा में चलता था और सौदे में बहुत-से देश भाग लेते थे। बैक्ट्रिया मुद्रात्मक अर्थव्यवस्था का लाभ उठाता था। जब समुद्रमार्ग बहुत विकसित नहीं हुआ था, बैक्ट्रिया (और पार्थिया) होते हुए जानेवाला व्यापार-मार्ग बेशक अधिक चालू था।

पश्चिम एशिया के साथ भारत के व्यापार-सम्बन्ध के फलस्वरूप ही सेल्यूकस वंशियों और चन्द्रगुप्त मौर्य के बीच सन्धि हुई। पार्थियनों ने भौगोलिक स्थिति से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने एक ओर चीन और भारत के साथ और दूसरी ओर रोम साम्राज्य के साथ बढ़ते व्यापार से अपने को समृद्ध बनाया। पार्थिया के व्यापारी चालाकी और मोल-मुलाई में मशहूर थे। वे जानते थे कि यदि चीन और रोम के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया तो उनका बड़ा अहित होगा। जब चीनी लोग समुद्री मार्ग की जिज्ञासा करते थे तो पार्थियावाले उन्हें आतंकभरी लम्बी समुद्र यात्रा का वर्णन सुनाकर त्रस्त कर देते थे। पार्थियावाले मनमानी दर से मुनाफा करते थे और इस कारण व्यापारी लोग दूसरा रास्ता निकालकर, जहाँ तक हो सके, पार्थिया से दूर रहते थे।

ई० पू० प्रथम शताब्दी के बीतने पर वे अपने बहुत-सारे माल भारत के जरिए भेजने लगे। जब रोम और पार्थिया के बीच अनबन हो गई तब रोम वालों ने अन्यान्य व्यापार मार्गों को निकाल लिया। पश्चिमी देशों और भीतरी एशिया के बीच होनेवाले अग्रसारण व्यापार के कारण ही उत्तरी पश्चिम भारत के व्यापार मार्ग गुलजार रहते थे। इस रास्ते उभयमुखी यातायात लम्बे अरसे तक होता रहा। इन दोनों के बीच अग्रसारण व्यापार के जरिए जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, वह कम महत्त्व का नहीं था, क्योंकि भारत ने उस क्षेत्र में प्रचुर सम्पत्ति हासिल की। भारत और रोम के बीच रेशम का अग्रसारण व्यापार इसलिए सम्भव हुआ; क्योंकि पार्थियावालों के साथ शत्रुता के कारण यह व्यापार भारत के पूरबी समुद्र तट होते हुए मालाबार समुद्र तट की बन्दरगाहों की ओर जाने लगा और फिर वहाँ से पश्चिम की ओर।

कुषाणों ने अपना प्रभाव मुख्यतः उन लाभों के आधार पर जमाया जो उन्हें एक ओर चीन और भारत तथा दूसरी ओर पश्चिम के बीच चलनेवाले व्यापार में उन्हें प्राप्त होते थे। रोमनों और पार्थियनों बीच के जुड़ाव में आर्मेनिया भी एक कड़ी का काम करता था और इसको हथियाने के लिए दोनों उत्सुक थे। इस काल में रोम साम्राज्य की नीति यह थी कि भारत के साथ प्रत्यक्ष समुद्री व्यापार बढ़ाया जाए और शत्रुता करने वाले पार्थिया के साथ स्थलमार्गीय व्यापार घटाया जाए। आगस्टस ने 25 ई० पू० में भारत जाने के समुद्री मार्ग पर काबू पाने के लिए एक यात्री-दल भेजा• और अदन मिस्रियों और यूनानियों के एक उपनिवेश के कब्जे में कर लिया गया। जब हिपेलस ने मानसून का आविष्कार किया तब स्थिति बदल गई। उन्होंने देखा कि हिन्द महासागर के आर-पार नियमित रूप से एक हवा बहती रहती है जिसके बलपर जहाज आसानी से हिन्द महासागर को पार कर सकता है। तीन महीने से भी कम समय में भी वे लोग अलेग्जेंड्रिया पहुँच सकते थे, जो पश्चिमी दुनिया का सबसे बड़ा व्यापार केन्द्र था। समुद्री व्यापार में भारी वृद्धि हुई। मिश्र से हर रोज एक-न-एक जहाज पूरब की ओर छूटने लगा। संगम-साहित्य से इसकी पुष्टि होती है। रोम से भारत का दौत्य-सम्बन्ध नियमित रूप से चलता था। ईस्वी के आरम्भिक चार शतकों में भारत निर्मित वस्तुओं और विलास-सामग्रियों की बड़ी माँग थी। रोम के साथ चल रहे इस व्यापार से भारत और भूमध्य सागरीय देशों के बीच समुद्री व्यापार को बहुत बल मिला।

मानसून का आविष्कार होते ही भारत के विदेशी व्यापार के भारी चहल-पहल के दिन शुरू हुए। अरब और भारत के निवासी अपने बीच के समुद्र को

व्यापार के महामार्ग के काम में बहुत प्राचीन काल से ही लाते रहे हैं। हेरोडोटस से हमें ज्ञात होता है कि 531 ई० पू० में केरियांडा के स्काइलेक्स सिन्धु से लगातार मिस्र तक जहाज से गए और अरब के चतुर्दिक सुएज तक लाल सागर में समुद्र यात्रा पूरी करने में उन्हें अढ़ाई साल लगे। टोलेमी फिलाडेल्फस (285-246 ई० पू०) ने लाल सागर क्षेत्र को सुधारने के उपाय किए और व्यापार को सुकर बनाया। आर्सीनो, माइयोस हार्मोस और बेरिनीस की तीन बन्दरगाहें रेगिस्तानी सड़कों द्वारा नाइल नदी से जुड़ी थीं। अलेग्जेंड्रिया में अन्तरराष्ट्रीय बाजार था।

टोलेमियों और मौर्यों के बीच राजनयिक सम्बन्ध भारत और मिस्र के बीच होने वाले व्यापार का परिणाम था। एथीनियस ने लिखा है कि फिलाडेल्फस के पास भारतीय महिलाएँ, पशु और मसाले थे और इससे प्रमाणित होता है कि इन दोनों देशों के बीच निकट सम्पर्क था। स्ट्राबो के अनुसार मायस हार्मस भारतीय व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। ई० पू० दूसरी शताब्दी में आकर टोलेमियों ने भारतीय वाणिज्य वस्तुओं पर एकाधिकार जमा लिया और इसीलिए यूडोक्सस ने टोलेमियों से बचने के लिए अपनी नौयात्रा अफ्रीका का चक्कर लगाकर करने की कोशिश की। इससे पहले वह अलेग्जेंड्रिया के भारतीयों की सहायता से भारत भ्रमण कर चुका था। अरब के लोग पूरब और पच्छिम के बीच बिचौलिया का काम करते थे। प्रथम शताब्दी ई० में भारत और अरब के बीच व्यापार तेजी पर था। मिस्रवासियों ने भारत के साथ सीधे व्यापार को बढ़ावा दिया।

हिपेलस

मानसून के आविष्कारक हिपेलस समुद्रों के भागों और स्थितियों का अवलोकन करते हुए अरब सागर को पार कर के प्रथम बार जहाज से भारत पहुँचे। इनका समय मतभेद के साथ ई० पू० द्वितीय शताब्दी और प्रथम शताब्दी ई० के बीच रखा जाता है। इनके आविष्कार से भारत और पश्चिम के बीच व्यापार को बढ़ावा मिला। ये यूएरगेटीज द्वितीय (146-117 ई० पू०) (Euergetes II) द्वारा आयोजित समुद्र यात्रा के कर्णधार (पायलट) थे।

भारत को पश्चिम में तैयार बाजार मिला। आगस्टस ने भूमध्यसागरीय देशों में शान्ति-स्थापन के उपाय किए जिसके फलस्वरूप भारत और रोम के बीच निर्बाध व्यापार चालू हुआ। प्लिनी ने शिकायत की है कि अकेले भारत ने ही मूल लागत से सौ गुनी कीमत पर अपना माल बेचकर रोम से 425000 पाउंड टान लिया। कई शिष्टदल आगस्टस के दरबार में आए। पांड्य राजा ने उन्हें संदेह और

प्रीतिदान भेजे। वीमा कैडफिसीज ने भारत विजय के बाद रोमन ओरिएन्ट के साथ व्यापार शुरू किया। हमें निर्देश मिलते हैं कि आगस्टस से कांस्टैन्टिन तक भारतीय यात्रियों के अनेक दल रोम गए। भारत के साथ वाणिज्य सम्बन्ध होने से रोम का धन चिन्ताजनक रूप से बहने लगा और वेस्पासियन (69-79 ई०) ने अपनी प्रजा से अनुरोध किया कि वे प्लीबियनों की भाँति जीवन में सादगी लाएँ। 180 ई० के बाद रोम के साथ व्यापार में गिरावट आई। महाभारत में भी रोम का निर्देश है।

पेरिप्लस में चर्चा आई है कि भारत को एथियोपिया से तथा पश्चिम अफ्रीकी समद्रतट के कई अन्य भागों से व्यापार सम्बन्ध था। 'अगथार्किडीज' से हमें ज्ञात होता है कि भारत के व्यापारी नियमित रूप से अदन जाते थे। अलेग्जेंड्रिया में एक सुसम्पन्न भारतीय बस्ती थी। तमिल साहित्य में निर्देश है कि दक्षिण भारत में विदेशियों की बस्तियाँ थीं और उत्तर-पश्चिम भारत में भी विदेशी व्यापारियों के अड्डे थे।

रेशम-व्यापार

भारत के पश्चिमोत्तर-सीमान्त और चीन के बीच व्यापार के मार्ग बैक्ट्रिया में जुड़ते थे और चियांग-किएन (ई० पू० द्वितीय शाताब्दी) ने जो रिपोर्ट चीनी सम्राट् यूती को दी थी, वह भारत और बैक्ट्रिया के बीच व्यापार के बारे में प्रथम चीनी विवरण है। महाभारत से प्रकट होता है कि भारत मध्य एशिया से परिचित था। इन प्रदेशों से भारत का सम्पर्क व्यापार के सिलसिले में ही हुआ। व्यापार के लिए उत्तर का मार्ग शायद अधिक महत्वपूर्ण था; क्योंकि रेशम इसी मार्ग से बैक्ट्रिया जाता था। रेशम व्यापार के जरिए बाहरी देशों से उत्तरोत्तर अधिक सम्पर्क होने के कारण यह प्रदेश अधिक से अधिक राजनैतिक एवं सैनिक नियन्त्रण में आता गया। तारिम बेसिन में भारतीय संस्कृति का महत्व या प्रभाव भारत चीन-सम्बन्ध का एक उपफल था। चीनी लोगों ने रेशम, सिन्दूर और बाँस का प्रचलन किया। बैक्ट्रिया पर खानाबदोशों के विजय के बाद जो अस्त-व्यस्तता आई, उसके चलते कुछ समय तक अन्य व्यापारों के साथ-साथ रेशम का व्यापार भी रुका रहा। चियांग किएन ने देखा कि भारत होकर बैक्ट्रिया का रास्ता निकाला जा सकता है। एशिया व्यापी रेशम-मार्ग सदा निरापद नहीं थे; क्योंकि वह क्षेत्र विभिन्न राजनैतिक सत्ताओं के अधीन पड़ता था।

रेशम-व्यापार का बहुत भारी हिस्सा उस परम्परागत मार्ग से हट गया और पेरिप्लस के अनुसार स्थल-मार्ग से बैक्ट्रिया बेरिगाजा और गंगा के रास्ते

कुरु मंडल समुद्र तट पहुँचने लगा। कुषाण साम्राज्य की जड़ जमने के बाद रेशम-मार्ग को और भी सहायता मिली। पेरिप्लस ने चीनी रेशम की प्रशंसा की है। टोलेमी से ज्ञात होता है कि एक मार्ग पाटलिपुत्र-युन्नान-बर्मा-आसाम होते हुए भारत से चीन जाता था और तिब्बत तथा सिक्किम होकर भी जाता था। चीनी रेशम पाटलिपुत्र लाया जाता था और वहाँ से ताम्रलिप्ति। 'मिलिन्दपञ्ह' में समुद्र मार्ग से चीन की यात्रा का उल्लेख है। गंगा के मैदान और चीन के बीच नियमित रूप से जलमार्गी व्यापार चलता था।

'वृहत्संहिता' में समुद्री व्यापार, समुद्र-यात्रा और समुद्र व्यापारियों के हिताहितों का वर्णन है। फाहियान ने मध्य एशियाई मार्गों की जोखिमों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि केवल सूरज, चाँद और तारे देखकर ही आगे बढ़ना सम्भव होता था।

भारत को श्रीलंका के साथ अच्छा व्यापार सम्बन्ध था; क्योंकि वह ऐसी महत्त्वपूर्ण जगह में पड़ती है, जहाँ महासागर के एक ओर से दूसरी ओर को जोड़ने वाले समुद्री मार्गों का संगम होता है। श्रीलंका पूरब और पश्चिम के बीच चलने वाले विदेश व्यापार तथा अन्तर्महासागरीय वाणिज्य दोनों में विशेष भूमिका अदा करती थी। इसका ब्योरा हमें कॉस्मस के वृत्तान्त से ज्ञात होता है। सिन्ध, गुजरात, कल्याण, मालाबार, मंगलोर, ताम्रलिप्ति को श्रीलंका, फारस, अरब, एथियोपिया, बैजंटाइन साम्राज्य, चीन तथा हिन्दमहासागर के द्वीपों के साथ सामुद्रिक सम्पर्क था। भारत के हर भाग से जहाज श्रीलंका पहुँचते रहते थे। श्रीलंका भारत से रेशम, अगर, लौंग, चन्दन आदि वस्तुएँ खरीदती थी। पश्चिम में मरुकच्छ से पूरब में सुवर्ण भूमि तक बीच में श्रीलंका के एक भाग का स्पर्श करते हुए भारत के चतुर्दिक समुद्रमार्गीय व्यापार चलता था।

ताम्रलिप्ति से जहाजों का आना-जाना होता था। फाहियान ताम्रलिप्ति से श्रीलंका गए थे। वराहमिहिर ने सीप के मोती के उद्भव स्थान के रूप में ताम्रपर्णी, पांड्य, सौराष्ट्र आदि स्थानों के साथ-साथ, श्रीलंका का भी उल्लेख किया है। फाहियान ने श्री लंका से लाए गए मोती देखे थे। चाँदी श्रीलंका से भारत आता था। बर्मा और चीन के बीच भारतीय बस्तियाँ थीं। इत्सिंग ने इससे अधिक ऐसी बस्तियों का उल्लेख किया है और चीन के मार्ग से ही भारतीय शिल्प-कला की वस्तुएँ जापान जाती थीं। तरह-तरह की केसर-कस्तूरी आदि सुगन्धि वस्तुएँ तिब्बत, चीन और कम्बोडिया भेजी जाती थीं। गोलमिर्च ईरान जाता था। चीनी रेशम भारतीय व्यापारियों के जरिए पश्चिमी बाजारों में फैलते

थे। बैजेन्टाइन साम्राज्य से सामुद्रिक सम्बन्ध था। अपने विधिविषयक निबन्ध (लॉ डाइजेस्ट) में जस्टिनियन ने आयातित वस्तुओं की लम्बी सूची दी है। उन्होंने एक पाउंड रेशम का मूल्य आठ मोहर (स्वर्णमुद्रा) निर्धारित किया और उनके कानून से रेशम के व्यापार पर कुछ बुरा असर पड़ा। उस समय रेशम के व्यापार पर फारस के व्यापारियों का (प्रोकुपियस के अनुसार) एकाधिकार था और जस्टिनियन नहीं चाहते थे कि रोम की मुद्राएँ उनके हाथ जाएँ। इसलिए उन्होंने एथियोपियनों से सौदा किया। उन्होंने रेशमी कीड़ों के कुछ अंडे बैजेन्टियम में मँगवाए और फारसियों तथा भारतीयों का एकाधिकार समाप्त किया। जब बैजेन्टियम रेशम का उत्पादन करने लगा, तब भारत में रेशम का व्यापार गिर गया। गुप्त-काल में व्यापार में भारत का पलड़ा भारी रहा।

अजन्ता में जहाजों और नावों के चित्रों का होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विदेश-व्यापार होता था और इस बात की पुष्टि तत्कालीन साहित्यिक कृतियों से भी होती है, जिनमें समुद्र-तरण, पोत-निर्माण और समुद्र-व्यापार का संकेत मिलता है। 'बृहत्संहिता' में धीवरों और कैवर्तों का उल्लेख एक जाति के रूप में किया गया है जिनके स्वास्थ्य पर चन्द्रमा का प्रभाव कहा गया है। व्यापारियों, वैश्यों, धीवरों आदि के भाग्य के नियामक ग्रहों के प्रभाव का उसमें एक और उल्लेख है। उसमें ग्रह-नक्षत्रों के ऐसे योग का भी वर्णन है जिसका प्रभाव व्यापारियों और समुद्र यात्रियों पर पड़ता है। उसमें एक ऐसी नाविक जाति का उल्लेख है जो केवल नदी में नाव चलाती थी। इसमें समुद्र में होने वाले रोग तथा समुद्र में मंगल-स्नान के स्थान का भी उल्लेख है और ऐसी बन्दरगाह की भी चर्चा है जहाँ विदेशों में अपने माल को बेचकर सुरक्षापूर्वक लौटे वणिक्-समुदाय की जमघट के कारण अपार स्वर्ण-संचार होता रहता था। श्री हर्ष की 'रत्नावली' में कथा है कि श्रीलंका की राजकुमारी मध्य समुद्र में जहाज डूबने की दुर्घटना में पड़ गई और उसे कौशाम्बी के व्यापारियों ने बचाकर लाया। दंडी ने कहा है कि एक व्यापारी कालवन नामक द्वीप गया, वहाँ एक लड़की से शादी की और जहाज के डूबने से मर गया। उन्होंने आगे मित्रगुप्त की चर्चा की है जो यवन-पोत पर आरूढ़ था। ह्वेनत्सांग ने कहा है कि सौराष्ट्र के लोग समुद्र-व्यापार से अपनी जीविका चलाते थे। गुजरात का एक राजकुमार जावा गया था आदि।

सिन्ध में देबल बन्दरगाह अरबों को मालूम थी और इस बन्दरगाह पर होनेवाले भारी व्यापार के फलस्वरूप नगर समृद्धिशाली हो गया था। इस

बन्दरगाह पर ओमान, चीन और भारत के जहाज जुटते थे। यह 12वीं शताब्दी के अन्त तक समृद्ध अवस्था में था। तीन ओर से समुद्र द्वारा प्रक्षालित सोमनाथ भी एक पत्तन (बन्दरगाह) था। काम्बे मुख्य बन्दरगाह था और भरुकच्छ (भरोंच) भी बन्दरगाह के रूप में लम्बे अरसे तक मौजूद रहा। नौवीं शताब्दी तक यहाँ से जहाज लगातार चीन जाता रहा। चीन के जहाज ओमान, शिराफ और बसरा जाते थे और फारस की खाड़ी से चीन जाने का मार्ग था। ताम्रलिप्ति एक विशाल बन्दरगाह बनी रही। नौवीं शताब्दी में आकर अरबों का समुद्री क्रियाकलाप उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। अरब के सौदागर भारत में माल खरीद कर चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्यान्य भागों में ले जाते थे।

बन्दरगाहें

(i) **भरुकच्छ**—यह रोमनों का 'बेरिगाजा' और परवर्ती काल का भरोंच (Broach) है। वाराणसी तथा पूर्व देश के अन्य भागों के व्यापारी भरुकच्छ जाते थे और वहाँ से पूरब में सुवर्ण भूमि आदि तथा पश्चिम में अलेग्जेंड्रिया समुद्र मार्ग से जाते थे।

(ii) **रोरुव या रोरूक** (सौवीर की राजधानी)—यह समुद्र द्वारा गम्य था। यह 'मीननगर' नाम से प्रसिद्ध हुआ और वाणिज्यमूलक महत्त्व के कारण पेरिप्लस में इसकी प्रमुखता दिखाई देती है। रोम, मिस्र, फारस और अरब के व्यापारी ओमान से पहले बार्बेरिकम आते थे, फिर वहाँ से मीननगर।

(iii) **सुरपारक**—यह महाभारत का 'सुरपारक' है। पेरिप्लस के अनुसार इसका स्थान बेरिगाजा के ठीक बाद है। यही टोलेमी का सोपारा है जो एक समय अपरान्त (उत्तर कोंकण) की राजधानी था।

(iv) **कावेरीपट्टन**—इसकी चर्चा टोलेमी ने की है तथा **'सिलपद्दिकरम'** में आई है। **'मणिमेखलै'** में इसका वर्णन एक महान् बाजार-नगर के रूप में किया गया है। यहाँ से स्थल द्वारा मदुरा जाने का मार्ग है। इसे श्रीलंका के साथ वाणिज्य-सम्पर्क था जहाँ से यह माल लाता था। इसके ऊँचे आकाशदीप जहाजों को तट का संकेत देते थे। दंडी ने इसका निर्देश कावेरी के दक्षिण तट पर अवस्थित नगर के रूप में किया है।

(v) **दन्तपुर**—यह कलिंग राज्य में था और सम्भवतः उसकी राजधानी था। यह गांगों के एक उत्कीर्णलेख में राजा के निवास-नगर के रूप में वर्णित है। यह लगभग हजार वर्षों तक राजनीतिक एवं वाणिज्यिक महत्त्व का स्थान रहा।

इनके अलावा, देश के पश्चिमी और पूरबी घाटों में कई छोटी-छोटी बन्दरगाहें थीं जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। अपोलोगस और ओमान से भारत आने वाले व्यापारियों के लिए प्रथम सम्भरण-पत्तन (रसद बोझने की बन्दरगाह) बेरिगाजा होता था और उसके बाद बर्बरिकम जहाँ शकों की महानगरी मीननगर थी। तब सिन्धु के उस पार कच्छ का रान पड़ता था जहाँ से 'बराका' (द्वारका) की खाड़ी उभरी है। इसके आगे मशहूर बन्दरगाह बेरिगाजा तथा एरिया का समुद्रतट (उत्तर कोंकण) था।

'सिलपद्दिकरम' (पाँचवीं शताब्दी ई०) में कहा गया है कि कैसे पांड्य-राजधानी मदुरा के बाजार में पुरवैया हवा के साथ तरह-तरह की वस्तुओं से लदे बड़े-बड़े जहाजों का बेड़ा आया। अन्य महत्त्वपूर्ण पत्तन थे कावेरी पट्टनम, दन्तपुर, आन्ध्र प्रदेश का मसालिया, बंगाल का तामलुक आदि। मसालिया को आज का मसूलीपट्टम माना गया है। फाहियान एक पोत पर बनारस से चम्पा (भागलपुर) गए और वहाँ से तामलुक होते हुए श्रीलंका गए। इत्सिंग ने तामलुक को बन्दरगाह कहा है और यहीं से उन्होंने चीन लौटने की यात्रा शुरू की। हुएनत्सांग ने उड़ीसा में अवस्थित दन्तपुर को बन्दरगाह कहा है। 'मणिमेखलै' (छठी शताब्दी ई०) में मदुरा से जावा जाने के समुद्री रास्ते का वर्णन है।

स्थल-मार्ग

व्यापार और अन्य कामों के स्थल-मार्गों का भी उल्लेख है। खुरासान और सिन्ध के बीच व्यापारियों का कारवाँ काबुल और बामियन आदि होकर लगातार चलता रहता था। मसूदी ने सिन्ध देश से तिब्बत और चीन जाने के स्थल मार्गों का उल्लेख किया है। एक दूसरा मार्ग भी था जो झेलम, रावलपिंडी, अटक और पेशावर से जाता था। अलबरूनी काबुल होते भारत आए थे।

हुएनत्सांग समरकन्द आए और वंक्षु (ओक्सस) नदी के किनारे-किनारे तोखारा, तरमूज और बाल्ख पहुँचे; वहाँ से और दक्षिण जाते हुए बामिया आए, वहाँ से कफीरिस्तान और तब भारत आए। पूरब में एक मार्ग पुंड्रवर्धन को कामरूप से जोड़ता था और यह पूरब को बढ़ते हुए आसाम की पहाड़ियों और ऊपरी बर्मा को पारकर दक्षिण चीन पहुँचता था। एक और मार्ग तोंकिन से कामरूप जाता था, वहाँ से पुंड्रवर्धन आता था और फिर वहाँ जंगल और अन्ततः मगध जाने के लिए इसे पार करना पड़ता था। सिक्किम और चुम्बी घाटी के उस पार हिमालय के दर्रों से गुजरनेवाला मार्ग तिब्बत और चीन तक जाता था।

भारत को श्रीलंका, दक्षिण पूर्व एशिया और चीन के साथ अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध था। मोती, रत्न, पारदर्शक पत्थर, मलमल, कछुए की खोपड़ी आदि वस्तुओं के लिए श्रीलंका मशहूर थी। वह 'तम्बपण्णि' (ताम्रपर्णी) कहलाती थी। वहाँ व्यापारी लोग जहाज लेकर जाते थे। पश्चिम में तो भारत को अरब और रोम के व्यापारियों से लोहा लेना पड़ता था, पर दक्षिण-पूर्व एशिया में भारत के लिए एकदम साफ मैदान था। बड़े-बड़े जहाज चोल की बन्दरगाहों से खुलकर सुवर्णभूमि जाते थे। द्वितीय शताब्दी ई० में एक समुद्र-मार्ग निरन्तर चालू था। भारत के साहसी सौदागर जहाज से सुवर्ण-भूमि में तथा सुवर्णद्वीप जाते थे; इसका उल्लेख जातकों, 'अवदानशतक', 'बृहत्कथा मंजरी' आदि में तथा तृतीय शताब्दी ई० के चीनी लेखकों के लेखों में भी मिलता है।

उपर्युक्त क्षेत्रों में पहली शताब्दी ई० से ही भारतीय राज्य स्थापित होने लगे थे और मैत्रीपूर्ण सम्पर्क से व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठतर होता गया। सोने के लोभ से भारत के व्यापारी समुद्र लाँघकर हिन्दचीन और इंडोनेशिया जाते थे। ई० पू० द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही दक्षिण भारत को चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में चीन जाने का समुद्री मार्ग ज्ञात हो चुका था। पूरबी भारत और दक्षिण पश्चिम चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध ऊपरी बर्मा और यूनान के स्थल मार्ग से ई० पू० द्वितीय शताब्दी में ही कायम हो चुका था। प्रथम शताब्दी ई० में चीनी कच्चा रेशम, रेशमी सूत और रेशमी वस्त्र का स्थलमार्गीय व्यापार नियमित रूप से चालू था। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में यूनान और बैक्ट्रिया के बीच चलने वाले व्यापार में भारत बिचौलिये का काम करता था। कुषाण सामाज्य ने ऐसी अनुकूल स्थिति बनाई जिससे मध्य एशिया में और उससे आगे भी भारतीय व्यापार फैला। उत्तर-पश्चिम भारत से लोगों का एक काफी बड़ा दल खोटान जा बसा जहाँ प्राकृत प्रशासन की भाषा बन गई।

व्यापार सम्बन्धी कानून

'अर्थशास्त्र' में और स्मृतियों में व्यापार को सुव्यवस्थित करने के लिए बहुत-से नियम निर्धारित किए गए हैं। बौधायन के अनुसार, राजा को चाहिए कि व्यापारियों को सताए बिना माल के आन्तरिक मूल्य के अनुरूप न्यायोचित शुल्क ही वसूले। नारद के अनुसार जो व्यापारी दूर देश से लाभ के लिए व्यापार करने आएँ, उनसे मनमाना शुल्क नहीं वसूला जाना चाहिए। चूँकि वार्ता पर ही संसार जीता था, इसलिए यह भावना मजबूत होती गई कि व्यापार को बढ़ावा

देना और उसकी रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। व्यापारियों की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि वे राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाते हैं। जातकों से हमें ज्ञात होता है कि राजाओं ने न्यायोचित करारोपण द्वारा व्यापारियों का दिल जीत लिया। शुल्क राज्य की आय का एक मुख्य स्रोत था। जो व्यापारी पथ-कर चुकाए बिना (सीमा-सूचक) झंडे से आगे कदम रखते थे उनसे उनके द्वारा देय पथ-कर की राशि के आठ गुने के बराबर जुरमाना वसूला जाता था। कौटिल्य के अनुसार, आन्तरिक, वाह्य और विदेशी तीनों प्रकार के व्यापारियों को समान रूप से आयातित या निर्यातित माल पर पथ कर चुकाना पड़ता था।

कौटिल्य ने देश के विभिन्न भागों के बीच होनेवाले व्यापारों के लिए नियम निर्धारित किए हैं। उन्होंने समुचित वितरण के उद्देश्य से केन्द्रीकरण की पद्धति विकसित की। जिन वस्तुओं की माँग अक्सर होती है, वे केन्द्रीकरण से बरी रखी गई थीं। स्थानीय और विदेशी वस्तुओं की माँग और कीमत में होने वाली घट-बढ़ को गौर करना **'संनिधाता'** का कर्तव्य था। चूँकि वह वाणिज्य-कर वसूलता था, अत: उसका कर्तव्य था कि उसी हिसाब से करारोपण की दर बढ़ाए। व्यापार और वाणिज्य के पर्यवेक्षण के लिए राज्य की ओर से बहुत-से अधिकारी नियोजित रहते थे। कौटिल्य द्वारा उल्लिखित अध्यक्षों के अतिरिक्त, हमें व्यापार से सम्बद्ध **'शौल्किक'**, **'गौल्मिक'**, **'आयुक्तक'**, **'ग्रामभोजक'** आदि का उल्लेख मिलता है। शिवस्कन्द वर्मन् के हीरहदगुल्लि फलक (एइ—1, पृ० 5) में शुल्कगृह के अधिकारियों का उल्लेख है। स्कन्दगुप्त के विहार प्रस्तर स्तम्भ लेख में **'गौल्मिक'** नामक एक राजकीय अधिकारी का उल्लेख है।

विदेशों में व्यापक बाजार वाले महत्त्वपूर्ण उद्योग राजकीय नियन्त्रण में थे, जैसे कश्मीर में केसर, पूरब में महीन कपड़ा और जन, पश्चिम में घोड़े, दक्षिण में रत्न और मोती तथा सर्वत्र हाथी। पेरिप्लस के अनुसार मछली बझाने का काम चांडालों (कंडेम्ड क्रिमिनल) से लिया जाता था। प्लिनी के अनुसार, सिन्धु और हैदस्पीज के बीच ओर्मेनस के नमक के क्षेत्र से देश के सम्राट् को जितना राजस्व प्राप्त होता था, उतना तो सोने और मोती से भी नहीं होता था। खनिजों और नमक पर राज्य का एकाधिकार था। पल्लवों के काल में नमक पर राजा का एकाधिकार रहता था और निजी उत्पादन के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। नमक में अपमिश्रण करने का कठोर दंड था। प्रभावती गुप्त के पूना और रिधनपुर फलकों (एइ-XV. 42) तथा प्रवरसेन द्वितीय के शिवानी और चमक ताम्रपत्रों (कोदइ-238-246) में खानों और वनों पर राज्य के पूर्ण एकाधिकार का

उल्लेख है। यहाँ तक कि चीनी भी शिवस्कन्दवर्मन् (एइ-1.6) के समय राज्य द्वारा उत्पादित होती थी।

समुद्र व्यापार राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत था, इसलिए शकों ने इसे राजकीय नियन्त्रण में कर लिया। आयातों और उनके समुचित वितरण पर राज्य का प्रत्यक्ष नियन्त्रण था; इसका स्पष्ट प्रमाण पेरिप्लस में मिलता है। इसमें समुद्र-व्यापार पर राज्य के नियन्त्रण की बात तो लिखी है ही, साथ ही यह बात भी लिखी है कि भरुकच्छ में खतरनाक ज्वारों से विदेशी जहाजों को और समुद्री लुटेरों से उनके माल को बचाने के लिए राज्य की ओर से उचित प्रबन्ध किया गया था। राज्य के हस्तगत उद्योगों में जहाजरानी एक महत्वपूर्ण उद्योग थी। अपने रास्ते से जाते हुए जहाज यदि बन्दरगाह में लगाया जाता था तो उससे शुल्क वसूला जाता था, किन्तु जलवायु वाले जहाज अवश्य ही नष्ट कर दिए जाते थे। रास्ते को निरापद रखना उनका कर्तव्य था और 'अन्तपाल' लोग कारवाँ की रक्षा करते थे। श्रोत्रियों को शुल्क से बरी किया जाता था।

सट्टेबाजी, होड़, जमाखोरी और अपमिश्रण के निरोध के लिए नियम बने हुए थे। राज्य प्रजा के हित की दृष्टि से क्रय-विक्रय पर निगरानी रखता था। मोल-मुलाई खूब चलती थी। वस्तु-विनिमय की जगह मुद्रा का प्रचलन हो चुका था और धीरे-धीरे मुद्रा में वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होने लगा था। जहाँ जातकों में हम देखते हैं कि मूल्य निर्धारित नहीं है, कौटिल्य मूल्य एवं वाणिज्य-लाभ दोनों की व्यवस्था करते हैं। कौटिल्य ने दस्यु वाणिज्य (स्मगिलग) के निरोधार्थ भी नियम बनाये हैं। 'बृहत्संहिता' ने अन्नों के मूल्य में असाधारण वृद्धि और ह्रास के मामलों का उल्लेख किया है और वराहमिहिर ने व्यापारी का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

गुप्तोत्तर-काल में व्यापार और वाणिज्य में ह्रास हुआ, जो व्यापारियों और वणिकों के पतन से लक्षित होता है। चन्देल और ओड़िया भूमि-दानपत्रों में तथा 'स्कन्दपुराण' में भी अन्य प्रजाओं के साथ वणिकों को भी दानग्राहियों के अधीन किए जाने का उल्लेख है। 'स्कन्दपुराण' के अनुसार, कलियुग में वणिकों का पतन होगा और वे राजपुत्र-प्रमुखों पर आश्रित हो जाएँगे। कई सनदों में व्यापारियों और वणिकों की बस्ती का उल्लेख है और कुछ सनदों में व्यापारियों को बेगारी लेने का भी अधिकार दिया गया है (एइ-XXX. 164-81; जएसोहिआ-II. 281-93; काइइ-IV. संख्या 31, 32)। ये अभिलेख पश्चिम भारत के समुद्रतटीय क्षेत्रों के हैं और इन सनदों में सामन्ती दानों का रंग-ढंग प्रतिफलित होता है। व्यापार में पतन का

आभास सामाजिक मूल्य के पुनर्निर्धारण के प्रयास में भी मिलता है। कलियुग में समुद्र-यात्रा वर्जित है (काणे-III) और इससे व्यापार में घिराव एवं सिमटाव की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इसके बावजूद, दूर-दूर प्रदेशों से समुद्रतटीय व्यापार चलता रहा। पुरी, कलिंग, बाणपुर, रामेश्वर, श्रीलंका, लक्षद्वीप, पाटन आदि व्यापार-केन्द्र चालू रहे।

V

आयात-निर्यात

'पेरिप्लस आफ द एरिथ्रिएन सी' में प्रथम शताब्दी ई० में दक्षिण अरब के समुद्रतट होते हुए दक्षिण भारत तथा पश्चिम भारत का विवरण दिया गया हैं। 'एरिथ्रियन' यह नाम यूनान और रोम के लोगों ने लाल सागर और फारस की खाड़ी सहित हिन्द महासागर को दिया था। लेखक को इसकी बन्दरगाहों, बाजार-नगरों, आयातों और निर्यातों का प्रत्यक्ष अनुभव था। उसका नाम अज्ञात है। वह लाल सागर से जहाज द्वारा भारत आया था। इसमें भारत और पश्चिम जगत् के बीच पूर्वकालीन व्यापारिक एवं सामुद्रिक गतिविधि का मूल्यवान् एवं प्रामाणिक वृत्तान्त मिलता है। इसमें लाल सागर, अरब, पूर्वी अफ्रीका और भारत के तटों का सविस्तर भौगोलिक ज्ञान आश्चर्य में डालने वाला है। टोलेमी ने इसका उपयोग किया था और उन्होंने भारत का वर्णन गंगा और उसके आगे तक किया है। स्त्राबों की 'जियोग्राफी' तथा प्लिनी का 'नेचुरल हिस्ट्री' भी वैसे ही महत्त्वपूर्ण हैं। पेरिप्लस वणिकों की मार्गदर्शक पुस्तिका है। इसमें प्रसिद्ध अन्नों, वस्त्रों, रत्नों, पत्थरों, भारतीय दवाओं और गन्धद्रव्यों के अलावा नाना प्रकार की बहुत-सारी वस्तुओं का उल्लेख है। भारत में नदियों की प्रचुरता है और उसके समुद्र चाँद के ह्रास और वृद्धि के साथ प्रबल ज्वार-भाटों का खेल करते रहते हैं।

निर्यात की मदों में शामिल थे—हाथीदाँत, कछुवे की खोपड़ी, गेंडा, कस्टस, मसाला, गोंद, राल, पन्ना, मरकत, केसर, चीनी, रोम (सेरिका), रूई, रेशम, धागा, नील, जटामासी, चीनी मिट्टी, गोलमिर्च, सुपारी आदि। पेरिप्लस बताता है कि अरब और अफ्रीका के समुद्रतटों में भारतीय व्यापारी, नाविक और एजेंट मौजूद थे। वे उत्कृष्ट उद्यमी नहीं थे और समुद्र-यात्रा निषिद्ध कर दी गई थी (मनु-III. 158)। भारत की समुद्रतटवासी व्यापारी जातियाँ अन्य नागरिकों की अपेक्षा नीची नजर से देखी जाती थीं। 'मनुस्मृति' में समुद्रतट वासियों के प्रति कोई विशेष आकर्षण नहीं दिखाई देता है। उन्हें अपने दरवाजे पर ही ग्राहक निरन्तर मिलते रहते थे, इसलिए उन्हें तट छोड़ने की कोई जरूरत नहीं महसूस

होती थी। निर्यात वस्तुओं में शामिल थे—(i) वन-उत्पाद, (ii) पशु-उत्पाद और (iii) खान-उत्पाद।

थियोफ्रास्टस (तृतीय शताब्दी ई० पू०) ने उपयोगी भारतीय उत्पादों का उल्लेख किया किया है, जैसे इलायची, तेजपात, दालचीनी, जटामासी, गोलमिर्च, आदी, नींबू, अलसी, रूई, कटहल, केला, आम, तेंदू आदि। तिल और उसका तेल भी भारतीय वस्तु के रूप में पश्चिम में परिचित थे। वनस्पति उत्पाद में शामिल थे—चीनी, नील, लिसियम (licium), तरह-तरह की लकड़ी, रूई से बनी वस्तुएँ, (root of costus) अगर, गुग्गुल, नारियल, तरबूज, सतालू, खूबानी, चावल मक्का, आदि। गोलमिर्च की लगातार भारी माँग रहती थी। दवा बनाने में इसका उपयोग हिपोक्रेटिस (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०) के समय से ही होता आया है जिन्होंने इससे बनी एक आयुर्वेदिक दवा के स्त्रीरोग और नेत्ररोग में उपयोग का निर्देश किया है। दालचीनी की बड़ी माँग थी। कपास समुद्रपार के बाजारों में बिकती थी। महीन होने के बावजूद पश्चिम के बाजारों में यह चीनी रेशम का मुकाबला न कर सकी। लोबान, चूना आदि का भी निर्यात होता था। कश्मीर के केसर आदि सुगन्ध-पादपों का उपयोग सुगन्धि के लिए किया जाता था और रोम के प्रिय शृंगार (द्रव्य दारु हल्दी) का भी निर्यात होता था। वनस्पति-उत्पादों का निर्यात पश्चिमी बन्दरगाहों से भी होता था।

हाथी, गेंडा, सिंह, बाघ, कुत्ता, बन्दर, अजगर, तोता, मोर, मुरगी आदि भारतीय पशु-पक्षी उपहार के रूप में साथ ले जाते थे। टोलेमी फिलाडेल्फस की शोभा-यात्रा में भारतीय गायें और कुत्ते शामिल थे। रोम में भारतीय पशुओं की, खासकर बाघों की प्रदर्शनी अक्सर लगाई जाती थी। शोभाकारी पक्षियों का निर्यात होता था। सिकन्दर के बाद से युद्ध के लिए हथियारों की माँग होने लगी। भारतीय जीव-जन्तुओं की प्रतिकृतियाँ पश्चिमी कलाकृतियों में मिलती हैं। पेरिप्लस की निर्यात-सूची में जीवजन्तु शामिल नहीं हैं। पशु-उत्पादों में हाथी-दाँत, ऊन, खाल, रोआँ, रेशम, लाख, मोती, सितुवा, शंख, अस्थिकोष, कछुए की खोपड़ी, घी और कस्तूरी शामिल थीं। वर्जिल और होरेस ने भारतीय हाथी-दाँत का जिक्र किया है। हाथी-दाँत से बनी लक्ष्मी की एक प्रतिमा पोम्पई में पाई गई है जो कुषाणकालीन मथुरा शैली की है।

खानों की उपज से देश में प्रचुर विदेशी मुद्रा प्राप्त होती थी। रोम के लोग रत्नों के शौकीन होते थे और अधिकांश रत्न भारत से मँगाने पड़ते थे। हीरे और वैदूर्य (लहसुनिया) बड़े कीमती होते थे और इनका उल्लेख प्लिनी में, महाभारत

में और रुद्रदामन के जूनागढ़ शैल-लेख में हुआ है। भारत से निम्नलिखित पत्थरों का निर्यात होता था—अकीक, कार्नेलियन (cornelian), जीवाश्म (orict ?), स्फटिक (sard), निकोलो (nicolo), जमुनिया, शैलस्फटिक, दुधिया, माणिक्य, नीलम, तामड़ा, मरकत, लाजवर्द, तुरसावा, तुरमली, संगयराब आदि।

प्लिनी ने कहा है कि इस व्यापार में चालबाजी से काफी फायदा निकाला जाता था। निर्यात के लिए भारत के व्यापारी अन्य देशों से भी रत्न मँगाते थे। इस व्यापार में भारत का प्रतिद्वन्द्वी अरब था। प्लिनी का कहना है कि रत्न के उत्पादन में भारत बड़ा ही उर्वर देश था। उन्होंने विशेष रूप से गंगा और चिनाब का उल्लेख किया है, जहाँ रत्न पाए जाते थे, किन्तु इससे उनके सीमित ज्ञान का ही आभास मिलता है। भारत का लोहा और इस्पात पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से ही मशहूर थे। उत्तम स्तर का लोहा पश्चिम भेजा जाता था। इस व्यापार में आनेवाले बिचौलिये बड़ी गोपनीयता रखते थे। प्लिनी और पेरिप्लस ने सोने और ताँबे के निर्यात का जिक्र किया है।

सिन्ध में सात मुहाने थे। माल उज्जयिनी से भरुकच्छ लाया जाता था जो देश में भी बिकता था और बाहर भी भेजा जाता था। पेरिप्लस ने तमिल, गेदरोसिया, नहपान, शक, आभीर, चोल, शातकर्णि आदि का उल्लेख किया है तथा कच्छ के रान, सिन्धु-उज्जैन, भृगुकच्छ, सौराष्ट्र, नर्मदा (माही), गन्धार, कन्धार, पुष्कलावती, कश्मीर, हिन्दूकुश, दक्षिणापथ, पैठान, सोपारा, कल्याण, गोआ, कनानोर, कोट्टायम, कुमारी अन्तरीप आदि की भी चर्चा की है। उन्होंने देश के विभिन्न भागों की बन्दरगाहों की चर्चा की है जहाँ आयात और निर्यात दोनों होते थे।

साहित्यक स्रोतों और पुरावशेषों के सहारे हम यह जान पाए हैं कि कौन-कौन-सी वस्तुओं का व्यापार भारत और रोम-जगत् के बीच होता था। रोम के लेखकों के आधार पर तथा बचे हुए मोजेकों और रत्नों से ज्ञात होता है कि रोम में कम से कम तीन प्रकार के भारतीय तोते ज्ञात थे। रोम में भारतीय हाथी-दाँत की बड़ी माँग थी। रेशमी वस्त्र का प्रयोग खूब प्रचलित था। प्लिनी ने रेशम को अत्यधिक मूल्यवान् वस्तुओं की सूची में रखा है तथा सम्राट् औरेलियन ने तो यहाँ तक घोषित किया कि रेशम का मूल्य उसके बराबर तौल का सोना होगा। पश्चिम के साथ चीन के रेशम-व्यापार में भारत बिचौलिए का काम करता था। चीन से भेजा गया रेशम पश्चिम एशियाई महामार्ग से निकल कर दक्षिण की ओर जाते हुए सिन्ध के मुहाने और काम्बे की खाड़ी में पहुँचता था, ताकि वहाँ से पश्चिम

को निर्यात किया जाय। गन्ध-द्रव्य, मसाले और अन्य वनस्पति-उत्पाद व्यापार-सूची में असाधारण रूप से बढ़ते गए और एक प्राचीन तमिल काव्य में इसे 'यवनों की कामना' कहा गया है। रोम के कानून के एक निबन्ध ग्रन्थ (डाइजेस्ट) में अलग्जेंड्रिया में भारतीय इस्पात को शुल्कयोग्य वस्तुओं में गिनाया गया है। वारमिंगटन ने कहा है—"हमें आगस्टन साहित्य में मिलते हैं भारतीय सिंह, बाघ, गेंडा, हाथी और साप जो यदा-कदा ही प्रदर्शनी के लिए मँगाए जा चुके थे; भारतीय पालतू तोते, भारतीय हाथी-दाँत और कछुए की खोपड़ी, जिसका प्रयोग हर तरह के आभूषणों में होता था; पूर्व देश के मोती और चीन के रेशम, जो देश की सुन्दरियाँ पहनती थीं;......गन्धद्रव्य, मसाले, आदी, चीनी और अगर; ...नील रंग, वस्त्र के लिए कपास, फर्नीचर के लिए आबनूस की लकड़ी, भोजनार्थ चावल, भारतीय रत्नों का व्यापक प्रयोग आदि।"

रोम-साम्राज्य पर आर्थिक प्रभाव

इन निर्यातों का रोम के वित्त पर संगीन असर पड़ा। प्लिनी ने इसे अपने देश से धन का खिंचाव कहा है। भारत प्रतिवर्ष 22000 000 पाउंड रोमन धन खींच लेता था। टैसिटल के अनुसार आभूषणों की लोलुपता से साम्राज्य की सम्पत्ति पानी की तरह बह गई। डायन क्राइसोस्टोम के अनुसार विदेशियों ने रोम की प्रजा से जो कुछ पाया वह भूमि या पशु के जरिए नहीं, बल्कि उसकी मूर्खता के जरिए। सम्राट् टिबेरियस ने भी इस निरर्थक खर्च का विरोध किया था। रोम का धन परोक्ष रूप से उसके शत्रु पार्थिया और फारस को बल देता था। इन दोनों राष्ट्रों को भारत के साथ उसके आर्थिक इतिहास के विभिन्न कालों में व्यापार-सम्पर्क था। फारस पूरब और पश्चिम के देशों के बीच भारतीय माल का संवाहक था।

प्रथम शताब्दी ई० में ही, रोम को कई समस्याओं का मुकाबला हुआ। तरह-तरह की रोमन महिलाओं और उच्च वर्ग के लोगों के चलते भारतीय रत्न और मलमल की माँग अबाध रूप से बढ़ती गई। पूर्वदेशीय विलासिता की तृष्णा लगभग तीन शताब्दियों तक जारी रही। नीरो ने भी यह महसूस किया कि इस निर्बाध खर्च पर रोक लगाई जाए, किन्तु लगाए गए प्रतिबन्ध केवल आम प्रजा के लिए हुए, न कि अपने लोगों के लिए।

प्लिनी के अनुसार व्यापार में भारत का पलड़ा भारी था। रोम के सोने से बाहरी देश धनी होते थे और जो वस्तुएँ आती थीं, वे उनपर चुकाए गए सोने के अनुरूप नहीं होती थीं। प्लिनी ने पूरब से आनेवाली सभी वस्तुओं के बारे में कुछ और

वास्तविक लागत का निर्देश किया है। गिबन ने पूरब से आनेवाली वस्तुओं को चमकीला और निःसार बताया। पेरिप्लस के अनुसार सिक्के की अपार राशि दक्षिण भारत चली जाती थी। भारत से रोम में जो वस्तुएँ आती थीं, वे इतनी मूल्यवान् होती थीं कि रोम का पलड़ा बुरी तरह से नीचे रह जाता था।

आयात की वस्तुएँ

भारत से जितनी वस्तुएँ बाहर जाती थीं, उनकी तुलना में आयात की वस्तुएँ कम थीं। पेरिप्लस में उन वस्तुओं की सूची दी गई है जो पश्चिमी बन्दरगाहों से भारत आती थीं। तक्षशिला के उत्खनन से भी इस बारे में कुछ जानकारी मिलती है। डमस्क, साधारण दर्जे का वस्त्र, डमस्क की पेटी (कमरबन्द), मद्य, शिलारस (स्टोरैक्स), धूप और पपीरस पश्चिमी बन्दरगाहों से भारत आते थे। प्लिनी के अनुसार वस्त्र की वस्तुएँ अलेग्जेंड्रिया से आती थीं। मद्य इटली, अरब आदि देशों से आता था, किन्तु इटली का मद्य उत्कृष्ट होता था। शिलारस मिस्र और सीरिया से आता था। इससे दवा बनती थी। बनमेथी क्रीट, यूनान और इटली से आती थी। इसका उपयोग हार बनाने में भी होता था। प्लिनी के अनुसार बनमेथी का हार भारत से पुनः रोम को भेज दिया जाता था। अरब और पूर्व अफ्रीका से लोबान आता था। टार्न का कहना है कि पपीरस मँगाया जाता था, किन्तु हमें मालूम है कि भारतीय भोजपत्र का निर्यात होता था। भोजपत्र अभिलेख खोटान में पाए गए हैं। प्लिनी के अनुसार भारतवासियों को भूमध्यसागरीय लाल मूँगा बड़ा प्रिय था। यह ग्रह-दोष की शान्ति के लिए पहना जाता था। इसकी आपूर्ति सिसिली, सार्डिनिया, कोर्सिका, इटली समुद्र तट, स्पेन और उत्तरी अफ्रीका से होती थी। इसका आयात शताब्दियों तक होता रहा।

ताम्र, वंग और राँगे का आयात शक और सातवाहन राजा लोग अपने टकसालों के लिए करते थे। औषधीय द्रव्य अरब से मँगाए जाते थे। पेरिप्लस के अनुसार क्रिसोलिथोस नाम का एक रत्न पश्चिमी बन्दरगाहों से मँगाया जाता था। लाल सागर इस रत्न का स्रोत था। चुम्बक पत्थर (ऐम्बर) का भी आयात होता था। सोने और चाँदी के विदेशी सिक्कों के बदले स्थानीय सिक्के बट्टा काटकर दिए जाते थे। दक्षिण की तुलना में पश्चिम भारत के आर्थिक जीवन पर इसका कोई साफ असर नहीं दिखाई देता है। यवन-बालाओं का भी आयात होता था। पेरिप्लस के अनुसार, संगीतज्ञ रूपवती दास कुमारियाँ बेरिगाजा के बाजार में लाई जाती थीं। भास और कालिदास के नाटकों में तथा तमिल साहित्य में राजा के इर्द-गिर्द यदा-कदा यवन दिखाई पड़ते हैं। अरिकमेडु में रोम के भांडों, पात्रों और दीपों के भग्ना-

वशेष पाए गए हैं। कोल्हापुर के पास अकोला में तथा बड़ोदा के पास नेपचून की एक कांस्य-प्रतिमा और काँसे की सुराही पाई गई है तथा मिस्र-रोमन मृद्भांड के टुकड़े नेवासा में मिले हैं। पश्चिम के औद्योगिक उत्पाद की बिक्री डेकन के बाजारों में तथा मालाबार एवं कोरोमंडल के तटवर्ती क्षेत्रों के बाजारों में होती थी। तक्षशिला में भी पश्चिमी देशों में बनी वस्तुएँ पाई गई हैं।

आयात की वस्तुओं में शामिल थे वस्त्र, रेशा, पारदर्शक पत्थर, पीला ताँबा, कोमल ताँबा, लोहा, तेज चाकू, रेशमी परिधान, जरीदार सूती वस्त्र, पीले पत्थर, पुखराज, पोत, मूँगा, मद्य, पीतल, ताँबा, नेत्ररस, संगीत वाद्य, महल के लिए लड़कियाँ, गानेवाला लड़का आदि।

रोम-साम्राज्य के उत्पादनों की माँग भारत में अपेक्षाकृत कम थी, इसलिए व्यापार में रोम सदा घाटे में रहा; परिणामस्वरूप रोम के सोने और चाँदी के सिक्के भारी मात्रा में भारत को हाथ लगे। रोम की सुन्दरियाँ सात तह भारतीय मलमल से सुसज्जित होकर बाजार की सड़कों पर निकलती थीं तो नगरवासियों का दिल डोलने लगता था और इस संकेत को देखकर सेनेट को हस्तक्षेप करना पड़ा और भारत से ऐसे महीन वस्त्र के आयात पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। रोम के साथ व्यापार छठी शताब्दी ई० तक चलता रहा। शतरंज भारत से फारस पहुँचा था।

सिंहावलोकन

पाणिनि ने व्यापारियों को 'वणिक्' या 'वणिज्' कहा है। यह शब्द जाति का बोध बिना कराए बनिया का बोध कराता है। बनियों का नाम उनके व्यापार के स्वरूप के आधार पर होता था। 'वणिक्' वह कहलाते थे जो व्यापार में धन स्वयं लगाते थे। 'संस्थानिक' वे कहलाते थे जो वृत्तिसंघ के सदस्य होते थे। 'प्रास्तरिक' वे होते थे जो खनिज का व्यापार करते थे। वाणिज्य-वस्तु और वाणिज्य-स्थान के आधार पर भी उनका नाम होता था, जैसे अश्ववणिज्, गन्धारवणिज्, कश्मीरवणिज्, मद्रवणिज् आदि। वे देश के भीतर दूर-दूर प्रदेशों के व्यापार-केन्द्रों में सौदा करने जाते थे। वे देश के एक भाग से दूसरे भाग आया-जाया करते थे जिससे चलता व्यापार सूचित होता है। देशी और बाहरी दोनों व्यापारों का महत्व माना जाता था। बड़े आंगत्रपो (intrepot; माल को छेंकने के घर) पाए गए हैं और यह तभी सम्भव है, जबकि वणिक्जनों के पास समुद्री परिवहन के लिए भारी बेड़ा हो और स्थल मार्ग से परिवहन के लिए विशाल-विशाल कारवाँ हो।

धीरे-धीरे व्यापार का स्वरूप मात्रा और मूल्य दोनों में बदल गया। अब भारत तरह-तरह की वस्तुओं का निर्यात करता था, व्यापार में भारत

का पलड़ा अवश्य भारी रहा होगा। क्रय और विक्रय नियमबद्ध थे। 'युक्तिकल्पतरु' औद्योगिक उत्पादन विषयक संस्कृत ग्रन्थ है। भारतीय जहाजरानी इतनी विकसित थी कि यथा ज्ञात दूर स्थानों तक पहुँचती थी। व्यापार शहरी जीवन का सबसे प्रबल आर्थिक पहलू हो गया और इसमें राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो।

अर्थकर उद्योग—जैसे खान और नमक राज्य के नियन्त्रण में ले लिए गए। कभी-कभी तो राज्य सारे विदेश व्यापार को भी अपने हाथ में ले लेता था और आयातित माल का कड़े नियन्त्रण के साथ वितरण करता था; उदाहरणार्थ प्रथम शताब्दी ई० में पश्चिम के शकों को लें। शकों ने समुद्र पार व्यापार को न केवल अपने हाथ में लिया, बल्कि उसकी अपेक्षित सुरक्षा भी की। उन्होंने भृगुकच्छ को निरापद बन्दरगाह बनाया। राजा जल दस्युओं से भी व्यापार की रक्षा करता था। व्यापार के सम्बन्ध में निम्नलिखित कर उगाहे जाते थे :—

(1) शुल्क—चुंगी या कस्टम;
(2) वर्तनी—सड़क-कर;
(3) अतिवाहक—सवारी-कर;
(4) गुल्मदेय—बटमारों से रक्षा के लिए कर;
(5) तरदेय—घटवाही या तरणशुल्क;
(6) भुक्त—व्यापारियों और उनके अनुचरों के भोजन का खर्च; और
(7) भाग—मुनाफे में हिस्सा।

राज्य के अधिकारी इस पर नजर रखते थे कि विदेशी व्यापारी को कुछ सहूलियतें मिलनी चाहिए, किन्तु अपराध के मामलों में वे हरगिज छोड़े नहीं जाएँ। उनकी तिजारत और वैयक्तिक सुरक्षा का प्रबन्ध रखना होता था। आयात शताब्दियों तक जारी रहा। विदेशियों की देखभाल के लिए एक प्रशासकीय विभाग था। विदेश से माल लाने वाले नाविकों और वणिकों के प्रति अनुग्रह किया जाता था। विदेश व्यापार को बढ़ाने के लिए राज्य आयात-निर्यात पर नियन्त्रण रखकर खास तौर से प्रयास करता था। यह नीति काफी लम्बे अर्से तक चलती रही जैसा कि विष्णु सेन (592 ई०) की सनद से प्रमाणित होता है। विदेश व्यापार बढ़ाने के लिए छूटें भी दी जाती थीं।

अध्याय 10

वृत्तिसंघ-व्यवस्था (Guild-System)

वृत्तिसंघ-व्यवस्था का विकास प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास का एक रोचक प्रसंग है। इस व्यवस्था के उद्भव में हम देखते हैं कि यह मूलतः समान व्यवसाय वाले लोगों का आपसी जुटान मात्र था। बाद में व्यवसाय और शिल्प आनुवंशिक हो गए। पीछे चलकर ऐसे आनुवंशिक व्यवसाय में लगे व्यक्तियों के समूह ने अपने को संघ (निगम) का रूप देखकर उस व्यवसाय पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। स्थानबद्धता इन आर्थिक संघों का एक दृढ़ लक्षण थी। यह सामाजिक स्वतःप्रेरणा का प्राकृतिक परिणाम था। आर्थिक सिद्धान्त की दृष्टि से ये वृत्तिसंघ चार वर्गों में बाँटे जा सकते हैं :—

(1) अपनी पूँजी से चलाया गया संयुक्त वाणिज्यिक उद्यम (संघ);

(2) उन कुशल श्रमिकों (शिल्पियों) का संघ जो महाजनों से सामग्री पाकर वस्तु का उत्पादन करते थे और अपने-अपने उत्पादन के अनुपात में उनसे मजदूरी पाते थे;

(3) निम्न वर्ग के शिल्पियों का संघ;

(4) विभिन्न तबकों के भृत्यों तथा निम्नवर्गीय मजदूरों का संघ तथा

(5) कई तरह के व्यवसायियों, मजदूरों आदि का संघ।

सभी प्रकार के संघ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में बड़े महत्व की भूमिका अदा करते थे और राष्ट्रीय समृद्धि को बढ़ाने में सहायक होते थे।

निगमित (संघटनात्मक) जीवन का आरम्भ बहुत ही प्राचीन काल से मिलता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के **'गुण'** और **'व्रात'** शब्द संघात्मक क्रियाकलाप के सूचक हैं। **'गणपति'** **'गण'** का मुखिया होता था। रॉथ के अनुसार **'गण'** शब्द का प्रयोग वृत्ति संघ (गिल्ड) के अर्थ में होता था। शायद **'गण'** और **'पूग'** पर्यायवाची थे। पाणिनि ने **'गण'**, **'पूग'**, **'संघ'** और **'व्रात'** को एक साथ रखा है। कात्यायन के अनुसार वणिकों के संघ को **'पूग'** कहते हैं, ब्राह्मणों के संघ को **'गण'** तथा शिल्पियों के संघ को **'श्रेणि'**। पाणिनि ने **'आयुधजीविसंघ'** का उल्लेख किया है, जिससे **कौटिल्य ने 'क्षत्रियश्रेणि' कहा है।** आयुधजीविन् कौटिल्य के **'शस्त्रोपजीविन्' है।**

रामायण में 'श्रेणिमुख्य' का उल्लेख है और महाभारत में 'श्रेणिबल' का। प्राचीनतम निर्देश ऋग्वेद के 'पणि' में मिलता है जो व्यापारी के रूप में दल (कारवाँ) बनाकर निकलते थे तथा 'गृह्यसूत्रों' की 'पण्यसिद्धि' (अनुष्ठान) (जो वैश्य करते थे) का अर्थ है व्यापार में सफलता। श्रेणि, कुल, पूग, गण, जाति, व्रात, संघ, समुदाय, समूह, परिषत्, वर्ग, सार्थ, नैगम, सम्भूयसमुत्थान—ये सभी शब्द उद्योग, व्यापार और वृत्ति संघ के विकास से निकटतः सम्बद्ध हैं।

बहुत से वृत्तिसंघों का पता जातकों से चलता है। अठारह संघ तो उनमें स्वयं गिनाए जाते हैं। गौतम ने कर्षकों, व्यापारियों, पशुपालों, महाजनों और शिल्पियों के संघों का निर्देश किया है। गौतम के अनुसार अपने-अपने वर्ग के लिए उन्हें स्वयं नियम बनाने का अधिकार है। गौतम के अनुसार संघ को भी अपनी प्रभुता का श्रेय होता है। कौटिल्य ने भी संघ का उल्लेख किया है तथा कर्मकर, शिल्पी, बुनकर, धोबी, वणिक् आदि के विविध संघों का वर्णन किया है। अधिकतर शिल्पी स्वनियोजित होते थे और अपने ग्राहकों (गृहस्थों) के घर-घर जाते थे। शिल्पकर्म के संयुक्त उद्यम का सर्वाधिक प्रचलित प्रकार वह था जो श्रेणि के नाम से संघबद्ध रहता था। भारत की यह बहुत पुरानी संस्था है। बहुत से ग्रन्थों में शिल्पियों और व्यापारियों के संघटनों का उल्लेख मिलता है तथा मालिकों और मजदूरों के बीच सम्बन्धों का निर्धारण बौद्ध साहित्य में सुव्यवस्थित रूप से किया गया है; जैसे 'महावस्तु' (III. 442-43) में छत्तीस प्रकार के कर्मकरों का वर्णन है; 'मिलिन्दपञ्ह' में बहत्तर प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है; 'दीघनिकाय' (II. 50) में चौबीस प्रकार के व्यापार का उल्लेख है और जातकों में अठारह प्रकार के संघों का उल्लेख हुआ है : संगतराश, हाथी दाँत शिल्पी, कुम्भकार, बुनकर, रंगरेज, स्वर्णकार, चर्मकार, आखेटक, वधक, मछुआ, हलवाई, बहेलिया, रसोइया, नाई, माली, नाविक, वंशशिल्पी आदि।

प्राचीन भारत में उद्योग राज्य द्वारा या निजी प्रयास से संघटित होते थे। हमें 'राजशिल्पिन्' और 'राजकुम्भकार' का उल्लेख मिलता है। औद्योगिक संघटन को 'श्रेणि' कहते थे। बौद्ध साहित्य में ऐसे संघटन के अठारह प्रकार कहे गए हैं, किन्तु इन शिल्पों की प्रामाणिक परिगणना नहीं मिलती है। शायद अठारह शब्द परम्परानुसार स्थूलतः बहुत्व का सूचक है। संघ दोनों प्रकार के थे—औद्योगिक और वाणिज्य-सह-औद्योगिक; जैसे बुनकरों, कुम्हारों, जलयन्त्र बनाने वालों, तेलियों, ठठेरों, टोकरी बनाने वालों आदि के संघ।

विभिन्न व्यवसाय इस तरह सुसंघटित थे कि वे अपना नियम-कानून आप बनाते थे और अपने हिताहित को स्वयं देखते थे। संघ के सदस्यों की स्थिति समुन्नत थी। गौतम, वसिष्ठ आदि स्मृतिकारों ने कहा है कि प्रत्येक संघटन को अपने-अपने नियम हैं। पुग और संघ में सहकारिता का भाव है, किन्तु उनका महत्त्व आर्थिक से अधिक राजनैतिक एवं प्रशासनिक था। मनु (VII. 127-28) के अनुसार, शिल्पियों की स्थिति पर राजा को नजर रखनी चाहिए।

जैन और बौद्ध सम्प्रदायों ने भी संघों के विकास में मदद पहुँचाई है। जातकों से प्रकट होता है कि उद्योग और व्यापार पूर्णतः स्थानबद्ध हो गए थे और विभिन्न धन्धों का बहुत ही विशेषीकरण हो गया था। जैनों और बौद्धों के समतावादी सिद्धान्त को वणिकों और शिल्पियों का बड़ा समर्थन मिला और इससे उनकी शक्ति और सत्ता में वृद्धि हुई। इन असनातनी धर्मों से शिल्पियों और बणिकों को बड़ा हित हुआ। वृत्तिसंघ के दो नेता कोसल मात्रों में शामिल किए गए। राज सभाओं में भी वृत्तिसंघों के प्रतिनिधि लिए जाते थे।

जब मौर्यों के राज्यकाल में उद्योग और व्यापार का अधिकाधिक केन्द्रीकरण हो गया, उस समय में भी इनके संघटनों और सुविधाओं की मान्यता बरकरार रही। गौतम (XI. 21-22) ने इसकी पुष्टि की है। कौटिल्य ने कहा है कि श्रेणियों की रूढ़ियाँ और नियम-कानून जान लिए जाएँ और राजकीय पंजी में दर्ज कर लिए जाएँ। संघ, श्रेणि आदि नामों से पुकारे जाने वाले इस तरह के औद्योगिक एवं अन्य संघटनों को, जो धनवान् और बलवान् हो चुके थे, राजाओं और शासकों के हित में, लूटने-खसोटने की जोरदार प्रवृत्ति थी। मनु और याज्ञ-में श्रेणि, संघ आदि निकायों की रूढ़ियों को उसी तरह मान्यता दी गई है जिस तरह पूर्वकालीन धर्मसूत्रों में कानून की भाँति प्रचलित जातिगत एवं कुलगत रूढ़ियाँ मान्य कही गई हैं। अपनी-अपनी श्रेणि की रूढ़ियों को मानने का दायित्व उच्च नैतिक मान्यता से सम्पन्न है। श्रेणि धार्मिक एवं लोकोपकारी धर्मदायों के न्यासी (ट्रस्टी) के रूप में एक नई भूमिका भी करने लगी थी।

श्रेणि

श्रेणि ऐसे लोगों के निकाय को कहा गया है जो भले ही भिन्न-भिन्न जाति के हों या एक ही जाति के किन्तु एक ही व्यापार या उद्योग में लगे हों। इसे वणिकों, महाजनों और नर्तकों का संघ भी कहा गया। 'मनुस्मृति' में श्रेणि से, मेधातिथि की व्याख्या के अनुसार, अभिप्रेत है वणिकों का संघ या चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों का संघ। 'मिताक्षरा' के मत से श्रेणि ऐसे व्यक्तियों का समवाय है जो

किसी खास प्रकार की पुण्यवस्तु बेचकर या जो किसी खास प्रकार के शिल्पकर्म करके अपनी जीविका चलाते हों। इनमें एकात्मता लाने का सूत्र था समान व्यव-साय। नारद ने इस पद का प्रयोग प्रतिष्ठित वणिकों की सभा तथा व्यापारियों आदि की मंडली के अर्थ में किया है। कौटिल्य ने इसका प्रयोग कामगारों के तथा सहकारिता के आधार पर काम करनेवालों के संघ के अर्थ में किया है। विज्ञानेश्वर ने पूग और श्रेणि के बीच यह अन्तर बताया है कि पूग का आधार समान स्थान का निवासी होना है, भले ही उसकी जाति और वृत्ति एक हो या भिन्न-भिन्न; किन्तु श्रेणि निश्चित रूप से एक व्यवसाय में लगे लोगों का संघटन है; भले ही वे विभिन्न जातिवाले हों, किन्तु उन्हें किसी एक जाति के व्यवसाय में लगा होना चाहिए। उन्होंने श्रेणि का उदाहरण दिया है—बुनकरों, चर्मकारों और पान वालों का संघ। 'स्मृतिचन्द्रिका' में बताया गया है कि जब श्रेणि आदि समूह किसी मामले का फैसला ऐकमत्य से नहीं कर सकें तब एक कार्य-समिति बना देनी चाहिए जिसमें दो, तीन या पाँच कार्यचिन्तक और हितवादी रखे जाएँ।

श्रेणि और पूग वाणिज्यिक और औद्योगिक संघ के रूप में चलते थे। श्रेणि समान शिल्प में लगे व्यक्तियों की सभा है; कामगारों या आयुधजीवियों का संघ है; या कृषि, व्यापार और सैनिक सेवा में लगे सौराष्ट्र, काम्बोज और क्षत्रियों के समुदाय हैं। इसने कर्म पर आधारित जाति की प्रथा को मजबूत किया। पूग याज्ञवल्क्य और नारद की टीका करनेवालों के अनुसार शिल्पियों या व्यापारियों का संघ है। बृहस्पति के अनुसार, संघबद्ध होने की सबसे पहले प्रेरणा अराजकता या असुरक्षा की भावना से मिली। कौटिल्य के अनुसार व्यापार विरल रहते थे; इसलिए स्वभावतः संघ ही उनकी शक्ति था। (1) गन्धवणिक् को नगर के पूरब बसाया जाए, (2) सिद्ध अन्न (भारत) के व्यापारी को दक्षिण दिशा में, (3) शिल्पियों और शूद्रों को पश्चिम दिशा में और (4) स्वर्णकारों और ब्राह्मणों को उत्तर दिशा में। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि नगरनिवेश का यह नक्शा, जो कौटिल्य ने दिया है, अग्निपुराण और मयमत के अनुकूल नहीं है। वाराणसी में हम सड़कों का नाम-करण भी शिल्प के नाम पर पाते हैं।

वृत्तिसंघ आर्थिक विकास की उन्नत अवस्था का लक्षण है। पुरालेखीय स्रोतों में हमें वास्तुकारों, कमारों, सुनारों, गन्धियों, नाइयों, रंगसाजों आदि के संघों के निर्देश मिलते हैं। व्यापारियों के संघ कारवाँ चलाते थे। 'हरिवंश' के एक श्लोक मे विविध संघों की दूकानों का वर्णन है। कालिदास ने वास्तुकारों के संघ का उल्लेख किया है। उन्होंने वृत्तिसंघ के अर्थ में 'नैगम' शब्द का भी प्रयोग किया

है। 'बृहत्संहिता' और 'बृहज्जातक' में भी वृत्तिसंघ का उल्लेख है। जयनाथ और सर्वनाथ आदि राजा शिल्पियों का आदर करते थे। औद्योगिक संघों के प्रमुखों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। विजयसेन के देवपाड़ा अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि वारेन्द्र के शिल्पियों के प्रमुख शूलपाणि को राजा से 'रानक' की पदवी मिली थी।

वृत्तिसंघ स्वतन्त्र होते थे और उनकी अपनी नियमावली (शासन) होती थी। किसी संघ में शामिल शिल्पी को उस संघ का शासन मानना पड़ता था और आवश्यकता पड़ने पर संघ अपने सदस्यों की हित रक्षा के लिए खड़ा होता था। कालक्रमेण संघ जटिल होते गए। शिल्पियों के संघों ने पूर्वकालीन भारत के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और राज्य ने कार्यकलाप को अपने नियन्त्रण में लाने की कोशिश की। संघ स्वतन्त्र व्यक्तियों के साथ ठीका करता था और केन्द्रीय सत्ता के साथ भी करार करता था। राज्य ने संघों के कार्यकलाप को अपने नियन्त्रण में करने के उद्देश्य से संघों को पंजीयन कराने के लिए बाध्य किया और आदेश जारी किया कि अधिकारी को सूचना दिए बिना कोई वृत्तिसंघ देश के एक भाग से दूसरे भाग में अपना स्थानान्तरण नहीं कर सकता है। वृत्तिसंघों की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि कौटिल्य भी उनकी उपेक्षा न कर सके और उनके सदस्यों के लिए विशेषाधिकारों का विधान किया (II. 4)। राजा को सलाह दी गई कि संकट के समय वृत्तिसंघों से ऋण लिय जाए (V. 2)। मनु (VIII. 41) और याज्ञवल्क्य (II. 193) में कहा गया है कि राजा को वृत्तिसंघों के नियमों का आदर और पालन करना चाहिए; उनकी सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए।

वृत्तिसंघों के तीन मुख्य लक्षण थे—(1) एक वयोवृद्ध व्यक्ति का मुखिया होना, (2) व्यवसाय का आनुवंशिक होना तथा (3) उद्योग का स्थानबद्ध होना।

वृत्तिसंघ का मुखिया राजसभा का एक महत्त्वपूर्ण मन्त्री होता था। वृत्तिसंघ का मुखिया 'प्रमुख' या 'जेठक' कहलाता था। व्यक्तियों और कुलों का उल्लेख अक्सर आनुवंशिकता के आधार पर संघटित उनकी परम्परागत जीविका के बोधक शब्दों के साथ मिलता है।

वृत्तिसंघ विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका तीनों के कृत्य करते थे तथा सदस्यों और उनकी पत्नियों के बीच उठे विवादों को दूर करने में पंच का काम भी करते थे। गौतम (XI. 21) ने उनके विधायिका कृत्य (कानून बनाने के काम) का निर्देश किया है। इस अर्थ में वृत्तिसंघ एक हितैषी संस्था है और इसका लम्बा इतिहास है। यह व्यवसायियों का हित देखनेवाला और होड़ को रोकने

वाला संघटन है और इस दृष्टि से यह अध्ययन का रोचक विषय है। आदर्श नगर-निवेश (टाउन प्लैनिंग) में वृत्तिसंघों के लिए एक अलग स्थान सुरक्षित रहता है।

वृत्तिसंघों का अस्तित्व 600 ई० पू० से 1000 ई० तक सोलह सौ वर्षों में व्याप्त लक्षित होता है। नगरों में इनके लिए स्थान भी सुरक्षित रहते थे। व्यापार-संघ लोगों के आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलू थे। कौटिल्य (V. 2) कहते हैं कि प्रश राजा इनका शोषण करते हैं। श्रमिकों के संघ अपनी कमाई अपने सदस्यों के बीच समान अंशों में या आपसी करार के अनुसार बाँटते थे। वृत्तिसंघों के विश्वासपात्र तीन आयुक्त नियोजित रहते थे जो उनकी थाती रखते थे। थातियाँ संकट की घड़ियों में वापस की जाती थीं। वृत्तिसंघ में शामिल वणिकों को विशेष सुविधाधिकार दिए जाते थे। उनके बीच आपस में होनेवाले अदालती मामलों में राज्य की ओर से विशेष रियायतें और मान्यता दी जाती थीं। संयुक्त स्टाक कम्पनियाँ और व्यापारी-परिषदें भी थीं। उद्योग की सभी महत्त्वपूर्ण शाखाएँ संघबद्ध थीं। वृत्तिसंघ स्वायत्त निकाय होते थे, उनके अपने नियम, विनिमय और उपविधियाँ होती थीं, जिन्हें वस्तुतः राज्य की स्वीकृति और मान्यता मिलती थी। विवादों का निबटारा उनकी अपनी परिषदें करती थीं, किन्तु उनके विफल होने पर राजकीय न्यायाधिकरण से कराया जाता था।

जातकों के परम्परानुसार अट्ठारह वृत्तिसंघों में शामिल थे—स्वर्णकार, परिधान निर्माता या विक्रेता, रत्नों पर सान चढ़ाने वाला, गन्धी, तैलिक, घृतभांड निर्माता, गुड़ निर्माता, दही जमानेवाला, वस्त्र बुननेवाला, खाँड़ (मिसरी) और मिठाई बनानेवाला, आटा बेचनेवाला, जौ-गेहूँ पीसनेवाला, कन्दमूलफल बेचनेवाला, खाद्यवस्तु बेचनेवाला आदि। उत्कीर्णलेखों से निम्नलिखित सूची निकलती है—बुनकर, कुम्भकार, जलयन्त्रकार, मध्यकार, वंशशिल्पी, ठठेरा, तेली आदि।

विभिन्न वृत्तिसंघ भी एक सामान्य प्रमुख के अधीन, जो 'भांडागारिक' कहलाता था, अपना महासंघ बनाते थे।

वणिक्-संघ सेट्ठियों के अधीन होते थे। कई सेट्ठी और अनुसेट्ठि मिलकर एक महासेट्ठि के अधीन संघटित होते थे (अनाथपिंडक एक ऐसा ही महासेट्ठि था)। सार्थ (कारवाँ) का भी एक प्रमुख होता था। वणिक्संघ में सेट्ठि का ऊँचा स्थान होता था। महासेट्ठि राजकीय अधिकारियों में एक प्रमुख पुरुष होता था। श्रेष्ठिपुरोग (सेट्ठियों का अगुआ) भी राजकीय अधिकारियों में विशिष्ट पुरुष माना जाता था। कारवाँ-व्यापार का भी एक सहकारी संघटन होता था जिसका कप्तान सार्थवाह

कहलाता था। इससे **'थलनियामक'** (स्थलमार्गदर्शक) और **'जलनियामक'** (समुद्री रास्ता दिखानेवाला) भी होते थे। साझेदारी भी विदित थी। संघ के प्रधान **'जेठक'** को कानूनी मान्यता प्राप्त थी और उनके आदेश का पालन करना लाजिमी था। सदस्यों में उनका सम्मान होता था।

महाभारत और रामायण में वृत्तिसंघ को राजा की शक्ति का एक मुख्य अवलम्ब माना गया है। वृत्तिसंघों के प्रधानों के बीच फूट डालना या उन्हें राज-विद्रोह के लिए उकसाना शत्रु को दुर्बल करने का एक साधन माना गया है। मनु ने कहा है कि वृत्तिसंघों के आचार (रूढ़ि) कानून की भाँति मान्य हैं। संघों की विशेष निष्ठता (स्पेशलाइजेशन) के फलस्वरूप व्यापार और उद्योग में पर्याप्त दक्षता आई। राजा इन संघों के नियमों के प्रतिकूल कोई नियम नहीं बना सकता था। राजा के विशेष ध्यान देने योग्य विषयों में पुरोहित के बाद संघ-प्रमुखों का ही स्थान है। ये संघ कितने शक्तिशाली होते थे, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इनमें राजा को उपदेश दिया गया है कि वे घूस देकर या फूट डाल कर शत्रुराष्ट्र के वृत्तिसंघों को चकमा दें, क्योंकि निगम की रक्षा संगठन में ही निहित है।

गुप्त-काल में आकर वृत्ति-संघ प्रबल शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। देश के आर्थिक जीवन में इनकी भूमिका बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हो चुकी थी। नारद ने कहा है—"राजा को श्रेणि आदि निगमों की रूढ़ियाँ माननी चाहिए (X. 2-2)"; "जो संघ के सदस्यों के बीच फूट डालें उन्हें कड़ी सजा मिलनी चाहिए, (X. 6)। याज्ञवल्क्य के अनुसार जो कोई संघ की सम्पत्ति चुराए या संविद-व्यतिक्रम (किए गए करार का भंग) करे उसे देश से निकाल दिया जाए और उसकी सारी सम्पत्ति जब्द कर ली जाए (II. 186-192)। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि संघ सामूहिक सम्पत्ति रख सकता है। जैसे आज संघों के लिए आर्टिकिल्स ऑफ एसोसिएशन (संस्था-नियमसंहिता) बनता है, उसी तरह ये संघ अपने नियम-विनिमय स्वयं बनाते थे।

नारद ने **'समय'** (रूढ़ि) का उल्लेख किया है (X. 1) और कहा है कि (संघ के) नियम-कानूनों द्वारा अपेक्षित (सामयिक) कर्तव्यों का यत्नपूर्वक पालन अवश्य किया जाए। कुछ पवित्र और धर्मनिष्ठ व्यक्ति कार्यपालक अधिकारी के रूप में नियुक्त होते थे और वे अवसर उन संघों ?) के नाम से न्यायालय में उनका कार्य-सम्पादन करते थे और वहाँ बड़ा आदर पाते थे; संघ के सदस्यों पर उनका कार्यपालन अधिकार रहता था और उनके निर्णय के विरूद्ध जानेवाले सदस्य को वे

दंडित कर सकते थे; लेकिन वे स्वयं संघों के नियम-कानूनों और रूढ़ियों से बँधे रहते थे और यदि वे अपनी शक्ति के प्रयोग में उनका उल्लंघन करते थे या उनके बीच मतभेद हो जाता था तो राजा को हस्तक्षेप करना पड़ता था और राजा दोनों पक्षों को सत्पथ पर ले आते थे। मित्रमिश्र के अनुसार याज्ञवल्क्य (II. 187) का संकेत 'मुख्य' की ओर है जिसमें उदाहरण के तौर पर यह दिखाया गया है कि संघ अपने सदस्य को तथा प्रमुख को भी दंडित कर सकता है। संघ-विरोधी कार्य करने पर वे अपने पद से हटा दिए जा सकते थे। मित्रमिश्र के अनुसार राजा को हस्त-क्षेप तभी करना है, जब संघ अपने कार्यपालक अधिकारी को दंड न दे सके। नारद (X. 4. 6) के अनुसार राजा को विभिन्न संघों के बीच आपस में सन्धि करने पर रोक लगानी चाहिए। राजा को ऐसे कामों पर रोक लगानी चाहिए जो उसकी इच्छा के विरुद्ध हो अथवा निन्द्य या अनैतिक ढंग का हो। इस तरह राजा को कुछ विशेष स्थितियों में ही हस्तक्षेप करना है; अन्य स्थितियों में संघ स्वतन्त्र होते थे और राजा को उनका निर्णय मानना पड़ता था।

नारद के अनुसार संघ में सदस्यों की उपस्थिति के नियम विधिवत निर्धा-रित थे और वे राजा से अनुमोदित थे। संघ के कार्य-संचालन के लिए वृत्तिसंघ का एक भवन होता था। सदस्यों की उपस्थिति आह्वान ढिंढोरा पीटकर किया जाता था। वृत्तिसंघों को अपने सदस्यों पर न्यायिक शक्ति भी रहती थी। वृत्ति-संघों में ऐसे ही मामले रखे जाते थे जिनसे उनके कारबार पर असर पड़नेवाला होता था। वृत्तिसंघ (गण, श्रेणि, पूग, कुल) के अपने सामान्य न्यायालय होते थे जिनके निर्णय के विरुद्ध उत्तरोत्तर न्यायालय में अपील की जा सकती थी। वृत्तिसंघ राज्य के ढाँचे का अंग ही नहीं माना जाता था, बल्कि उसकी सत्ता को राज्य भी मानता था। वृत्तिसंघ का देश के सामान्य न्यायाधिकरणों में भी भाग रहता था।

वृत्तिसंघ की कार्यपालिका सभा में एक अध्यक्ष और उनकी सहायता के लिए दो, तीन या पाँच सदस्य होते थे। स्कन्दगुप्त (465 ई०) के इन्दौर ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि जीवन्त तैलिकों के संघ का प्रमुख था। मातृदास भी गढ़-वार में ऐसा ही एक प्रमुख था। संघ के अधिकारी अपराध करनेवाले सदस्यों को हल्के निन्दन से निष्कासन तक का दंड दे सकते थे। राजा संघ के निर्णय को काट सकता था। संघ द्वारा दंडित व्यक्ति को यदि संघ का निर्णय संघ-नियमों के प्रति-कूल मालूम होता था तो वह राजा के पास अपील कर सकता था। संघ के कानूनों से किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय न हो, इसकी व्यवस्था भली-भाँति की जाती थी। मतभेद के मामलों में भी राजा हस्तक्षेप करता था। विरुद्ध प्रकृति के कई वृत्ति-

संघों के सम्मिलन पर भी राजा रोक लगाता था। संघटन में गणतान्त्रिक रंगढंग का होना वृत्तिसंघों का एक खास वैलक्षण्य था। हर वृत्तिसंघ का एक संरक्षक देवता होता था।

श्रेणि (गिल्ड), पूग (वणिक्-समवाय), और नैगम (नगर के विविध निवासियों का संघटन) गुप्त-काल में खूब समुन्नत थे, जैसा कि स्मृतियों से तथा कई स्थानों में हुए पुरातात्त्विक उत्खननों से पता चलता है। श्रेणि का प्रधान एक कार्यपालक अधिकारी होता था। इसमें प्रशासन का विकेन्द्रीय भारी मात्रा में निहित था। निगम, श्रेणि और पूग की रूढ़ियों का पालन करना राजा का कर्त्तव्य था और संघ के सदस्य-अपने संघ की रूढ़ियों या नियमों का पालन करने के लिए उनसे अविरूद्ध राज्यादेश को मानने के लिए बाध्य होते थे। बसाढ़ और भीट के सीलों में श्रेष्ठि-कुलिक-निगम और श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम-अंकित है।

(1) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम,
(2) श्रेष्ठि-कुलिक-निगम,
(3) श्रेष्ठि-निगम,
(4) कुलिक-निगम,
(5) प्रथम-कुलिक।

बसाढ़ में हमें महाजनों, व्यापारियों और करवाँ-संचालकों के संयुक्त वृत्तिसंघ के दो सौ चौहत्तर सील मिले हैं, जिसके सदस्य उत्तरी भारत के बहुत-सारे नगरों और शहरों में फैले हुए थे। इनमें से अधिकतर सीलों पर महाजनों, व्यापारियों और वणिकों के निगम या संघों का निर्देश है। सीलों से यह सूचित होता है कि ये वणिकों और शिल्पियों के संघ द्वारा किसी वाणिज्यिक कारबार के लिए बनाए गए थे। सील में उन पत्रों का संकेत है जो इस विशाल संघटन की विभिन्न शाखाओं से वैशाली के प्रान्तीय शासन को प्राप्त हुए थे। चूँकि इस विशाल संघ की शाखाएँ कई नगरों में थीं, अतः इसके सील के द्वितीयक प्रतिरूप कई स्थानों में रहे होंगे। इसलिए स्वभावतः यह आवश्यक समझा गया कि सामान्य सील का व्यवहार इसकी हरेक स्थानीय शाखा के अध्यक्ष या सचिव के सील के साथ किया जाए, ताकि इसका पत्र प्रामाणिक समझा जाए। कई मामलों में ईशानदास, मातृदास और गोमिस्वामिन के सील पाए गए हैं जिससे लक्षित होता है कि वे या तो अध्यक्ष रहे होंगे या सचिव। इन संघों की शाखाएँ स्थानीय मन्दिरों का प्रबन्ध-कार्य भी करती थीं। इन संघों की भारी ख्याति और प्रतिष्ठा थी और ये अक्सर

महान् गुप्त सम्राट् के युवराज के सचिवालय के साथ मिलजुल कर कारबार में संलग्न होते थे। बिहार प्रस्तर स्तम्भ अभिलेख (478-79 ई०) में एक ऐसी नगर परिषद् का उल्लेख है जिसका प्रधान पुंड्रवर्धन के वणिकों का संघ-प्रमुख था। वैशाली सीलों की बहुतायत से यह सिद्ध होता है कि देश के आर्थिक जीवन में वृत्ति-संघों की कितनी बड़ी भूमिका थी और वे कितने अधिक पत्राचार करते थे।

वृत्तिसंघ : बैंक की भूमिका में

वृत्तिसंघ महाजनी (बैंकिंग बिजिनेस) भी करते थे। कौटिल्य ने वृत्तिसंघों की उपनिधि (निक्षेप डिपोजिट) का उल्लेख किया है। तक्षशिला के वणिक्-संघ सिक्के बनाते थे। महत्त्वपूर्ण व्यापार-केन्द्रों में संघों में ये संघ बैंक-संस्था की भाँति काम करते थे। संघ मन्दिर आदि को दिए गए दानों के न्यासी के रूप में भी काम करते थे। नासिक अभिलेख से स्पष्ट पता चलता है कि प्राचीन काल के वृत्तिसंघ बैंक के रूप में काम करते थे। इस अभिलेख से इस बात पर रोचक प्रकाश पड़ता है कि ये संघ जनता की सेवा किस प्रकार आधुनिक बैंकों की तरह करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त ने तरह-तरह के कामों में वृत्तिसंघ के बैंकों का उपयोग किया था। वृत्तिसंघ कोषागर-कार्यालय के रूप में भी काम करता था और कर तहसीलने के लिए प्राधिकृत था। कनिंघम का मत है कि वणिक्-संघ अपने सिक्के भी चलाते थे।

वृत्तिसंघ व्याज का नियमित भुगतान स्वीकार करके स्थायी निक्षेप (डिपा-जिट) भी लेता था। ऐसा निक्षेप दाता लोग धर्मदाय (एंडोमेंट) के रूप में करते थे और वृत्तिसंघों को यह भार रहता था कि वह दाता के अभिप्रेत कार्यविशेष के निमित्त उस निक्षेप की रक्षा करे। बैंकिंग संस्था के रूप में वृत्तिसंघ की बड़ी प्रतिष्ठा थी। वृत्तिसंघ की बैंकिंग शाखा नकद न देकर वस्तु देती थी और संघ की यह भूमिका ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक चलती रही। उसवदत्त के उत्कीर्णलेख में गोवर्धन स्थित बुनकरों (तन्तुवायों) के दो संघों का उल्लेख है जिसमें व्याज चुकाने का करार किया गया है। दक्षिणभारतीय उत्कीर्णलेखों सभाएँ और ऊर निक्षेप ग्रहण करते थे और उसके व्याज से प्रतिज्ञात अभीष्ट कार्य करते रहते थे। ये सभाएँ बैंक की भाँति चलती थीं। इनके सारे कारबार नैगम सभा में घोषित किए जाते थे और बहियों में दर्ज किए जाते थे।

हुविष्क (119 ई०) के वर्ष 28 के मथुरा-उत्कीर्ण लेख में यह उल्लिखित है कि 550 पुराणों के दो धर्मदास समितकारों (आटा पीसने वालों) और अन्न-वनिकों

(corn dealers) के संघों के पास बाल्ख के एक विदेशी ने ब्याज से ब्राह्मण भोजन कराने के निमित्त निक्षिप्त किया। स्कन्दगुप्त के बिहार प्रस्तरस्तम्भ अभिलेख में एक वृत्तिसंघ को स्थायी धर्मदास न्यस्त किए जाने का उल्लेख है। नासिका में रोगियों की चिकित्सा के लिए कई वृत्तिसंघों को धर्मदास न्यस्त किए जाने का निर्देश मिलता है। मन्दसोर का एक बुनकर संघ मन्दिर के निर्माण और जीर्णोद्धार का काम अपने हाथ में लेने में समर्थ था। स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि देवविष्णु नामक एक ब्राह्मण ने तैलिकों के संघ को एक सूर्य-मन्दिर में अखंड दीप जलाने के निमित्त कुछ धन निक्षिप्त किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी सत्र (भिक्षा-गृह) चलाने के वास्ते धर्मदाय के रूप में दीनार न्यस्त किए थे और उनके पुत्र कुमारगुप्त ने भी अपने पिता का अनुकरण किया। रेशम बुनकरों के एक संघ ने एक विलक्षण सूर्य-मन्दिर बनवाया (437-38 ई०), जो कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर अभिलेख से ज्ञात होता है। वृहस्पति ने वृत्तिसंघों के महाजनी कारबार के अतिरिक्त धार्मिक एवं लोकोपकारी कार्य-कलापों का भी विशेष रूप से निर्देश किया है। ये संघ दान भी करते थे।

वृत्तिसंघों के पास निक्षेप विधिवत् करारपत्र लिखकर किया जाता था जिसमें निक्षेप की सभी शर्तें लिखी रहती थीं। ये संघ अपने सामवायिक हैसियत से सामाजिक आयोग को अपने हाथ में लेते थे, जैसे सभा-भवन, प्रपा (प्याऊ), मन्दिर, तड़ाग, आराम का निर्माण, निर्धनों को उनके संस्कार-कर्मों में सहायता आदि। वृत्तिसंघों का महाजनी (बैंकिंग) कारबार लम्बे अर्से तक चलता रहा और नौवीं शताब्दी ई० के एक उत्कीर्ण लेख में उल्लेख है कि एक नमक के व्यापारी ने कल्लपाल (कलालखाना, मद्य निर्माणशाला के संचालक) और उसके मुखिया महत्तक के पास 1530 द्रव्य न्यस्त किया। कामन प्रस्तर अभिलेख (ए इ—XXIV. 329 और आगे) में लिखा है कि अमुक-अमुक प्रयोजनों के लिए ये दान निक्षिप्त किए जाते हैं। इस प्रकार के एक उत्कीर्णलेख में कहा गया है कि कुम्भकारों के संघों ने अमुक-अमुक रकम अग्रिम प्राप्त की। मालियों, शिल्पियों आदि के ऐसे संघ भी बैंक की भाँति कारबार करते थे।

वृत्तिसंघों की स्वायत्तता और सत्ता जितनी ही वास्तविक थी, उतनी ही विधि-सम्मत भी। वे राजकीय शक्ति का एक प्रबल अवलम्ब थे और कुछ सार्वजनिक कार्य भी करते थे। इन बातों से हमें ऐसी धारणा होती है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की चहल-पहल में इस वृत्तिसंघ-प्रथा का धीरे-धीरे विकास-विस्तार और दृढ़ीकरण होता गया है; इसमें कुछ क्षेत्रीय अन्तर आएँ, यह तो स्वाभाविक ही है। निगमों

के प्रशासनिक कार्यकलाप में मुख्य हाथ शक्तिशाली व्यापारी संघों और शिल्पिसंघों का रहता था। गुप्तकाल में वृत्तिसंघों की चहल-पहल उत्तरोत्तर बढ़ती रही और उनका महत्त्व इस बात से महसूस किया जा सकता है कि नारद और बृहस्पति दोनों ने उनके लिए विशेष तौर से नियम निर्धारित किए हैं। उन्हें आर्थिक आवश्यकता के हित में वासान्तरण (अपना मुख्यालय एक जगह से दूसरी जगह ले जाने) की पूरी छूट थी। मन्दसोर उत्कीर्ण लेख से हमें ज्ञात होता है कि रेशम बुनकरों का एक वृत्तिसंघ सामूहिक रूप से लाट देश (नर्मदा प्रदेश) को छोड़ दशपुर देश (मन्दसोर) जा बसा। कुछ सदस्यों ने अपनी वृत्ति सैनिक सेवा बदलकर ज्योतिष के व्यवसाय को अपना लिया। फिर भी उन्होंने अपनी आन्तरिक एकता और संघबद्धता को खोया नहीं और पूर्ववत् उनका संघ रेशम बुनकर संघ कहलाता रहा। वे लोग उस स्थान के राजा के गुणों से आकृष्ट होकर उनके पास आए और उन्होंने धनुर्विद्या (तीरन्दाजी) सीखी, कुछ लोग धर्मात्मा हो गए, कुछ ज्योतिषी और खगोलशास्त्री हो गए, कुछ कवि हो गए, कुछ संन्यासी हो गए और कुछ अपनी परम्परागत वृत्ति रेशमवस्त्र-बुनाई पर टिके रहे। इस वृत्तिसंघ ने दशपुर में 436 ई० में एक सूर्य-मन्दिर बनवाया। 472 ई० में इसका जीर्णोद्धार हुआ। इस उत्कीर्ण लेख से प्रकट होता है कि ये वृत्तिसंघ यथापूर्वानुगामी दीवार बन्द अपने व्यवसाय में ही लीन निगम नहीं होते थे, बल्कि देश के नियम-कानून द्वारा प्रदत्त अपनी स्वायत्तता और स्वतन्त्रता के जरिए अपने को शक्ति का केन्द्रबिन्दु एवं उदार संस्कृति तथा प्रगति का पीठ बना लिया और इस प्रकार वे समाज की एक शक्ति और अलंकार के रूप में निखर उठे, स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र अभिलेख से भी उन संघों के लचकदार स्वरूप और आन्तरिक बल का आभास मिलता है।

कुम्हरार में मिले एक सील से प्रकट होता है कि गुप्तकाल में तमोलियों का एक संघ था। एक अन्य उत्कीर्णलेख में भी तमोलियों के एक संघ और उसके मुखिया तम्बोलिकहर का उल्लेख है। कभी-कभी जाति और वृत्ति का मेल टूटता भी देखा गया है; उदाहरणार्थ हमें क्षत्रिय तैलिक का उल्लेख मिलता है और एक गन्धी को माथुर जाति का पाते हैं। नौवीं शताब्दी ई० के कामन उत्कीर्णलेख में वास्तुकार (स्थपति) के दो संघों और कुम्भकार के एक संघ का उल्लेख है। उसी अभिलेख में शंखशिल्पियों का भी उल्लेख है। ग्वालियर के एक उत्कीर्ण लेख (एइ—I. 159) में 877 ई० में श्रेष्ठियों के संघ और सार्थवाह का उल्लेख है। सार्थवाह एक बनजारा व्यापारी होता था जो आन्तरिक व्यापार के लिए तथा बाह्य वाणिज्य के लिए भी दल बनाकर चलता था। वह घुमन्तू वर्ग होता था और

सार्थवाहजेठक या प्रमुख के मार्गदर्शन में चलता था। एक अन्य उत्कीर्ण लेख (एइ—I. 184) में घोड़े के व्यापारियों के एक महत्त्वपूर्ण संघ का उल्लेख है तथा एक और उत्कीर्ण लेख (एइ—II. 166) में भी घोड़े के व्यापारियों के संघ की चर्चा है। स्यादोनी उत्कीर्ण लेख (एइ—I. 167) में तमोलियों, तेलियों और संगतराशों के एक संघ के दानों का उल्लेख है। आखेटकों (शिकारियों) के एक संघ का उल्लख कारीतलाई प्रस्तर अभिलेख (एइ—II. 174) में हुआ है। अलबरूनी ने बहेलियों, चमारों, ऐन्द्रजालिकों, टोकरी और ढाल बनाने वालों का उल्लेख उन आठ वर्गों के लोगों में किया है जिनका अपना-अपना वृत्तिसंघ था। वे आर्थिक रूप से तथा सामाजिक रूप से भी सुसंघटित थे और अन्त्यज कहलाते थे।

मनु के दसवीं शताब्दी के टीकाकार ने शिल्पियों, व्यापारियों, साहूकारों और सारथियों के संघों का उल्लेख किया है जिनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति अच्छी थी। विजयसेन के देवपाड़ा अभिलेख (एइ—I. 311) में वारेन्द्र स्थित संगतराशों के एक संघ का उल्लेख हुआ है। हरेक वृत्तिसंघ का एक-एक अलग-अलग संरक्षक देवता होता था। श्रेणि का अर्थ मेधा तिथि के अनुसार वणिकों, शिल्पियों और साहूकारों का संघ है और गोविन्दराज के अनुसार वणिकों और कर्षकों का संघ है और नारद के अनुसार वणिकों और नटों का संघ है (मनु VIII. 41; नारद I. 77)। श्रेणि ऐसे व्यक्तियों का संघ है जो समान प्रकार की वृत्ति से अपनी जीविका चलाते हैं। वृत्ति आनुवंशिक थी और सुलेमान के अनुसार वृत्ति जाति से कभी विलग न हुई। वृत्तिसंघों का सम्बन्ध सरकार के साथ वैसा ही रहा जैसा औद्योगिक संघों का। वृहस्पति के अनुसार, संघ के वित्त में अलग-अलग सदस्यों के अंशदान, राजा से मिले अनुदान, अर्जित लाभ और जुरमाने से हुई आय शामिल रहते थे। बदामी के पश्चिमी चालुक्य के विक्रमादित्य के लक्ष्मीश्वर उत्कीर्णलेख (एइ—XIV. 190) से ज्ञात होता है कि ठठेरियों के संघ को राज्य ने प्रजा से कर तहसीलने के लिए प्राधिकृत किया था।

नारद और वृहस्पति की स्मृतियों से प्रकट होता है किस प्रकार धीरे-धीरे संघ-प्रथा का विकास हुआ। संघ की आम सभा में यह निर्धारित किया जाता था कि किन-किन नए सदस्यों की भरती की जाए और किन-किन पुराने सदस्यों का निष्कासन किया जाए। चंडेश्वर ने भी इस बात का समर्थन किया है। वृहस्पति ने कहा है (XVII. 5,6) "ग्रामवासियों शिल्पिसंघों और सभाओं द्वारा आपस में किया गया करार ही 'समय' कहलाता है और संकटों से निबटनेतथा अपने-अपने कर्तव्यों को पूरा करने के निमित्त ऐसा समय किया जाना चाहिए।"

"सहकारिता का गुण यह है कि इससे सामूहिक संकट को रोकने में विविध प्रकार के लोकोपकारी कार्यों के सम्पादन में तथा निर्धनों की सहायता करने में सुविधा प्राप्त होती है। संघ बनाने में अपेक्षित कुछ औपचारिकताओं (आवश्यकताओं) के बारे में बृहस्पति ने कहा है।

"शपथ 'दिव्य' द्वारा लिखित प्रतिज्ञा द्वारा अथवा मध्यस्थों द्वारा पहले परस्पर विश्वास जगा लेते हैं तब अपने काम में प्रवृत्त होते हैं।" (सेबुई—XXXIII. 347; XVII. 7)।

अर्थात् संघ के गठन के लिए प्रथम प्रक्रम है परस्पर विश्वास का उत्पादन जो निम्नलिखित रीति से किया जाता था।

(i) कोशविव्य—(याज्ञवल्क्य—II. 114-15; नारद—I. 329-32) यह शुद्धता प्रमाणित करने की एक धार्मिक विधि है। जिस पुरुष की जाँच करनी है वह अपने इष्टदेव की पूजा करता है और पूजा में चढ़ाया गया जल तीन चुल्लू पीता है; यदि ऐसा करने के एक सप्ताह या एक पक्ष के भीतर उसे कोई अनिष्ट फल होता है तो वह दोषी माना जाता है (सदस्य बनाने लायक न रह जाता है), अन्यथा वह शुद्ध समझा जाता है।

(ii) लेखक्रिया—इसका मतलब शायद करारपत्र लिखने से है अर्थात् संघ के नियम-कानूनों के निर्धारण से है, जिनका अंगीकार सबों को करना पड़ता।

(iii) मध्यस्थ—इसका मतलब उस प्रथा से है जिसमें कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के साधु आचार के लिए जामिन होता है।

संघ के अधिकारियों का चयन शुद्धात्मा, वेदज्ञ और अपने कर्तव्य के ज्ञाता और कुलीन पुरुषों द्वारा किया जाता था। ये अधिकारी दोषी पाए गए सदस्यों को स्वविवेकानुसार दंड दे सकते थे, किन्तु सभा के प्रधानों पर कोई अंकुश नहीं रहता था; क्योंकि बृहस्पति ने खास करके कहा है।

"सभा के प्रधान अन्य लोगों के प्रति कठोर या कोमल जो भी व्यवहार विहित नियमों के अनुसार करें, उसका अनुमोदन राजा को भी अवश्य करना चाहिए, क्योंकि वे कार्यों के प्रबन्धक के रूप में नियुक्त घोषित हैं।" (XVII. 18)।

कार्यवाह अधिकारी अन्ततः संघ की सभा के प्रति उत्तरदायी होते थे। जब सभा पाती थी कि वे दोषी को दंड देने में समर्थ नहीं हैं, तब राजा मामला अपने हाथ में लेता था या जैसा वह उचित समझता था, उस प्रकार हस्तक्षेप करता था। राजा उन्हें अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहने के लिए बाध्य करता था। संघ-प्रथा में

गणतन्त्र के तत्त्व स्पष्ट थे। संघ की आम बैठक के लिए एक सभा-भवन रहता था। जो कोई नया सदस्य बनाया जाता था, वह अविलम्ब अन्य सदस्यों के बराबर संघ की सम्पत्ति और दायित्व में अंश भागी हो जाता था। चंडेश्वर के अनुसार सभा के भीतर बोलने की पूरी छूट रहती थी।

वृत्तिसंघ न्याय भी करता था और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसका यह न्याय-कार्य केवल उसके सदस्यों तक ही सीमित रहता था। वह सामान्य अदालत की भाँति काम करता था। हर वृत्तिसंघ अपने झगड़ों का निपटारा स्वयं करता था।

महत्त्वपूर्ण वृत्तिसंघ थे :—

(i) कामगारों (संघभृतों) का संघ,
(ii) शिल्पियों (कारुओं) का संघ,
(iii) बुनकरों (तन्तुवायों) का संघ,
(iv) धोबियों (रजकों) का संघ,
(v) सुवर्णकारों का संघ,
(vi) मेहतरों (क्षारकों) का संघ,
(vii) वैद्यों (भिषजों) का संघ,
(viii) पुरोहितों (याजकों) का संघ,
(ix) बनियों (वैदेहकों) का संघ,
(x) योद्धाओं (क्षत्रियों) का संघ,
(xi) प्रकीर्ण संघ और स्थानीय सहकारी समितियाँ (सामुत्थानिक देश समयानुबन्ध),
(xii) ब्राह्मणों का संघ (द्विज गण),
(xiii) तैलिक-संघ (तैलश्रेणी),
(xiv) महावत-संघ; और
(xv) पंचकारुकी, जिसमें कुलाल (कुम्भकार), कर्मार (लुहार), वार्धकि (बढ़ई), नापित (हजाम) और रजक (धोबी) शामिल हैं।

वृत्तिसंघ के महत्त्वपूर्ण अधिकारी होते थे—भांडागारिक, जेठक, महासेट्ठि, अनुसेट्ठि, उत्तरसेट्ठी, जनपद सेट्ठि, लेखक, हेरनिक (हिरण्यक, कोषाध्यक्ष) और भंडाधर, नायकरामिक (कार्य के पर्यवेक्षक) आदि।

श्रेष्ठिन्

श्रेष्ठिन् संघ के सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी प्रतीत होते हैं। विशाखदत्त ने इन्हें मन्त्री के समकक्ष कहा है। इनके साथ मन्त्री लोग आदरपूर्ण व्यवहार करते थे। इनका पद (office) पश्चिमी चालुक्यों के राज्य में विशेष लोकप्रिय था जैसा कि उनके उत्कीर्ण लेखों से प्रकट होता है। ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में श्रेष्ठियों का स्थान बड़ा ऊँचा था। (आठवीं-नौवीं शताब्दियों में) सेट्ठियों का स्थान वाणिज्य-केन्द्रों के स्वामियों को मिला, जैसे ऐहोल में।

वृत्तिसंघ अपने माल पर ठप्पा लगाते थे।

वृत्तिसंघ किसी सामान्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए दलबद्ध होने की मनुष्य की स्वतःप्रेरणा की उपज हैं। वृत्तिसंघ भारत में चिरकाल से एक प्रचलित संस्था के रूप में रहा है। 'गृह्यसूत्र' के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वैयक्तिक उद्यम से सामूहिक उद्यम की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति जोरदार हो चली थी। वृत्तिसंघों के प्रधान बौद्ध काल में समाज में ऊँची प्रतिष्ठा पाते थे। इन संघों की जड़ देश के आर्थिक जीवन में भलीभाँति जम गई थी। हमारे पुरालेखों में इन संघों की तथा देश के आर्थिक जीवन में इनकी भूमिका की काफी चर्चा मिलती है। संघ दोनों प्रकार के थे -- शिल्पियों के संघ और वणिकों के संघ। वैशाली, पहाड़पुर, दामोदरपुर आदि स्थानों के संघ-प्रधान नगर प्रशासन में प्रमुख हाथ रखते थे और अपने-अपने क्षेत्रों में व्यापार एवं उद्योग के मार्गदर्शक का काम करते थे। संघ और राज्य के बीच सम्बन्ध पारस्परिकता का होता था। कौटिल्य के अनुसार राजा को संघों के साथ संघटनात्मक सम्बन्ध रखना चाहिए। जोशी का विचार है कि संघ और राज्य के बीच समझौते के पीछे मूल भावना यह रहती थी कि संघों को नियन्त्रण में रखा जाए तथा उन्हें राजकीय संरक्षण प्राप्त हो। हॉपकिन्स के अनुसार, ऐसे समय में जब एकता परमावश्यक थी, वणिकों के हित के विकास में इन वृत्तिसंघों का महत्वपूर्ण योगदान था।

प्राचीन भारत में व्यापार और उद्योग को आगे बढ़ाने में वृत्तिसंघों ने बड़ा महत्वपूर्ण काम किया है। वृत्तिसंघों ने व्यापार में स्वशासन की प्रथा को सुरक्षित रखा। हेमचन्द्र ने श्रेणी और प्रश्रेणी का उल्लेख किया है। एक मैसूर उत्कीर्ण लेख के अनुसार प्रश्रेणी को स्थानीय शाखा माना जा सकता है। धर्मशास्त्र के टीकाग्रन्थों और निबन्ध ग्रन्थों में संघ और समवाय सम्बन्धी नियम दिए गए हैं। दक्षिण भारत के ग्यारहवीं शताब्दी के एक उत्कीर्ण लेख में हजार प्रदेशों और चारों

दिशाओं से आनेवाले व्यापार-संघ के विविध विभागों का उल्लेख है। 'लेखपद्धति' से ज्ञात होता है कि गुजरात के चालुक्यों के राज्य में श्रेणियों की देखभाल के लिए एक पृथक् विभाग (श्रेणिकरण) था। गुजरात के उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि एक पत्तन-नगर-परिषद् के विचार-विमर्श में वणिक और उद्योगपति भाग लेते थे (इए—XLI. 20)। इन सभी साक्ष्यों से प्रकट होता है कि देश के आर्थिक जीवन में वृत्तिसंघों का बड़ा महत्त्व था।

अध्याय 11

राजस्व-व्यवस्था

I

प्रस्तावना

प्राचीन भारत में शासन-व्यवस्था के उद्भव काल में किसी-न-किसी रूप में वित्त-व्यवस्था अवश्य रही होगी, क्योंकि प्रशासन में वित्त-व्यवस्था के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। राजा को अपनी प्रजा की सम्पत्ति पर तथा विजित शत्रुओं की सम्पत्ति पर असीम अधिकार रहता था। भली भाँति भरा हुआ खजाना शासन के अस्तित्व एवं बल का आधार होता था। राजा को राजकीय वित्त के आय-पक्ष और व्यय-पक्ष के बीच सन्तुलन रखना पड़ता था। सुरक्षा की भावना राज्य में पूँजी की अभिवृद्धि तथा फलस्वरूप आर्थिक उन्नति का मूलाधार मानी जाती है। सुनिरूपित वित्तीय प्रणाली के होने से, प्रजा के पास फाजिल सम्पत्ति का जमा होना, उसके मूल स्रोतों को हड़पे बिना ही, बहुत हद तक रोका जा सकता है। करारोपण का अधिकार सरकार को स्वत: प्राप्त होता है, किन्तु प्राचीन भारत के चिन्तकों के अनुसार यह अधिकार शर्तहीन नहीं है। यहाँ तो यह बात थी कि 'रक्षा नहीं तो कर नहीं'। निष्ठुर और अन्यायी प्रशासन के दुष्ट ग्रहों से प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म था। वास्तव में करारोपण अपने मूल उद्देश्य से कभी विचलित नहीं हुआ।

खजाना अर्थात् कोष राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग था और प्राचीन भारत के अर्थशास्त्रियों ने राज्य के वित्तीय पहलू को बहुत अधिक महत्व दिया। कोष पर उचित ध्यान दिया जाता था जो राज्य के सभी उद्यमों का अवलम्ब होता था। पूर्व वैदिक काल में राजस्व के तीन मुख्य स्रोत होते थे—धनी पुरुषों द्वारा स्वेच्छया उपहृत 'भाग' विजित कबीलों से बलात् वसूली गई 'बलि' और दुर्बल राजाओं द्वारा चुकाई गई 'बलि'। 'बलि' और 'शुल्क' शब्दों के उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि वेद कालीन लोग करारोपण के सिद्धान्तों से परिचित थे। इसमें हम पहले-पहल कृषि-उपज में राजांश और पशु के रूप में अंशदान की अवधारणा पाते हैं जो अनिवार्य ढंग के थे। ज्यों-ज्यों राज्य की शक्ति का विस्तार होता गया, त्यों-त्यों

करों का बहुगुणन होता गया और वित्त के महत्त्व का अनुभव होने लगा। स्मृतियों, बौद्ध साहित्य, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, समकालीन साहित्य, विदेशियों के वृतान्तों, उत्कीर्ण लेखों और शुक्र से हमें यह आभास मिलता है कि पूर्वकाल में राजस्व-प्रणाली और लोक-वित्त-प्रणाली किस प्रकार चलती थी।

II

करारोपण के सिद्धान्त

महाभारत में आए प्रसंगों से यह प्रकट होता है कि राज्य अपने कोष की पूर्ति के लिए 'वार्ता' के क्षेत्र में किस तरह नाना प्रकार के कार्यकलाप चलाता था: करों के प्रकार की बहुतायत महाभारत में पाई जाती है। रजकीय सम्पत्ति में आती थीं—राजकीय भूमि, परती भूमि, वन, खान, प्राकृतिक जलाशय और जलागार, जिनसे राज्य को काफी आय होती थी। खान और नमक भंडार पर भी राजा का दावा होता था। ऋग्वेद में आय के स्थायी स्रोतों का निर्देश है, किन्तु कालक्रमेण कर-ग्रहण की बहुमुखी पद्धति विकसित हुई। राज्य के प्रत्यक्ष राजस्व के अलावा, कई गौण आय-स्रोतों से भी राजकोष भरा जाता था, जैसे कर, शुल्क, जुरमाना, दंड और अन्यान्य प्रकीर्ण स्रोत। करों की बहुविधता की अवधारणा कौटिल्य, मनु और महाभारत में मिलती है। कर प्रशासन-सेवा के बदले राजा को मिलने वाली रकम पारिश्रमिक समझा जाता था।

कौटिल्य और मनु दोनों का सुझाव है कि राजा को उचित कर उगाहना चाहिए और करारोपण करने में कुछ सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। राजा की उपमा माली से दी गई है। उसे कर बटोरने के लिए नाजायज तरीके नहीं अख्तियार करने चाहिए। राजा को मधुमक्खी की कला अपनानी चाहिए जो मधुसंचय करते वृक्ष को कोई पीड़ा नहीं पहुँचाती है। उसे सम्पत्ति के संग्रह और वितरण (शोषण एवं मरण) में सूर्य और इन्द्र दोनों होना चाहिए। राजा को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि उसे जितना दुर्यश कर-पीड़न से होगा, उतना और किसी से नहीं। करारोपण ऐसा होना चाहिए कि प्रजा को उसका भार मालूम न हो। जिसे अपने निर्वाह का उपाय नहीं है, उससे कुछ भी नहीं माँगना चाहिए।

करारोपण धीरे-धीरे कोमलतापूर्वक और उचित समय में किया जाना चाहिए। वाणिज्य-वस्तुओं पर कर सभी बातों पर समुचित विचार करके स्थायी रूप से निर्धारित करना चाहिए। कर इस तरह न लगाया जाए कि आर्थिक स्रोत ही पंगु हो जाएँ। शासन व्यय में अधिक से अधिक किफायत की जाए, ताकि राज्य

अपना कोष बढ़ा सके। मितव्ययिता का अर्थ है कर तहसीलने में कम-से-कम खर्च। मनु और महाभारत इस बात पर स्पष्ट हैं। करारोपण उचित विचार-विमर्श करके किया जाता था। कौटिल्य ने लचीलेपन के सिद्धान्त को इन शब्दों में उदाहृत किया है कि राजा को अपनी प्रजा के प्रति क्रूर और निष्ठुर हुए बिना अपने कोष का भरण करना चाहिए। कुराल में भी ऐसे ही सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

कर सन्तुलित और सुविधानुसार बहुरूपी होना चाहिए। 'सब बराबर' वाले सिद्धान्त का प्रयोग केवल दुर्भिक्ष के समय या संकट की घड़ी में किया जाए। कर-योग्य वस्तुओं की लम्बी सूची से प्रशासनिक संघटन की विकसित अवस्था सूचित होती है, हालाँकि प्रजा की अधिकतम भलाई के लिए करारोपण में मानवीय दृष्टिकोण रखा जाता था। जहाँ तक सम्भव हो, घाटे का परिहार किया जाता था।

अलबरूनी ने कहा है कि भारत के लोग राजा को अपनी आय का छठा हिस्सा इसलिए चुकाते थे कि राजा प्रजा की, उसकी सम्पत्ति की और सन्तानों की रक्षा करता था। कर राजा द्वारा की गई प्रजा की सेवा के प्रतिफल में दिया जाता था। महाभारत, रामायण, मनु, विष्णु, कौटिल्य आदि ने इस बात की पुष्टि की है कि राजा रक्षा के प्रतिफल में षष्ठांश पाता है। कर-ग्रहण का औचित्य राजा द्वारा की जाने वाली रक्षा में निहित है, यह अवधारणा प्राचीन भारत में भली-भाँति थी। बौद्ध साहित्य, रामायण, महाभारत और कौटिल्य बताते हैं कि राजा और प्रजा के बीच संविदात्मक सम्बन्ध या सामाजिक पारस्परिकता रहती है, क्योंकि इसमें अधिकारों और कर्त्तव्यों की पूर्ति राजा और प्रजा दोनों की ओर से होती है। महाभारत में कहा गया है कि जो राजा रक्षा न करे, उसे फूटी नाव की तरह त्याग देना चाहिए। राजा को वार्षिक राजस्व की तहसील जिम्मेवार और विश्वासपात्र पुरुषों से करानी चाहिए। कर राजा की मजदूरी है। कर सामाजिक सुरक्षा और प्रजारंजन के लिए लिया जाता था। धन बढ़ाने के लिए वैश्य प्रोत्साहित किये जाते थे।

आस्तम्ब ने विधान किया है कि राजा केवल न्याय्य कर वसूले। न्याय्य कर वे हैं जो परम्परा द्वारा और स्मृतियों द्वारा स्वीकृत हैं। अन्याय्य कर की निन्दा की गई है। कर्मचारियों की लूट-खसोट से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। राजाओं को सलाह दी गई है कि वे धर्मतः शासन करें। यद्यपि छठा हिस्सा प्रचलित राजांश था, तथापि विभिन्न परिस्थितियों में अन्याय्य दरें भी प्रचलित थीं। भूमि के अतिरिक्त भाग, बलि और शुल्क ये तीन न्यायय्य, विधिसम्मत और प्रचलित कर थे जो कर्षक और वनिक-वग चुकाते थे। दमनात्मक कर अज्ञात नहीं था। इस

प्रसंग में जातकों में अनेक निर्देश मिलते हैं। पुरालेखीय स्रोतों से भी संकेत मिलता है कि राजकीय अधिकारी लोग कभी-कभी गाँव के निवासियों को सताते थे और उनपर दमनात्मक कर लगा देते थे।

III

कर ग्रहण के स्रोत

राजस्व के मुख्य स्रोत थे **राष्ट्र** (देश के भूभाग), **दुर्ग** (नगर और किला), **खनि** (खानें), **सेतु** (सिंचाई निर्माण) **वन**, **व्रज** (पशु-समूह), **वाणिज्य वस्तुएँ**, **निखात-निधि** (धरती में गड़ा खजाना) तथा अन्य **स्वैच्छिक** उपहार। हम राजस्व-स्रोतों के निम्नलिखित विभाग कर सकते हैं :

(1) **निजी भूमि से आय**—हम जानते हैं कि प्राचीन भारत में राजस्व का मुख्य स्रोत भूमि रहा है। 'षड्भाग' शब्द का अर्थ है छठा हिस्सा, जो जिन्स (वस्तु) के रूप में राजा का अंश होता था। स्मृतियों, रामायण और महाभारत में अन्न में राजा के अंश को बलि कहा गया है, न कि भाग और कौटिल्य तथा कालिदास के अनुसार संन्यासियों को भी अपने संचय में से षष्ठांश चुकाना है। भूमि और फसिल के भेद से भूराजस्व में भी भेद होता था। अशोक के रुम्मिनदेई स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि लुम्बिनी में आपवादिक रूप में भूराजस्व की दर षष्ठांश से घटाकर दशमांश कर दी गई थी। गौतम ने उत्तम, मध्यम और अधम भूमि पर क्रमशः षष्ठांश, अष्टमांस और दशमांश राजस्व का विधान किया है। कौटिल्य ने आपत्काल में तृतीयांश और चतुर्थांश की भी अनुशंसा की है। दर में मिट्टी, उर्वरता और सिंचाई-सुविधा के अनुसार अन्तर किया जाता था। वसिष्ठपुत्र पुलुमावि के कार्ले बौद्ध गुहा अभिलेख से प्रकट होता है कि 'भाग' के अलावा और भी कई तरह के कर थे।

'बलि' वैदिक काल में पराजित शत्रुओं से वसूली जाती थी और यह वश्यता-कर (ट्रिब्यूट) के रूप में 150 ई० में चेरों ने अन्य शासकों से वसूली थी। धीरे-धीरे यह कर्षकों से वसूले गए लगान में से राजकीय अंशदान के रूप में परिणत हो गई। पूर्वकाल में बलि ऐच्छिक वस्तु थी, किन्तु बाद में इसका स्वरूप बदल गया और यह नकद देय हो गई। अशोक ने लुम्बिनी को बलि से पूर्णतः मुक्त कर दिया। भाग, बलि और कर राष्ट्र से होने वाली आय थे। बलि उगाहने के लिए प्रदेष्टा अधिकृत किया जाता था। भट्टस्वामी बलि का अर्थ कहते हैं अधिकारियों द्वारा बलपूर्वक वसूला गया कर और क्षीर स्वामी के अनुसार इसका अर्थ है राजा के अधिकारियों के निर्वाह के लिए वसूला गया कर। जॉनस्टन ने इसे छठे हिस्से

की विधिसम्मत दर से वसूला जानेवाला भूराजस्व कहा है। मिलिन्दपञ्ह में यह आपत्कालीन कर कहा गया है। मनु और गौतम इसका प्रयोग करों के सामान्य अर्थ में करते हैं, जबकि स्मृतियों में इसे भाग का समानार्थक माना गया है और कहीं-कहीं यह कर का पर्यायवाची भी माना गया है, हालाँकि भाग, बलि और कर ये तीनों, भिन्न-भिन्न अर्थवाले शब्द हैं। बलि को उत्पीड़क कर भी माना गया है। यह 'विष्टि' के साथ-साथ लगाई जाती थी। भट्टस्वामी ने बलि की दर दसवाँ या बारहवाँ हिस्सा निर्धारित की है। रुद्रदामन् के जूनागढ़ शैललेख में 'भाग' 'बलि' और 'शुल्क' को नियमित कर कहा गया है और 'कर' 'प्रणय' और 'विष्टि' को आपत्कालीन कर बताया गया है।

कर राजस्व-सम्बन्धी एक प्रसिद्ध शब्द है और इसके अर्थ निम्नलिखित रीतियों से किए गए हैं :—

(i) मुद्रा सिक्के के रूप में चुकाया गया कर;
(ii) वशवर्ती राजाओं/सामन्तों द्वारा चुकाया गया कर;
(iii) फलों और वृक्षों पर लगाया गया कर;
(iv) आपत्कालीन कर;
(v) सामान्य कर; और
(vi) वार्षिक कर।

ऊपर हम देख चुके हैं कि बलि, कर और शुल्क का प्रयोग अलग-अलग हुआ है। क्षीरस्वामी ने कर का अर्थ किया है सभी चल और अचल वस्तुओं पर उगाही जानेवाली राशि। यह बनियों पर लगाया जाता था—यह जिन्स या वस्तु के रूप में प्राप्य राजस्व या निवासियों द्वारा विभिन्न मासों में चुकाया जानेवाला शुल्क था। यह राष्ट्र से आने वाले राजस्व का पृथक स्रोत था। यह जिन्स या नकद दोनों रूप में वसूला जाता था और राष्ट्र पर लगाया जाता था। इसे आपत्कालीन चन्दा भी कहा गया है। यह सम्भवतः राष्ट्र पर समय-समय पर लगाया जानेवाला सेस था। हमें ग्रामीण क्षेत्रों से वसूले जानेवाले कर, पिंडकर, प्रतिकर आदि के भी निर्देश मिलते हैं।

विष्टि (बेगारी)—यह राज्य की आय का एक स्रोत प्रतीत होता है और कौटिल्य के अनुसार कुछ गाँव विष्टि अर्थात् अनिवार्य निःशुल्क श्रम देते थे। भट्टस्वामी के अनुसार ऐसी बेगारी कर के बदले ली जाती थी और इस प्रकार ली गई बेगारी का हिसाब राज्य के एक अधिकारी रखते थे। इसका उल्लेख हिरण्य, शुल्क और कर के साथ मिलता है। एम० एच० गोपाल इसे एक अतिरिक्त

कर-जैसा मानते हैं। अवश्य ही यह दमनात्मक ढंग का था। यह मजदूरी चुकाकर लिए गए श्रम से भिन्न है।

'प्रतिभाग' राजा को दिया जानेवाला फलादि का उपहार था और कभी-कभी दान में दिए गए ग्राम इस दायित्व से मुक्त होते थे। रोज-ब-रोज मिलनेवाला ऐसा नजराना मुखिया का उपलाभ होता था। **'हिरण्य'** भी एक प्रकार का कर था और किसानों पर लगाया जाता था। इसका अर्थ कुछ खास फसलों पर लगनेवाला नकदी कर और कभी-कभी नकदी एवं जिन्सी दोनों तरह का राजस्व किया गया है। यह भूमि पर लगनेवाला एक नकदी प्रभार था। **'पशु'** एक प्रकार का कर था जो गोधन वाले लोगों से मवेशी की शक्ल में लिया जाता था। **'प्रणय'** ('कल्याण', आधार से लेकर दसवें हिस्से तक) संकट के समय विभिन्न तरह के पशुओं पर लगाया जाता था।

'रज्जु' जमीन नापने की एक प्रकार की इकाई था और 'रज्जुक' का काम था ग्रामीण क्षेत्र में करनिर्धारक नापी (सर्वेक्षण) करना। कौटिल्य ने इसे प्रदेशाधिकारियों से राजकोष में होनेवाली आय का एक स्रोत कहा है—और हो सकता है कि यह रज्जुकों द्वारा तहसीला जानेवाला एक कर हो। **'चोरराजु'** भी एक अन्य आयस्रोत था। चोर राजु पुलिस अधिकारी होमु थे जो चोर आदि के आक्रमण से राज्यक्षेत्र की रक्षा करते थे। हो सकता है यह गाँव में लगनेवाली चौकीदारी हो।

'वस्तु' का उल्लेख कौटिल्य ने नगरों या दुर्गों से होनेवाली आय के अधीन किया है। यह सम्भवतः निजी भवनों या भवन-स्थलों पर लगनेवाला कर था। करारोपण के लिए घरों में नम्बर दिये जाते थे। भूमि और भवन (वस्तु) की बिक्री पर भी कर लगता था। 'सेनाभक्त' वह राजदेय था जो सेना के प्रयाण के समय चुकाया जाता था। 'पार्श्व' से वह कर सूचित होता है जो तहसील हो जाने के बाद भी गुंजाइश रह जाने पर वसूला जाता है, फलतः वह ऐसा प्रभार है जो निर्धारित कर से फाजिल वसूला जाता है। यह भूमि पर एक अतिरिक्त प्रभार है और भट्टस्वामी ने ऐसे कर की उगाही को न्याय्य कहा है। यह भी मत है कि यह लाभ की अधिकाई पर, सीमान्त राजस्व के रूप में लगाया गया अधिभार (सुपर टैक्स) है।

सम्राट की सम्पत्ति से आय

सम्राट् की भूमि (खास महाल) वित्त का मुख्य आधार होती थी। ऐसी भूमि के कर्षक अपनी उपज का चौथा हिस्सा राजा को चुकाते थे जो राजकोष में

जमा होता था। यूनानी लेखकों की उक्ति से इस विषय में भारी विवाद उठ गया है। डा० यू० एन० घोषाल का मत है कि दियोदोरस के कथनानुसार कर्षक लोग जो राजकोष में कर चुकाते थे, वह विशेष व्यवस्था के अभाव में उपज का चतुर्थांश होता था। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यूनानी लेखकों के अनुसार सारा भारत सम्राट की सम्पत्ति था। एरियन (द्वितीय शताब्दी ई०) ने पशुपालों और उनकी चरागाहों पर लगनेवाले कर और कामगारों से ली जानेवाली बलि का भी उल्लेख किया है जिनका निर्देश दियोदोरस और स्त्राबों में नहीं मिलता है। कौटिल्य ने भी कठिनाई के दिनों में प्रजा की क्षमता के अनुसार तृतीयांश या चतुर्थांश कर-ग्रहण का निर्देश किया है।

ए० एन० बोस के अनुसार कर दो प्रकार के थे : एक नियमित 'भाग' और दूसरा अनियमित 'बलि'। दियोदोरस और स्त्राबों की परस्परविरुद्ध उक्तियों की गहन मीमांसा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट की भूमि पर नियोजित कर्षक राजकोष में भूमि का लगान चुकाते थे और उसके साथ-साथ अपनी कुल उपज का चतुर्थांश भी बाँट देते थे। कौटिल्य ने कहा है कि अपने बीज और बैल से खेती करनेवाले किसान उपज में राज्य से आधा हिस्सा पाते थे। स्मृतियों में भी यही दर मिलती है। ऊपर गिनाए गए तरह-तरह के कर राजकीय भूमि में खेती करनेवाले कर्षकों को नहीं लगते थे। कौटिल्य ने एक प्रकार के कर्षक का निर्देश किया है जो अपनी ओर से केवल श्रम लगा सकता था और उसे राजकीय भूमि की उपज में केवल चौथा या पाँचवाँ हिस्सा मिलता था। सम्राट की भूमि उन्हीं को दी जाती थी जो उसमें खेती कर सकते थे।

राज्य के अन्य आय-स्रोतों में, कौटिल्य ने '**पारिहाणिक**' का उल्लेख किया है जो किसी नुकसान के लिए अन्न के रूप में लिया जानेवाला एक हरजाना या मुआवजा है। कौटिल्य ने '**सेतु**' शब्द का प्रयोग वित्तीय अर्थ में किया है, जो पुष्पोद्यान, फलोद्यान, शाकोद्यान, सिंचित भूमि आदि से होनेवाली आय का बोधक है। सेतु से मिलनेवाली राजकीय वाणिज्यवस्तु का भी उल्लेख मिलता है। राज्य वित्तीय लाभ के लिए जलपर नियंत्रण रखता था। कौटिल्य का '**उदकभाग**' राजकीय सिंचाई साधन से आपूर्ति पानी का शुल्क था और कौटिल्य ने तृतीयांश से पंचमांश तक भिन्न-भिन्न दरें बनाई हैं। '**कौष्ठेयक**' ऐसी भूमिपर लगनेवाले कर का सूचक है जो राजा द्वारा बनाए गए तड़ागों और सरों (झीलों) से नीची सतह की है। कुछ विद्वान् इस बात से सहमत नहीं हैं और बताते हैं कि यह शब्द छिटफुट स्रोतों से होने वाली आय का बोधक है। वन, विशेषकर हस्तिवन

(हाथी वाला जंगल) और द्रव्यवन (इमारती लकड़ी आदि देनेवाला जंगल) राज्य की आय का भारी स्रोत था। खानों पर राज्य का एकाधिकार था और वे राजकोष के अच्छे स्रोत थीं। अरबों ने खनिज लवण के एक पर्वत का उल्लेख किया है। सोने और चाँदी की भी खानें थीं और देश के विभिन्न भागों में अवस्थित खनिज सम्पदा का उल्लेख देशी और विदेशी लगभग सभी स्रोतों में हुआ है।

खानों से होनेवाली आय विभिन्न केन्द्रों (प्रमुखों ?) से भी प्राप्त होती थी और कौटिल्य ने ऐसे दस केन्द्रों का उल्लेख किया है। जिन खानों का काम कठिन था, वे निजी व्यक्तियों को 'प्रक्रय' (लगान) पर या 'भाग' (बटाई) पर दी जाती थीं। भूमि के भीतर पाई गई धातु का आधा हिस्सा राजा का होता था। नमक भी एक महत्वपूर्ण आयस्रोत था। निजी व्यक्ति राजा की अनुमति से ही नमक बना सकता था। नमक के आयात पर भी शुल्क लगता था। **प्लिनी के अनुसार राजा को नमक से जितनी आय होती थी, उतनी सोने और मोती से भी नहीं।** सातवाहनों, पल्लवों और वृहत्पलयानों ने दानग्राहियों को नमक का अधिकार भी प्रदान किया था। हर प्रकार की खानों की देखभाल के लिए ईमानदार अधिकारी बहाल किए जाते थे।

व्यापार और वाणिज्य से आय

'शुल्क' की परिभाषा व्यापार पर लगनेवाला कर की गई है। आपस्तम्ब आदि ने इसे सामान्य कर और वाणिज्यवस्तु पर लगनेवाला कर कहा है। मनु ने इसका प्रयोग वणिकों द्वारा देय कर-राशि के अर्थ में किया है। इसका अर्थ पथ-कर (चुंगी) भी किया गया है। कौटिल्य ने इसे 'दुर्ग' के अन्तर्गत राजस्व की एक मद बताया है और एक अन्य स्थल में इसे **'वर्तनी', 'तरदेय', 'गुल्मदेय', 'आतिवाहनिक'** आदि अन्य व्यापारिक आयों से पृथक् किया है। **अवदानशतक** में और **'दिव्यावदान'** में शुल्क का उल्लेख गुल्म और तरदेय के साथ किया है। कौटिल्य के अनुसार इसका अर्थ है वस्तुओं पर, भीतरी या बाहरी या विदेशी मालों पर देय राशि और यह आज की चुंगी (अक्ट्रॉय ड्यूटी) था। यह पत्तनों (बन्दरगाहवाले नगरों) में वणिकों से भी वसूला जाता था। इसका उल्लेख रुद्रदामन के जूनागढ़ शैललेख में भी है। आपस्तम्ब और गौतम के अनुसार राजा को वाणिज्य वस्तु पर बीसवाँ हिस्सा वाणिज्य-कर लेना चाहिए। बौधायन के अनुसार राजा को दस पण और एक पसन्द की वस्तु (समुद्रशुल्क) लेनी चाहिए। कौटिल्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मालपर छठे हिस्से से लेकर पचीसवें हिस्से तक की विभिन्न दरें बतलाई हैं। तमिल साहित्य से ज्ञात होता है कि राज्य स्थायी रूप से एक

वाणिज्यकर (चुंगी) विभाग रखता था। भूमि, भवन, आराम आदि की बिक्री पर भी शुल्क लगता था। शुल्क के भुगतान के बारे में अपेक्षित नियम-विनियम भी निर्धारित थे।

शुल्क के अलावा और भी कई कर थे; जैसे 'द्वारदेय' जो नगर में आनेवाले विविध सामानों पर (शुल्क की राशि के पंचमांश की दर से फाटक पर) लिया जाता था; वर्तनी (सड़क-कर या सीमा-कर, जो विदेशी वस्तु पर सीमा पार करते समय ली जाती थी) भी याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लिखित है। 'यात्रावेतन', 'तर', 'तरदेय' और 'तरपण्य' भी बहुत-सारे समसामयिक स्रोतों में उल्लिखित हैं। 'तरपण्य' घाट-कर है। घाटों से होनेवाली आय राजकोष में जाती थी। 'आतिवाहिक' एक परिवहन-शुल्क जो नदी और समुद्र के तट पर लिया जाता था और यह अतिरिक्त शुल्क जैसा लगता है।

गुल्मदेय, कौटिल्य के अनुसार, उन वणिकों द्वारा देय होता था जो विदेशी माल का कारबार करते थे। यह शुल्क और तरपण्य के साथ लगनेवाला राजस्व होता था। 'गुल्म' शब्द का प्रयोग एक ऐसे रक्षक-दल या सैनिक टुकड़ी के अर्थ में भी होता है जो किलो. सीमान्त नगरों, उद्यानों आदि की रक्षा के लिए तैनात रहता था। यह एक प्रकार की सैनिक चौकी होती थी जिसमें नौ हाथी, नौ रथ, सत्ताइस घोड़े और पैंतालीस सैनिक रहते थे। सम्भव है कि व्यापारियों की सुरक्षा के लिए नगरों और शहरों में स्थापित ऐसी ही सैनिक चौकियों के खर्च की पूर्ति के लिए यह गुल्मदेय वणिकों और व्यापारियों से वसूला जाता हो। इसका अर्थ सेना-निवेशों में लगनेवाला कर भी किया जाता है। मनु और महाभारत ने इसे सैनिक अर्थ में लिया है। गुल्म राज्यक्षेत्र के चतुर्दिक तैनात रहते थे और गौल्मिक एक अधिकारी होता था जो गुल्म का प्रभारी होता था और विदेश व्यापार करने वाले वणिकों से गुल्म (नामक शुल्क) तहसीलता था। ब्राह्मण इस शुल्क से मुक्त रहते थे। पतंजलि ने गौल्मिक का उल्लेख किया है और कई उत्कीर्णलेखों में भी इसका उल्लेख मिलता है। 'प्रातिवेधनिक' प्रतीकात्मक छेद करने या ठप्पा लगाने का कर होता था। दारू भी आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत होता था।

प्रकीर्ण आय

'विष्टि' एक प्रकार का बलपूर्वक लिया गया श्रम था जो आज बेगारी कहलाता है। वृत्तिसंघ (कारु-शिल्पि-गण) अपने पंजीयन एवं स्वीकृति के लिए राज्य को फीस चुकाते थे। 'कुप्य' 'विलोप' का कुछ भी अर्थ करना कठिन है। 'उत्संग' वह कर था जो राजा के पुत्र के जन्मोत्सव के अवसर पर संगृहीत किया

जाता था। इसका अर्थ राजा को दिया जानेवाला उपहार भी किया जाता है, जिसके लिए कौटिल्य ने 'औपायनिक' शब्द का भी प्रयोग किया है। उत्संग का अर्थ किया गया है नियत राशि से फाजिल कर या अतिरिक्त उपकर, जो किसी उत्सव के अवसर पर ग्रामवासिओं से लिया जाता था। उत्संग और औपायनिक अलग-अलग आय-स्रोत थे। द्यूत भी राजकोष का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था। 'उपस्थान' गुप्त रीति से प्राप्त धन का नाम था। 'व्याजि' तेल, घी, आदि पर उगाहा जाता था। क्लप्त का उल्लेख अर्थशास्त्र में हुआ है। समुद्रतट या नदीतट के निवासी यह कर चुकाते थे। यह स्थिर रूप में निर्धारित कर समझा जाता है। इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है।

राज्य-नियन्त्रित स्थापनाओं से भी आय होती थी। वेश्याएं (गणिकाएँ) करके रूप में महीनें में दो दिनों की अपनी कमाई चुकाती थीं। भाँड़ (विदूषक), नट, गायक, नर्तक आदि भी राजकोष में कर चुकाते थे। पारपत्रशुल्क भी प्रचलित था। व्रज (पशु समूह, मवेशी) से भी राज्य को आय होती थी। जुरमाना और हरजाना भी राजकोष का एक महत्त्वपूर्ण आयस्रोत था। कौटिल्य ने तीन सौ चालीस प्रकार के जुरमाने गिनाएँ हैं। लावारिस सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी। अन्य आय स्रोतों में आते हैं 'अन्यजात' (किसी अन्य स्रोत से हुई आय), अपुत्रक (पुत्रहीन पुरुष का धन), अस्वामिक, खोई या भूली हुई सम्पत्ति और निधि (धरती में गाड़ा हुआ धन) जो सामान्यतः राजा की होती थी।

आपात्कालीन करारोपण

आपात्कालीन स्थिति का सामना करने के लिए अतिरिक्त कर उगाहना विहित था। महास्थान और सह गौरा उत्कीर्णलेख में आया 'अतयाविक' शब्द राज्य की आपात्कालीन स्थिति या किन्हीं क्षेत्रविशेषों की जरूरत की घड़ी का सूचक है, जिसके परिणामस्वरूप अनाज आदि चीजों की कुछ अतिरिक्त उगाही करके राजकीय भंडारों को भरा जाता था, ताकि निर्धनों और पीड़ितों का कष्ट दूर किया जा सके। आपात्कालीन स्थिति में सामान्यतः वित्तीय कठिनाई उत्पन्न होती है। ऐसी आपात्कालीन उगाही का नाम 'प्रणय' है। यह प्रदान या चन्दा का द्योतक है, जो सामान्यतः ऐच्छिक तो होता था, किन्तु किसी को प्रसन्न करने के लिए कुछ बाध्यता का भाव रहता था। 'मिलिन्दपञ्ह' में एक ऐसे कर का निर्देश है जो आपात्कालीन स्थिति में राज्य को चुकाया जाता था। आपात्कालीन करारोपण के अतिरिक्त, राज्य वंचना करके गुप्तचरों द्वारा जनता को ठग कर, वेश्याओं की मदद से धनियों की सम्पत्ति हड़पकर, संन्यासियों, मन्दिरों, मृतव्यक्तियों, धार्मिक संस्थाओं और

शत्रुओं की सम्पत्ति जब्त करके भी आपातकाल में कोष-संचय कर लेता था। 'प्रणय' भी जोरजबरदस्ती और लोलुपता का एक हथियार था। इसका स्वरूप जो भी हो आपातकालीन राजस्व की तहसील प्रजा की क्षमता के अनुरूप ही की जाती थी और शुभचिन्तक राजा भारी संकट के समय भी प्रजा को पीड़ित नहीं करते थे।

आयस्रोतों का सिंहावलोकन

भट्टस्वामी राष्ट्र के अन्तर्गत 'पिंडकर' का अर्थ करते हैं सारे गाँव पर सामूहिक रूप से लगाया गया कर। इस कर का उल्लेख मौर्य और गुप्तकाल के बाद नहीं मिलता है। मौर्य और गुप्तकाल के बाद गाँवों में कर-निर्धारण सामूहिक रूप से नहीं होता था, बल्कि अलग-अलग होल्डिंग पर होता था। मौर्य-काल में गोप द्वारा नीची जमीन और ऊँची जमीन का अभिलेख अलग-अलग बनाया गया था। मनु ने विहित किया है कि राजा उपज का षष्ठांश, अष्टमांश और द्वादशांश ले सकता है। यह विकल्प जमीन की अलग-अलग उपजाऊपन पर आधारित है। बृहस्पति खिल भूमि (कृषियोग्य परती; जिस पर खेती में अधिक खर्च पड़ता है) पर दशांश, अष्टमांश और षष्ठांश विहित करते हैं। विष्णु, नारद और शान्तिपर्व (महाभारत) में भी षष्ठांश का विधान है और राजा को अवसर 'षड्भागिक' कहा गया है। गुप्त-काल में षष्ठांश की सामान्य प्रथा रही होगी जैसा कि कई गुप्त-कालीन पुरालेखों में 'धर्मषड्भाग' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है। यह प्रचलित राजांश 'भाग' भी कहलाता था और यह शब्द बलि, कर आदि के साथ-साथ स्वतन्त्र पद के रूप में प्रयुक्त है। अतः प्रतीत होता है कि भाग शब्द उपज में राजा के प्रचलित छठे हिस्से का बोधक है। यह युगों तक भूराजस्व का मुख्य पद रहा है।

'बलि' भी एक प्रकार का कर थी जो प्रजाओं से तथा पराजित नृपों से राजा द्वारा वसूली जाती थी। ब्राह्मण-काल में यह प्रजाद्वारा देय एक अनिवार्य चन्दा थी। जातकों में इसका अर्थ है अतिरिक्त और दमनात्मक उपकर, मिलिन्द-पञ्ह' में आपातकालीन कर कहा गया है। अगली शताब्दियों में इसका स्वरूप बदल गया और इसका उल्लेख चरु, सत्र, वैश्वदेव और अग्निहोत्र शब्दों के साथ हुआ है, अतः यहाँ इसका अर्थ कोई कर नहीं हो सकता है। इसका उल्लेख उन करों की सूची में भी नहीं है जिनकी छूट भोक्ताओं (दानग्राहियों) को दी गई है। मनु, अश्वघोष, विष्णु, बृहस्पति, महाभारत और महावंश में इसका उल्लेख कर के रूप में है और अमरकोष में इसे शुल्क और कर के पर्यायवाची के रूप में रखा गया है। यह भाग से भिन्न है या नहीं, यह कहना कठिन है।

कर का अर्थ मेधातिथि के अनुसार वस्तुओं का अर्पण है, सर्वनारायण के अनुसार भूमि पर देय स्वर्ण की नियत मात्रा का प्रदान है, रामचन्द्र के अनुसार घास, लकड़ी आदि के अंश का प्रदान है और राघवानन्द के अनुसार ग्रामवासियों द्वारा प्रतिमास किया जानेवाला भुगतान है। भट्टस्वामी इसे भाद्रपद, वसन्त आदि समय में चुकाया जानेवाला वार्षिक कर मानते हैं; किन्तु कृष्णस्वामी इसे सभी चल और अचल वस्तुओं पर देय प्रभार बताते हैं। यह उपज में राजा के षष्ठांश के अतिरिक्त ग्रामवासियों से समय-समय पर लिया जानेवाला कर है। जूनागढ़ उत्कीर्णलेख में यह सामान्य भूराजस्व से भिन्न दमनात्मक उगाही है। अश्वघोष इसे एक कर मानते हैं और यह समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में इसी अर्थ में प्रयुक्त है। यह एक प्रकार का भूराजस्व था, पर इसका ठीक-ठीक स्वरूप अनुसन्धेय है।

'हिरण्य' (राजस्व का अंग होने पर भी) कौटिल्य के **'आयमुख'** या **'आय-शरीर'** के अंग के रूप में गिनाया नहीं गया है। परोक्ष रूप से इसका अर्थ यह होता है कि यह एक अनियत देय था। मौर्योत्तर-काल में यह राजा की नियत आय का एक मद था। विष्णु और नारद इसकी दर पचासवाँ भाग (दो प्रतिशत) विहित करते हैं। गुप्तकालीन दानपत्रों में दानग्राहियों को हिरण्यों से छूट दी गई है। हो सकता है, हिरण्य तिजारती उपज पर देय उपकर हो।

'उदकभाग' सिंचाई-शुल्क था। जल-कर अराजकीय भूमि के कर्षकों से वसूला जाता था। 'उपरिकर' दूसरे की जमीन में खेती करने वाले कर्षकों से उगाहा जाता था और 'उद्रंग' के साथ यह अभिलिखित होता था। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ था क्रमशः अस्थायी और स्थायी किसानों पर लगाया गया कर **'उपरिकर'** एक अतिरिक्त उपकर है और **'उद्रंग'** स्थायी द्वारा देय कर है। **'हालिककर'** (हल पर लगाया गया कर), 'वित्य' (विशिष्ट को छोड़ सभी कर जो दिया जानेवाला हो), **'तुल्यमेय'** (?), 'धन्य'—इन सबों का ठीक-ठीक अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। **'पिंडकर'** और **उदकभाग'** मौर्योत्तर अभिलेखों में नहीं आए हैं, जबकि उपरिकर, उद्रंग और हालिककर प्रथम बार गुप्तकालीन अभिलेखों में मिलते हैं।

IV

करारोपण से छूट

श्रोत्रियों (वेदज्ञ ब्राह्मणों) को करों से मुक्ति मिलती थी। इसी तरह मीमांसक और तार्किक भी छूट पाते थे। यह छूट ऐसे सभी व्यक्तियों को नहीं मिलती थी। स्पष्ट शब्दों में विधान किया गया है कि भूमिदान और अन्य दान अविद्वान ब्राह्मणों

को नहीं दिया जाए। जो ब्राह्मण अपने विहित कर्मों से च्युत हों, उन्हें यह छूट नहीं दी जाए। आचारहीन ब्राह्मणों को दंडित किया जाए, यहाँ तक कि उनपर बलि और विष्टि (बेगारी) भी थोपी जाए। जो ब्राह्मण और संन्यासी धर्म (नियम, कर्तव्य) का उल्लंघन करें, उन्हें जुरमाना किया जाय और जो जुआबाजी करें, उन्हें भी अर्थदंड मिलना चाहिए।

राजा की ओर से जारी की गई दान की सदनों में करारोपन से मुक्ति का उपबन्ध रहता था। कवच और अस्त्र बनानेवाले, जहाज बनानेवाले, शिल्पी (पंसारी) आदि करों के भुगतान से बरी तो रहते ही थे, साथ-साथ राजकोष से भरणपोषण (निर्वाह-भत्ता) भी पाते थे। दानग्राहियों को राजस्व से छूट दी जाती थी। कभी-कभी अशोक और खारवेल्ल जैसे राजा करों की भी छूट देते थे। किसी भी व्यक्ति को बरी करने का राजा को परमाधिकार रहता था। कर्षकों को राहत के रूप में करों का भुगतान माफ करना अर्थशास्त्र और महाभारत में वर्णित है।

महिलाएँ गुरु के आश्रम में रहनेवाले ब्रह्मचारी, शूद्र, अन्धे, बहरे, गूँगे और रोगी पुरुष भी करों से बरी थे। उन वस्तुओं पर शुल्क नहीं लगता था जो विवाह के लिए हों, जौतुक या दहेज के लिए हों, राजा के उपहार के लिए हों, यज्ञादि अनुष्ठान के लिए हों, प्रसव के लिए हों, यज्ञोपवीत के लिए हों आदि; उन वस्तुओं पर भी शुल्क की छूट थी जो एक कार्षापण से कम कीमत की हों, शिल्प से अर्जित हों, भिक्षा में बटोरी गई हों, बच्चों और दूतों की हों। राज्य ने कई तरह के लोगों को घटवाही (तरण-शुल्क) से भी छूट दी थी। मछूए, लकड़हारे, माली, पशुपाल, राजदूत, बीजवाहक, संन्यासी; बाल, वृद्ध, रोगी, गर्भवती और तीर्थयात्री घटवाही से मुक्त थे। कुछ राजाओं ने घटवाही से आम छूट दे दी थी, जैसा कि उसवदत्त के नासिक उत्कीर्णलेख से प्रकट होता है। विदेशी वस्तुओं का कारबार करनेवाले वणिक और नाविक छूट का अनुग्रह पाते थे और ऐसी छूट में 'व्याजि' बिक्री-कर से मुक्ति भी शामिल रहती थी। ऐसे वणिकों को व्यापार-करों की भी छूट मिलती थी, जैसे 'शुल्क' 'तरपण्य' और 'गुल्म'। आवश्यकतानुसार अन्यान्य रियायतें भी दी जाती थीं।

V

राजकीय व्यय की मदें

प्राचीन भारत में राजकीय व्यय के कुछ दिशानियामक सिद्धान्त थे। प्रजा का कल्याण राज्य का सर्वप्रथम विचारणीय था और खर्च की विशाल राशि कल्याणकार्यों में लगाई जाती थी। मनु के अनुसार राजा को प्रजा के कल्याणवर्धक

होना चाहिए। उशीनर ने कहा है—"मेरी सम्पत्ति मेरी प्रजा के लिए है। राजकीय व्यय व्यापक लोकहित में किया जाना चाहिए। अशोक के उत्कीर्णलेखों और यूनानी लेखकों से मौर्य राज्य के लोकोपकारी कार्यकलाप का पता चलता है। गौतम के अनुसार राजा को 'शेषभोगी' होना चाहिए। (अर्थात् प्रजा की भलाई के काम के बाद जो बचे उसी से अपना निर्वाह करना चाहिए)। अशोक ने इस बात पर जोर दिया है कि मितव्ययिता अच्छी है—"अल्पव्ययत साधु" (शैललेख III), अर्थात् वे न्यूनतम और मर्यादित व्यय के पक्षपाती थे।

कौटिल्य का सुझाव है कि राजा को कुल राजस्व के चतुर्यांश से ही अपने विभिन्न अधिकारियों द्वारा कर्मसम्पादन कराना चाहिए। राजाओं को सलाह दी गई है कि राज-काज में खर्च कम-से-कम किया जाए। राजकीय व्यय की सार्थकता इस कसौटी पर आँकी जानी चाहिए कि उससे समाज का कितना कल्याण हुआ तथा राजा के हाथ कितने आय-स्रोत आए। चूँकि राजस्व का संग्रह यथासाध्य हरेक स्रोत से किया जाता था, इसलिए राज्य उचित हो उसकी अधिक से अधिक राशि कल्याणकार्यों पर खर्च करता था। इस प्रसंग में कालिदास की सूक्ति उल्लेखनीय है—"जैसे सूर्य पृथ्वी से जल का ग्रहण सहस्र गुण करके उसे लौटाने के लिए ही करता है, उसी तरह राजा प्रजा से कर उसके कल्याण के रुप में लौटाने के लिए ही उगाहता है।" मनु के अनुसार, राजा इन्द्र की भाँति प्रजा पर कल्याण की वृष्टि करता है। खर्च में किफायत करने की अनुशंसा है। राजकीय व्यय की जाँच के लिए नियम निर्धारित थे।

कौटिल्य ने राजकीय व्यय की मदों का ब्योरा सुव्यवस्थित ढंग से दिया है। इसमें खर्च की ये मदें समाविष्ट हैं :

(1) देवपूजा, पितृपूजा और दान के समय शान्तिपाठ;
(2) अन्तःपुर (रनवास);
(3) पाकशाला;
(4) दूत;
(5) भांडागार;
(6) शस्त्रागार;
(7) संचयगृह;
(8) कच्चे मालों का संचय;
(9) वस्तु निर्माण;
(10) सेना-सम्भरण;

(11) गोधन और जन्तुशाला;

(12) जलावन और चारे का संचय;

व्यय की मदों में सामान्य प्रशासन, निर्धनों को राज्य की ओर से सहायता तथा अन्यान्य विविध कार्यकलाप भी शामिल थे। राजा को राजकीय कार्यकलापों, कर्मचारियों, शिकारियों, जहाजनिर्माताओं, कवचकारों पर तथा अधिकारियों के व्यापक दौरों पर (जैसे अशोक के मामले में) भारी खर्च उठाना पड़ता था। कौटिल्य ने कर्मचारियों के वेतन-भुगतान का जो पैमाना दिया है वह 60 पण से लेकर 48000 पण तक का है। पंतजलि ने 'भृतकमास' माहवारी मजदूरी का उल्लेख किया। है। महाभारत में भी मजदूरी के मासिक वितरण का हवाला है। व्यय का एक विशाल भाग सेना पर हजम होता था :

कमांडर—48000 पण,

कैप्टन—12000 पण,

चतुरंगाध्यक्ष—8000 पण,

सेना का वैद्य—2000 पण, और

प्रशिक्षित सैनिक—500 पण।

सैनिक अधिकारियों को प्रयाण के समय अग्रिम वेतन दिया जाता था। खेत आए सैनिकों को राज्य से मुआवजा मिलता था।

गरीबों की राहत के लिए भी योजना रहती थी। आपस्तम्ब ने कहा है—राज्य में किसी को भी गरीबी या उपेक्षा के कारण भूख और रोग की तकलीफ नहीं होनी चाहिए। गौतम के अनुसार, जो अपनी जीविका स्वयं अर्जन करने में अक्षम हो, उसका पालन राजा को करना चाहिए। धर्ममहामात्र लोग अनाथों और वार्धक्य वश असमर्थ हुए लोगों को राहत पहुँचाते थे (स्तले–VIII ; शैले–V.VIII) अशोक ने दरिद्रों और दुर्गतों के बारे में गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। कौटिल्य और मनु ने भी इस विषय में विवेचन किया है।

हुविष्क (105 ई०) के मथुरा प्रस्तर अभिलेख में कहा गया कि है—भूखों-प्यासों और अनाथ लोगों का भरणपोषण राज्य की ओर से किया जाता था। गौतमीपुत्र शतकर्णि ने प्रजा के कष्टों में सहानुभूति प्रकट की है। नागार्जुनीकोंड उत्कीर्णलेख (द्वितिय-तृतीय शताब्दी ई०) में दुर्गतों, दरिद्रों और अनाथों को अजस्त्र दान दिया जाना अभिलिखित है। राजकीय व्यय में भी विविध प्रकार के दयामूलक कार्यकलाप का समावेश रहता था। अनावृष्टि आदि संकटों के समय राहत के उपाय किए जाते थे। महत्त्वपूर्ण स्थानों पर खैराती भोजशालाएँ चलाई जाती थीं।

चिकित्सा-व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी। अशोक ने मनुष्य और पशु दोनों के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध किया था। कौटिल्य में पशु चिकित्सक का निर्देश है। सड़कों का निर्माण और मरम्मत राज्य का एक मुख्य कर्तव्य था। राज्य आराम, उद्यान और कूप बनवाता था, पेड़ लगवाता था, अतिथिनिवास बनवाता था और अन्यान्य लोकोपकारी सुविधाओं की रक्षा करता था। सिंचाई भी राज्य की एक प्रमुख जिम्मेदारी थी। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख और रुद्रदामन एवं स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शैल अभिलेख में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

दान और पूर्त (लोकोपकार) भी राजकीय व्यय के अंग होते थे। यह परिपाटी हर्ष के काल तक जारी रही, जैसा कि हुएनत्सांग लेखों से प्रमाणित होता है। मन्दिर, मठ, गुहा और स्तूप भी राज्य की ओर से बनवाए जाते थे और इन्हें निधियों का सौंपा जाना तो विदित ही है। राजकीय उत्सवों में अपार खर्च किया जाता था और राजा लोग शाही ठाट-बाट पर भी भारी खर्च करते थे। कुल मिलाकर, पूर्वकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में सामाजिक हितों को प्रमुख स्थान रहता था।

VI

मध्यकालीन राजस्व-स्रोत

पूर्व मध्यकाल में राजस्व की जो मदें थीं उनका वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

(1) भूराजस्व (छठे अंश से बारहवें अंश तक)—इसमें विभिन्न सामन्तों के बीच भारी अन्तर देखा जाता है।

(2) स्वर्ण राशि पर सम्पत्ति-कर (हिरण्य), पशु पर सम्पत्ति कर (पश्व), हल और रहट (अरघट), तेल मिल आदि पर कर।

(3) पेशा-कर।

(4) आयात-निर्यात पर चुंगी, पथकर, सेस और उत्पाद-शुल्क।

(5) नियमोल्लंघन (साहसापराध) के कारण लगाया गया प्रशासन-व्यय भार।

(6) बाग, वन, खान, मछलीगाह आदि के एकाधिकार से आनेवाला राजस्व।

(7) जागीरप्राय भूमियों से आय।

(8) विविध तहसील—घटवाही, बन्दरगाह शुल्क, तीर्थयात्री-कर आदि।

(9) स्थानीय प्रशासन के खर्च की पूर्ति के लिए लगाया गया कर ।

(10) अनियत कर—'तुरुस्क-दण्ड' एक असाधारण आय था ।

(11) सामन्तों से प्राप्य वलि ।

प्रतिहार राज्य में प्रचलित कर :

(1) **मावूत** (Mavuta)—सम्भवतः भाग के ढंग का अंशदान ।

(2) **खलभिक्षा**—खलिहान में लिया जाने वाला फसल का एक अंश, खलिहानी ।

(3) **प्रस्थक**—हरेक कुटुम्ब से एक-एक प्रस्थ की दर से लिया जानेवाला अन्न ।

(4) **मार्गानक** (?) ।

(5) **स्कन्धक**—दौरा करनेवाले अधिकारियों का सामान कन्धों पर ढोने का श्रमिकों का दायित्व ।

(6) **अपुत्रिकधन** (?) ।

(7) **नास्तिभरत**—एक प्रकार का मृत्युकर ।

(8) **चोल्लक**—भार का एक मान ।

(9) **उत्पद्यमानविष्टि** (एइ–IX, संख्या 1 बी)—बेगारी; या उससे उद्भूत या अवसर के अनुसार बेगारी लेने का अधिकार; तथा

(10) उत्पद्यमानविष्टि प्रत्यय—बेगारी के बदले लिया जानेवाला कर ।

बंगाल अभिलेखों में उल्लिखित कर :

(1) **चौरोद्धरणिक**—चोरों का उच्छिन्न करने का अधिकार, चोरों से रक्षा की व्यवस्था और चोरों से बरामद किया गया सामान ।

(2) **शुल्क**—चुंगी और पथकर ।

(3) तट—घटवाही ।

(4) हरज (Harajas)—बरेब (पान-बागान) से होनेवाली आय ।

(5) **कर**—समय-समय पर लगाया जानेवाला सामान्य सम्पत्ति-कर ।

(6) उपरिकर ।

(7) तरिक—घटवाही ।

परमार अभिलेखों में उल्लिखित कर :

(1) **शाकमुष्टि**—मुट्ठीभर सागभाजी ।

(2) **तैलवलक**—[illegible] छँटाक भर तेल ।

(3) **कुम्भपूरक**—घड़ा भर अनाज।

(4) **आकाशोत्पत्ति और पाताल**—यह पुराने उत्कीर्ण लेखों का 'भूतजात' रहा होगा—अचिन्तित रूप से अर्जित।

(5) कल्याणधन—शुभ अवसर पर संगृहीत।

चालुक्य अभिलेखों में उल्लिखित कर :

(1) **निधान** (?)।

(2) दानिभाग—भूराजस्व या समय-समय पर फल, जलावन आदि की आपूर्ति।

(3) **मार्गाणक**—ग्रामों पर लगाया गया सामान्य ढंग का कल्याण-कर—इस तरह की पुरानी उगाही स्थायी बना दी गई थी।

गाहड़वाल अभिलेखों में उल्लिखित कर :

(1) प्रयाणिककर (प्रवणिकर)—खुदरा-विक्रेता पर कर।

(2) कुमार गदिआंक—उत्सव के अवसर पर राजपुरुषों को दिया जानेवाला उपहार।

(3) कुलुक—हल पर कर।

(4) गोकर, जलकर, लवणकर—मवेशी, पानी और नमक पर कर।

(5) **यामलिकाम्बी** (?)।

(6) दसअन्धवीसतिअशुप्रस्थ, आकाशपाताल प्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ—सम्बद्ध अधिकारियों को ग्रामवासियों द्वारा देय जिन्सी कर।

(7) लोहलवणकर, मत्स्यकर—लोहे, नमक और मछली पर कर (ए इ–IV, पृ० 101)।

(8) वलदी—बैल पर कर।

(9) तुरुष्कदंड—जयचन्द्र के शासनकाल में समाप्त कर दिया।

(10) नियतानियतदाय—अन्यान्य नियत और अनियत प्राप्ति।

यह सूची परिपूर्ण नहीं कही जा सकती।

कलचूरि अभिलेखों में उल्लिखित कर (एइ-XXI. संख्या 15) :

(1) **प्रयाणिकदेय**
(2) रसवती
(3) **चारी**
(4) **कामता**
(5) **विषयिकदाय**
(6) **पट्टकीलदाय**

ये क्रमशः शिविर भूमि पर कब्जा करने, मवेशी चराने, ताड़ी चुलाने, और नदी पार करने के देय हो सकते हैं।

पाँचवाँ जिला द्वारा देय कहा जा सकता है।

छठा ग्रामवासियों द्वारा मुखिया को देय स्थानीय कर हो सकता है।

(7) **दुःसाध्यदाय**—दुःसाध्यों को सुधारने के लिए कर।

चन्देल्ल अभिलेखों में उल्लिखित कर :

(1) पशु—मवेशी पर कर।

(2) शुल्क—चुंगी।

(3) उचितानुचित देय।

ओड़िया अभिलेखों में उल्लिखित कर ;

(1) हस्तिदान—हाथी के पालनार्थ देय कर।

(2) वरवलीवर्ध—अच्छे बैल रखने के लिए कर।

(3) चित्तोल्ल (?)।

(4) अर्थरूव।

(5) प्रत्यस्थरूव।

(6) अदत्त।

(7) पदातिव्रजीव्य—पैदल सेना के सम्पोषणार्थ कर।

(8) अन्तरवद्दि
(9) रिण्टीकवद्दि
(10) वासवकी
(11) विषयाली
(12) अहिदंड
(13) हलदंड
(14) बन्धदंड
(15) वन्दापन

} यहाँ उल्लिखित लगभग सभी शब्दों का अर्थ लगाना या व्याख्या करना कठिन है।

(16) विजयवन्दापन।

चौहान अभिलेखों में उल्लिखित कर :

(1) तरल भाव्य—तरल को देय राजस्वांश।

(2) सेलहट्ट भाव्य—सेलहट्ट अर्थात् शैल्यहस्त को चुंगी घर से देय राजस्वांश।

(3) बलदिप भाव्य—बलाधिप को मिलनेवाला राजस्वांश।

(4) दान या आदान—चुंगी।

(5) लाग—लगान।

(6) आत्मपैल—भोक्ता को अर्थात् भूसम्पदा के धारक को मिलने वाला पैल।

(7) हलसदि—प्रति हल लगाने वाला कर।

(8) दसबन्ध—दशांश-कर या पेशाकर।

(9) निधान—गड़ा हुआ खजाना।

(10) आभ्यन्तर सिद्धि—खनिज-सम्पत्ति पर अधिकार।

(11) राजकीय भोग, उद्रंग, उपरिकर, दंड।

(11) घानक (घानी या तेल के कोल्हू से पावना)।

'लेखपद्धति में आए राजस्वसम्बन्धी शब्द :

(1) आगमनिगम दान—आयात-निर्यात कर।
(2) पथीयक—सड़क कर।
(3) राजभोग—राजा के लिए कर।
(4) मेधीहारक—खलिहान में लगने वाला एक विशेष कर।
(5) राजकीय—राजा सम्बन्धी कर।
(6) खलकीय—खलिहानी।
(7) हलम्प्रति—हल पर लगनेवाला कर।
(8) गामोत—ग्राम-पुरोहितों को देय कर।
(9) दानी—भूमि-कर।
(10) गोचर—चरागाह-कर।
(11) सगुणनिदान—सड़क-सेस।
(12) दान—सड़क-सेस, चुंगी।
(13) कर्पटपाद—उपहार।
(14) दशबन्ध—दशांश कर।
(15) व्यवहार पद—वणिकों पर लगाया गया कर।
(16) वेहोतक—हल पर कर।

(17) मनदावी (माण्डविक)—बाजार में बिकनेवाली वस्तु पर लगने वाला कर—एक प्रकार का चुंगी कर भी इसका अर्थ हो सकता है।

(18) भोग—सम्पत्ति के भोग पर कर।

(19) मंगलीयक—मांगलिक अवसर पर लिया जानेवाला कर।

(20) तलरभाव्य—(?)

(21) वोलापना—वणिकों के माल की रक्षा के लिए कर।

अलबेरूनी के अनुसार गोचर एक अच्छा राजस्व-स्रोत था। 'देशबन्ध' देवदासियों से भी लिया जाता था। वेश्याओं पर कर लगाने की बात उसी समय से है जब से तीर्थों और मन्दिरों पर कर लगे। जुआ भी राजस्व का एक स्रोत था।

VII

राजस्व-प्रशासन

कौटिल्य ने दक्षता, ईमानदारी और समयनिष्ठता पर बल देते हुए एक न्याय्य नीति के जरिए वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था का प्रतिपाद किया है। मौर्यों के काल में आकर देश के राजस्व-प्रशासन में एक नवीन युग का अवतरण हुआ। कौटिल्य ने लेखा तैयार करने, पेश करने और उसकी जाँच करने के बड़े ही विस्तार के साथ ब्योरेवार नियम दिए हैं। आय के तीन वर्ग किए गए हैं :

(क) चालू,
(ख) पूर्व शेप, और
(ग) आकस्मिक।

आय को बढ़ाते और व्यय को घटाते हुए राजस्व की तहसील एक चतुर महासमाहर्ता द्वारा कराई जाती थी। राजस्व-विभाग में बहुत सारे 'अध्यक्ष' (आज के अधीक्षक) थे। यूनानी लेखकों ने निम्नलिखित राजस्व-अधिकारियों का उल्लेख किया है :

(1) पारिषद् (काउन्सिलर), अभिनिर्धारक (एसेसर), विचारक (डेरिबरेटर) या परामर्शदाता (सचिव या अमात्य)।
(2) राज्य के कोषपाल (ट्रेजरर) और कोषाध्यक्ष (कोषागार अधीक्षक)।
(3) ऐग्रोनोमोइ (जिला-अधिकारी)।
(4) ऐस्त्योनोमो (नगर-अधिकारी।
(5) नौसेना-अध्यक्ष।
(6) निरीक्षक और अधिदर्शक।

सन्निधाता—परिषदों और अभिनिर्धारकों (एसेसरों) को गवर्नर-सहित राज्य के सभी ऊँचे अधिकारियों के बराबर व्यापक शक्ति रहती थी। राज्य के कोषपालों और कोषागार-अधीक्षकों (कोषाध्यों) में कौटिल्य के 'सन्निधाता' (सम्राट् के खजाने का प्रधान) नाम से प्रसिद्ध एक अधिकारी होता था। उसकी सहायता के लिए कार्यक्षम कर्मचारी-वर्ग रहता था और उसे बाहरी एवं भीतरी दोनों आय का पूर्ण ज्ञान रहता था। उसका पद 'गंजावर', 'कोषागारिक', 'भांडागारिक' आदि नामों से मौर्योत्तर उत्कीर्णलेखों में भी विदित है, और भांडागारिक की वृत्ति-संघों में बड़ी प्रतिष्ठा थी। ऐग्रोनोमोइ और ऐस्त्योनोमोइ तथा सैनिक कार्यों के अन्य प्रभारी इन सबों का एक सामान्य पदनाम 'दंडाधिकारी' था। ये कौटिल्य के कुछ 'अध्यक्षों' (अधीक्षकों) के तुल्य कहे जा सकते हैं। ऐसे विभागीय प्रधानों

की मदद के लिए लेखापाल ('सौख्यायक'), किरानी ('लेखक'), **सिक्का-परीक्षक** ('रूपदर्शक') और कोषपाल ('नीविग्राहक') रहते थे। एग्रोनोमोइ (जिला अधिकारी) नदियों को दुरुस्त रखते थे; जमीन को माप कर रखते थे; नहरों का निरीक्षण करते थे; करों की तहसील करते थे और अपने इलाके से सम्बद्ध शिल्पों (कारखानों) की देखभाल करते थे। इनके काम-काज का निकट सम्बन्ध 'रज्जुकों' से रहता था, जो शायद जिला-अधिकारी होते थे और जिनके काम स्त्राबो के 'मैजिस्ट्रेटों' के काम के अनुरूप थे। एग्रोनोमोइ को जो निग्रहानुग्रह (सजा और इनाम देने) की शक्ति, थी इससे वह 'रज्जुकों' के तुल्य-जैसा हो जाता है जिन्हें राजस्व और न्याय दोनों काम सौंपे गए थे। **चुटुशातकर्णि** द्वितीय के एक तृतीय शताब्दी के उत्कीर्ण लेख से विदित होता है कि एग्रोनोमाइ कर-निर्धारण, भूमि-विवाद और तहसील आदि के कामों से सम्बद्ध थे।

ऐस्त्योनोमोइ—यह नगर-नियन्त्रक होता था। नगर-प्रशासन पाँच-पाँच सदस्यों की छह समितियों में बँटा था। कौटिल्य में 'नगराध्यक्ष' और अशोक के अभिलेखों में 'नगलक' या 'नगलवियोहलक' शब्द आए हैं जो 'नगरक' के पर्याय हैं। कौटिल्य के अनुसार नगरक का काम था नगर में करों की तहसील करना और इसमें उसकी सहायता करनेवाले थे गोप और स्थानिक। मैजिस्ट्रेट सेनासम्बन्धी कामों के नियन्त्रक होते थे, जो कौटिल्य के नवाध्यक्ष के प्रतिरूप थे। ओवरसियर और इन्सपेक्टर अशोक के अभिलेखों के **पतिवेदक** (प्रतिवेदक) के तुल्य थे तथा कौटिल्य के गूढ़ पुरुषों और चारों के ये राजस्वसम्बन्धी गूढ़ चर्या (अनुसन्धान) से सम्बद्ध थे। गूढ़ पुरुषों (गुप्तचर्या-अधिकारियों) को गाँव में हुए भूमि-दानों की भी सूचना दी जाती थी। राजस्व-गूढ़चर्या (रेवेन्यू इन्टेलिजेन्स) पूर्वकालीन भारतीयों का एक नवोदतवित कदम थी।

अशोक ने सुसंघटित राजस्व-प्रशासन की पद्धति चलाई और **'अन्तमहामात्रों;** **'प्रादेशिकों'** और 'युतों' को नियुक्त किया जो राजस्व एवं मौद्रिक प्रशासन से सम्बद्ध थे।

(i) **अन्तमहामात्र'** सरहदों (सीमान्तों) के अफसर होते थे। कौटिल्य ने इन्हें अन्तपाल कहा है।

(ii) **'प्रादेशिक'** दिहाती क्षेत्रों से बलि तहसीलते थे, गोपों एवं स्थानिकों के काम का निरीक्षण करते थे तथा अध्यक्षों पर नियन्त्रण रखते थे। वे हर पाँच सालों पर दौरा करते थे।

(iii) **'युत'** कौटिल्य के युक्त हैं। ये कर्षकों से चुने जाते थे और बलि की तहसील करते थे।

ये सभी अधिकारी राज्य की निधि और राजा की सम्पत्ति से सम्बद्ध थे और खोई हुई सम्पत्ति के प्रभारी भी होते थे। इन्हें जिला कोषाधिकारी भी कहा गया है जो राजा की सम्पत्ति का प्रबन्ध करते थे, राजस्व प्राप्त करते थे और उसका लेखा-जोखा रखते थे और ऐसी मदों में खर्च भी कर सकते थे जिनसे राजस्व में बढ़ोतरी हो सकती हो।

कौटिल्य ने राजस्व-प्रशासन से सम्बद्ध निम्नलिखित अधिकारियों की सूची दी है :

(1) **'गोप'**—ये ग्राम-प्रमुख से ऊपर होते थे। पाँच से दस-दस तक गाँव इनके अधिकार में होते थे। ये ग्राम लेखाकार के रूप में काम करते थे। इनके कर्तव्य थे :

(क) हर प्रकार के दान, धर्मस्व (खैरात), बिक्री और छूट का पंजीयन करना;

(ख) सीमा-चिह्न बैठना;

(ग) अपने इलाके के सभी परिवारों के आय-व्यय का सविस्तर लेखा-जोखा रखना;

(घ) निवास-गृहों की परिगणनात्मक सूची रखना;

(ङ) उक्त सूची में यह निर्देश करना कि कौन-कौन परिवार कर-योग्य है और कौन-कौन कर-मुक्त, तथा यह बताना कि ऐसे हर कर-योग्य परिवार से बलि, बेगारी, शुल्क, दंड आदि किन-किन मदों में कितना-कितना कर लेना है [अशा-II. 35]।

(2) **'स्थानिक'**—ये जिला स्तर के अधिकारी होते थे और आठ सौ गाँवों का लेखा-जोखा रखते थे।

(3) **'अध्यक्ष'**—शुल्काध्यक्ष शुल्क (चुंगी) की देखभाल करनेवाले होते थे। ये शुल्क-शाला (चुंगी घर) में आयात और निर्यात के माल पर चुंगी वसूलते थे। **कोष्ठागाराध्यक्ष** भंडार-घर का प्रभारी होता था। इसके कर्तव्य थे तरह-तरह के अनाजों की बिक्री, खरीद और विनिमय करना तथा दिहातों से आने वाले नकदी एवं जिन्सी करों की देख-भाल करना। **अक्षपटलाध्यक्ष** महालेखाकार होता था तथा वह मुद्रा एवं लेखा दोनों का प्रभारी होता था। वह राज्य के विभिन्न विभागों द्वारा प्रस्तुत राजस्व का ब्योरेवार लेखा रखता था।

(4) **'समाहर्ता'**—अर्थशास्त्र (II. 15) में यह भी कहा गया है कि समाहर्ता चुने हुए ग्रामों में निरीक्षक को भेजेगा जहाँ वह इस बात की जाँच करके रिपोर्ट देगा

कि किन-किन कुटुम्बों पर कितना-कितना कर किन-किन मदों में लगाया गया है और कौन-कौन-सी छूटें दी गईं। समाहर्ता वित्त-विभाग का प्रधान होता था। उसकी जिम्मेवारी होती थी—

(क) विभिन्न स्रोतों से राजस्व की तहसील करना;

(ख) आय, व्यय तथा राजभवन के पूरे लेखा-जोखा की देखभाल करना;

(ग) राज्य की आय प्राप्त करने और उसे बढ़ाने का रास्ता ढूँढ़ना।

मौर्योत्तर-काल में हमे निम्नलिखित राजस्व अधिकारी ज्ञात हैं—

(1) **गौल्मिक**—गुल्म का प्रभारी; गुल्म का अर्थ है चुंगी वसूलने वाले सिपाहियों का नाका।

(2) **विंशतीस**—बीस ग्रामों का मालिक।

(3) **शतेश या शताध्यक्ष**—सौ ग्रामों का मालिक। ये दोनों अपने-अपने इलाकों में होने वाले आय-व्यय का पर्यवेक्षण करते थे। राजस्व प्रशासन से सम्बद्ध और अधिकारी थे—

(4) **राजकर्म्मिक**;

(5) **बलिसाधक**;

(6) **आकाशीय**;

(7) **तुन्दीय**;

(8) **अग्धकारक**; आदि।

यह देखना राज्य की नीति था कि आय के विविध स्रोतों का कुशल प्रबन्धन और पर्यवेक्षण ऐसे अधिकारियों से कराया जाए जो परितुष्ट हों, विश्वास पात्र हो, अटल ईमान वाले हों तथा आय को बढ़ाने की युक्तियाँ जानते हों। विभाग के जिला स्तरीय अधिकारियों के लिए दंड-विधान निर्धारित था। राज्य के अधिकारी पूरी चौकसी के बावजूद, कई तरह के दुर्वृत्त करते थे और राज्य के धन को हड़पते थे। राजस्व विभाग ठोस तौर से संघटित था। आषाढ़ के अन्त में वार्षिक लेखा पेश किया जाता था। राजस्व की हर मद की आय और व्यय की पूरी तरह जाँच की जाती थी।

पूर्वतर मध्यकाल में लगता है भूराजस्व की तहसील की जिम्मेवारी ग्राम के मुखिया पर थी। वाचस्पति मिश्र (नौवीं शताब्दी ई०) ने कहा है ग्राम-पति विभिन्न परिवार-प्रधानों से राजस्व संगृहीत कर विषयपति को अर्पित करता था। विषय पति सर्वाध्यक्ष को देता था और सर्वाध्यक्ष राजा को। दुर्बल राजाओं के शासन काल में कुछ ग्राम-प्रधान राजस्व तहसील कर स्वयं रख लेते थे और सामन्त जैसा व्यवहार करने लगते थे। हेमचन्द्र ने कहा है कि राजस्व का कुछ अंश ग्रामपति पाता था।

'लेखपद्धति' के अनुसार, 'पंचकुल' प्राइवेट व्यक्तियों को ग्राम पट्टक (गाँव का पट्टा) देता था, जो सारे ग्राम के लिए नकद एक मुश्त भूमि राजस्व चुकाने का वादा करते थे। शुल्क (चुंगी) की तहसील शुल्क मण्डविक करते थे। कश्मीर में चुंगी की तहसील थाना (द्रंग) में की जाती थी। करों की तहसील के लिए अलग अधिकारी बहाल रहते थे।

लेखा-विभाग वित्त-प्रशासन का एक मार्मिक अंग था। जहाँ तक राजस्व की तहसील का सवाल है, धर्मशास्त्रीय नियम (षष्ठांश से द्वादशांश तक) व्यवहार में नहीं था। 'मानसार' ने विभिन्न कोटि के राजाओं और सामन्तों द्वारा ग्राह्य राजस्वों की क्रमिक वर्धमान दर की एक सूची दी है। शुक्र के अनुसार, राजस्व-प्रशासन के लिए दो अधिकारी अलग-अलग नियत थे—(i) 'सुमन्त्रक', जो आय एवं व्यय की जानकारी रखता था तथा (ii) 'अमात्य', जो भूमि और दस्तावेजों की जानकारी रखता था।

शुक्र ने वित्त के आधार पर राज्य का कोटि निर्धारण निम्नलिखित रूप से किया है

(1)	सामन्त	1,00000 से 3,00000 कर्ष तक
(2)	माण्डलिक	3,00000 से 10,00000 ,,
(3)	राजन्	10 लाख से 20 लाख ,,
(4)	महाराज	20 लाख से 50 लाख ,,
(5)	स्वराट्	50 लाख से 1 करोड़ ,,
(6)	विराट्	1 करोड़ से 50 करोड़ ,,
(7)	सर्वभूम	50 करोड़ और उससे अधिक ,,

कुछ छोटे-छोटे राजा उपज की दो-तिहाई तक वसूलते थे। जो सामन्त जितने ही नीचे तबके के होते थे, उन्हें अपने प्रभु को उतनी ही अधिक बलि चुकानी पड़ती थी। अक्सर अनधिकृत सामन्त भी राजनैतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर ग्रामवासियों से कर वसूलते थे। फलतः कर का बोझ बहुत बढ़ गया था। दक्षिण भारत में चोलों के राज्य में कर ग्रहण पद्धति में कुछ ऐसी विशेषताएँ पाते हैं जहाँ तहसीलने में कठोर तरीका अपनाया जाता था। सेना कर न चुकाने के कारण कुछ लोगों को पानी में और धूप में खड़ा करती थी। कई तरह के नाजायज पावने बहुत-से व्यक्तियों से वसूले जाते थे। किसानों को बहुत मात्रा में कर का बोझ ढोना पड़ता था।

●

अध्याय 12

मुद्रा, बैंकिंग और महाजनी

मुद्रा

आदिम काल में जीवन का आधार था शिकार करना और खाना बटोरना। बाद में आहार तथा अन्य कामों के लिए पशु पाले जाने लगे। कालक्रमेण आदिम समाज में आर्थिक सम्बन्ध का जन्म हुआ और समाज के आर्थिक आयास में विनिमय के साधन की जरूरत महसूस हुई, किन्तु यह विनिमय वस्तु-विनिमय तक ही सीमित रही। फिर भी वस्तु-विनिमय के अलावा, व्यापक रूप से उपादेय कुछ वस्तुएँ विनिमय के मानक माध्यम के रूप में चलने लगीं, जैसे गाय, अन्न, घोड़ा, खाल आदि। ये माध्यम अलग-अलग समाजों में अलग-अलग थे। अमीरों के बीच गाय उपयुक्त मानक थी। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में एक साल की बछिया सोम की एक नियत मात्रा का मानक प्रतिवस्तु मानी गई है। सिक्के का न होना सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में बड़ा अवरोधक था।

इन कठिनाइयों के समाधानार्थ मुद्रा की आवश्यकता महसूस की गई, और सुवाह्य एवं सुविधाजनक मानक के रूप में कई धातुएँ चलाई गईं। आरम्भ में सोना, चाँदी और ताँबा पिंड या राशि के रूप में विनिमय का माध्यम बनाया गया। बाद में जारी करनेवाले विभिन्न प्राधिकार ऐसी धातु पर अपनी-अपनी मुहर या प्रतीक लगाने लगे।

सिन्धु घाटी में उच्च सभ्यता सम्पन्न नागरिक जीवन विकसित हुआ, जिस का पश्चिम से व्यापार वाणिज्य चलता था। इस बात की पुष्टि लोथल और अन्य स्थानों में हुई खुदाई से भी होती है। आरम्भ में व्यापार प्रत्यक्ष विनिमय (वस्तु से वस्तु बदलने) के रूप में चला और व्यापार के चलते मुद्रा की आवश्यकता महसूस हुई। ये आर्य-पूर्व लोग विदेश व्यापार में अपने आर्थिक व्यवहारों में अवश्य ही किसी निश्चित माध्यम का उपयोग करते रहे होंगे। उनमें कोई-न-कोई मुद्रा-प्रणाली अवश्य उद्भूत हुई होगी। विभिन्न तरह के चिह्नों और लक्षणों वाले विविध सीलों का उपयोग विनिमय के माध्य के रूप में या अन्य आर्थिक क्रिया-कलापों के सिलसिले में अवश्य ही होता रहा होगा। जो हो, लेकिन यह है केवल

अटकलबाजी, क्योंकि हम निश्चित रूप से यह बताने की स्थिति में नहीं हैं कि सिन्धु घाटी के लोगों का वास्तविक विनिमय-माध्यम क्या था। इतना निश्चित है कि वैसी महान् सभ्यता किसी-न-किसी मुद्रात्मक अर्थव्यवस्था के बिना विकसित न हो सकती है।

आर्यों में पशुपालन एवं कृषि दोनों की मिली-जुली अर्थव्यवस्था थी जिसमें मवेशी का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्यजन पशु की वृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे, क्षत्रियजन पशु को विजयोपलब्धि मानते थे और पुरोहित लोग पशु के रूप में दान-दक्षिणा पाते थे। गाय मानो मुद्रा का रूप ले चुकी थी और कभी-कभी मान का निर्धारण गायों की संख्या से किया जाता था और जिसको जितने अधिक पशु होते थे, वह उतना अधिक धनवान् समझा जाता था। वैदिक-काल में वस्तु-विनिमय व्यापार का सामान्य ढंग था, किन्तु एकदम रूखड़े एवं आदिम रूप में सिक्के भी ज्ञात और कुछ-कुछ प्रचलित थे।

निष्क (या स्वर्णहार) सिक्के का प्राचीनतम निर्देश है। मूलतः इसका अर्थ था सोने का एक गहना जो गले में लटकाया जाता था (**निष्कग्रीव**)। मुद्रा के रूप में इसका निर्देश **ऋग्वेद** में वहाँ आया है जहाँ एक गायक एक सौ निष्क तथा एक सौ घोड़े पाने का उल्लास मनाता है। एक जगह चालीस हजार सिक्कों का और दूसरी जगह आठ हजार सिक्कों का उल्लेख हुआ है (**ऋग्वेद** VIII. 2. 41)। स्वर्ण-मुद्रा और कंठाभरण के रूप में निष्क का प्रयोग बारंबार मिलता है और जातकों में यह 'निक्ख' कहा गया है। निष्क सिक्का रूपी मुद्रा को कहते थे और यह सोने का होता था। लगता है निष्क काफी कीमती होता था, क्योंकि कहा गया है कि हर ब्राह्मण को एक-एक निष्क दिया गया। सोने के अन्य सिक्के थे **शतमान, पाद, कृष्णल, गुण्य** आदि।

वैदिक साहित्य में काम्य वस्तुओं में '**मान**' का भी उल्लेख हुआ है। चाँदी के सिक्कों और चाँदी निष्कों का भी उल्लेख आया है। वैदिक युग में चाँदी का सिक्का रयिस् कहलाता था (ऋग्वेद V. 33. 6)। सोने का गोला हिरण्यपिण्ड भी सिक्के की तरह चलता था (ऋग्वेद VI. 7. 22-23)। कोष और हिरण्यपिण्ड शब्द बड़े महत्त्व के हैं। सोने और चाँदी के विभिन्न वजनों और मानों के सिक्के लोगों में विनिमय के माध्यम के रूप में चलते थे। वैदिक जनों ने सोने, चाँदी और ताँबे की प्रचुरता के बदौलत अपने सामाजिक-सह-आर्थिक जीवन के सार को काफी समुन्नत किया और किसी-न-किसी ढाँचे का मुद्रात्मक लेनदेन का विकास किया। धातु के तरह-तरह

के सिक्के आर्य-जनों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे और भारत के लोग सिकन्दर के काल के बहुत पहले ही सिक्का ढाला करते थे।

'निष्क' का वजन स्मृतियों में उल्लेखित है। विष्णु, याज्ञवल्क्य और मनु ने निष्क का मान चार 'सुवर्ण' के बराबर बताया है और सुवर्ण तीन सौ बीस 'कृष्णल' के बराबर होता था (320 × 4)। निष्क और मान के अलावा, सोने और चाँदी के अन्य सिक्के थे कृष्णल और शतमान। कृष्णल को हिरण्यकृष्णल भी कहते थे। कृष्णल एक स्पर्द्धा में भाग लेनेवाले को इनाम दिया गया। सोने और चाँदी के शतमान, जो वजन में एक सौ रत्ती (180 ग्रेन) के बराबर होते थे और उसके खंड विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलित थे। शतमान का विभाजन अर्द्धशतमान अर्थात् पचास रत्ती (=45 ग्रेन) और पावार्धशतमान अर्थात शतमान के आठवें हिस्से (साढ़े बारह रत्ती या साढ़े बाइस ग्रेन) के रूप में किया गया। 'ब्राह्मणों' में शतमान का मूल्यांकन किया गया है। पाणिनि, मनु और याज्ञवल्क्य ने धातु मुद्रा के रूप में तथा आर्थिक दृष्टि से शतमान के महत्त्व का सविस्तार विवेचन किया है। शतमान, हिरण्य और निष्क का व्यवहार खरीद-बिक्री में होता था।

धातु के सिक्कों के साथ-साथ वस्तु-विनिमय-प्रणाली भी चालू थी। यह रामायण में निष्क्रय कहा गया है। बहुधा मुद्रा के रूप में गाय के मूल्य का उल्लेख है। कृषिमूलक अर्थतन्त्र में गाय का अपना खास महत्त्व है। यज्ञ की दक्षिणा में गाय और मुद्रा दोनों दी जाती थीं। गाय किसी वस्तु के मूल्य का मान-दण्ड मानी जाती थी। इस काल में निष्क सबसे प्रचलित सिक्का था। चाँदी के सिक्के (रजत) भी विनिमय के साधन के रूप में चलते थे। बाद में ताँबे के सिक्के भी चले। मुद्रा वस्तुओं के मूल्य के प्रतीक के रूप में चलने लगी।

बौद्ध ग्रन्थों में एक सिक्के के अर्थ में कहापण (कार्षापण) का उल्लेख है। बौद्ध आचार्यों को सोने, चाँदी, काँसे और ताँबे के सिक्के ज्ञात थे और ये सिक्के हैं कंस, पाद, मासंक, काकणिक, कार्षापण आदि और इनके मूल्य स्थान और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न थे। 'विनयपिटक' (III. 45) के अनुसार पाँच मासकों का एक पाद होता था। व्यापारिक लेन-देन में मुद्रा की एक सुव्यवस्थित प्रणाली का प्रचलन बौद्ध काल का एक बड़े महत्त्व का विषय था। यद्यपि वस्तु विनिमय की पद्धति चालू रही, तथापि विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्के भी चलते थे, तथा स्वर्ण पिंड एवं रजत पिंड भी चलते थे। भारतीयों ने दारा (Darius) को स्वर्ण पिंड के रूप में नजराना (ट्रिब्यूट) दिया था, जैसा कि हेरोडोटस ने बताया है।

प्रतीत होता है कि ई० पू० छठी शताब्दी आते-आते धातु-मुद्राज्ञात और प्रचलित हो चुकी थी और हथौड़े से पीटकर बनाए गए धातु के चदरों को आयताकार या गोलाकार काटकर सिक्के बनाए जाते थे। ऐसे धातु-खण्डों के ऊपर ठप्पे ठोक कर प्रतीक-चिह्न लगाए जाते थे; इसीलिए इसका नाम 'आहत मुद्रा' (punch marked coin) हुआ। देश के विभिन्न भागों से हजारों आहत मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। लेखरहित आहत मुद्राएँ ई० पू० छठी शताब्दी से बनने लगीं और कई शताब्दियों तक चलती रहीं। बौद्ध साहित्य में सिक्कों के प्रचलन के बारे में काफी ब्योरा मिलता है। बनारस के एक बनिया को अस्सी करोड़ रुपया था। अनाथ पिण्डक ने जेतवन स्थल पर लगभग चौबन करोड़ सुवर्ण (सोने के सिक्के) खर्च किए। लोग मुद्रा-विज्ञान के सिद्धान्तों के प्रयोग में दक्षता के उच्च स्तर पर पहुँच चुके थे, वे मुद्रा की विधिमान्यता (लीगल टेंडर) का तथा मानक एवं प्रतीक सिक्का निर्माण की जटिलता का मर्म समझ चुके थे।

रैप्सन, ऐलेन आदि विद्वानों ने पूर्वकालीन भारतीय आहत मुद्राओं पर विदेशी प्रभाव ढूँढ़ने का प्रयास किया है, किन्तु उन लोगों का मत ग्राह्य नहीं है, क्योंकि हमें मालूम है कि आहत मुद्रा का उद्भव बहुत ही पहले आदिम रूप में हुआ है। सूर्य, पर्वत, वृक्ष, मानवाकृति, कुत्ता, बिच्छू, साँप, खरहा आदि प्रतीकों से प्रकट होता है कि आहत मुद्राएँ ई० पू० छठी शताब्दी से पहले ही निर्गत हुई। ये भारत के अपने सिक्के हैं और शायद ये ही ग्रन्थों में उल्लिखित शतमान हैं। वाल्श का विचार है कि इन आहत मुद्राओं पर जो प्रतीक मिलते हैं, वे मोहेनजोदरों के सीलों के चित्रों की परम्परा का अनुवर्तन मात्र है।

कोसाम्बी (डी० डी०) का मत है कि सूर्य साम्राज्य का प्रतीक है, चापों पर अर्धचन्द्र मौर्यों का प्रतीक है और वह राजसत्ता से सम्बद्ध है।। वे यह भी मानते हैं कि यह प्रतीक एक राजवंश से सम्बद्ध है तथा चक्ररहित मानवाकृति वाला प्रतीक आदिमजातीय गणराज्य का सूचक है; तीन अंड गोलक और एक स्पर्श रेखा वाला प्रतीक अशोक का है जो बहुत मिलता है और लम्बे शासन का सूचक है। यह कभी-कभी बिन्दुसार के सिक्के पर भी पाया जाता है और चापों पर स्थित मयूर शायद मौर्यों के गोत्र चिह्न मयूर से सम्बद्ध है। फाउचर का मत है कि सिक्कों पर हाथी और साँड़ के चित्र मौर्यों के बौद्ध धर्म से सम्बन्ध का सूचक है। वृक्षमय घेरा (ट्री-इन-रेलिंग) सम्बोधिका प्रतीक है और चाप निःसन्देह बौद्ध स्तूप को ध्वनित करता है।

सूर्य और षट्कोण प्रतीक नन्द के आहत सिक्कों पर काफी नियत रूप से मिलता है और वे क्रमशः राजा और कोषाध्यक्ष (जैसे कौटिल्य के 'लक्षणाध्यक्ष' और 'रूपदर्शक') के संकेत हो सकते हैं। भारत को बहुत पहले से ही सिक्कों पर राजकीय परमाधिकार और एकाधिकार का महत्व मालूम था। सम्भवतः नन्दों ने भारी मात्रा में सिक्के जारी किए और ये सिक्के नियमित क्रम से जारी होते रहे। वृत्तिसंघ भी सिक्के चलाते थे। कुछ मामलों में राजा दूसरों को भी सिक्का चलाने की अनुमति देते थे।

कौटिल्य ने विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्कों के व्यापक प्रयोग का निर्देश किया है; जैसे

(i) **पण**—चाँदी का सिक्का, जो एक, आधा, पाद (चौथाई) और अर्ध पाद (अष्टमांश) के मान में होता था;

(ii) **माषक**—ताँबे का सिक्का, यह भी उपर्युक्त मानों का होता था, और इसके चतुर्थांश का नाम काकिनी था।

बड़े-बड़े कारबार चाँदी के पणों में होते थे और अधिकारियों के वेतन पणों में मिलता था। आहत मुद्राएँ और ताँबा दोनों की चलती थीं। टकसाल होता था और इसके लिए एक अधिकारी नियुक्त रहता था। मुद्रा का संचालन अभिज्ञतापूर्वक किया जाता था। मौर्यकाल में मुद्रामूलक अर्थ-व्यवस्था थी, यह निर्विवाद है। कौटिल्य के द्वारा निर्धारित दंडों से सोने और चाँदी के मूल्य का पता चलता है। ताँबे और चाँदी के बीच तथा चाँदी और सोने के बीच विनिमय-दर समय-समय पर बदलती रही है। विभिन्न धातुओं के सिक्कों का मूल्य तद्गत धातु के मूल्य के बराबर होता था। सोने और चाँदी के सिक्कों के ताम्रपण के रूप में विनिमय की दर समय-समय पर बदलती रही है।

निगम (नगर या शहर) से मातहत व्यापारियों और महाजनों के प्राधिकृत संघ चाँदी के पण जारी करते थे। मनु से ज्ञात होता है कि जुरमाना चुकाने में सोने के छोटे सिक्कों (टुकड़ों) का प्रयोग होता था। एक दूसरे अवसर पर सोने के माषक का भी प्रयोग मिलता है। सोने और चाँदी के बीच विनिमय का अनुपात 1 : 1: था और चाँदी तथा ताँबे के बीच विनिमय दर 1 : 16 या 1 : 20 थी। गुप्त काल में सोने और चाँदी के सिक्के विधिमान्य मुद्रा थे। सोने के दो तरह के सिक्के जारी हुए, एक का वजन इंडोसीथियन दीनार के बराबर था और दूसरे का वजन मनु के विधान के अनुरूप। नासिक गुहा-लेख सं० 12 में सुवर्ण और कार्षापण

के बीच विनिमय की दर 1 : 35 उल्लिखित है। नारद से संकेत मिलता है कि दक्षिण भारत में कोर्षापण एक रजत-पण था। सोने और चाँदी के बीच विनिमय की दर 1 : 30 और 1 : 48 के बीच झूलती रही।

मौर्योत्तर काल में मिनान्दर और अपोलोदोतस के अधीन भारतीय यवनों ने विशाल पैमाने पर वाणिज्य किया था और भरुकच्छ में उनके सिक्के पाए गए हैं। यह गौर करने की बात है कि चतुर्द्रम्म (टेट्राड्रैम) अपेक्षाकृत अधिक प्रचुर हैं और द्रम्म से अधिक प्रचलित भी हैं और इससे सिद्ध होता है कि पश्चिमी दुनिया के साथ व्यापार उन्नति की ओर था। शकों, पह्लवों और कुषाणों ने भी सिक्के जारी किए जो मोटे तौर पर भारतीय यवनों के ढर्रे पर हैं। कुषाण सबसे पहले स्वर्ण मुद्रा जारी करने वाले हुए। यह सिलसिला वेम कदफिसेस (Weima Kadphises) के काल से कुछेक पीढ़ियों तक चालू रहा।

रोमन और कुषाण दोनों ने अपने टकसाल में सिकन्दरिया से आए कारीगरों की सहायता ली थी और यही कारण है कि इन दोनों सम्राटों की स्वर्ण मुद्राओं में मानों के विषय में भी इतनी समानता है। कुषाणों ने अपने दीनारों के मानक वजन को अपने शासन काल में प्रचलित चाँदी के सिक्कों से मेल बैठाने के लिए सोने और चाँदी के तत्कालीन मूल्यानुपात में समंजित किया। छोटे-छोटे कारोबार वस्तु-विनिमय द्वारा होते थे या कुषाणों के ताँबे के सिक्कों द्वारा। सातवाहनों ने राँगे और पोटिन (घटिया चाँदी) के सिक्के बनाए।

गुप्तों के शासन-काल में सोने के सिक्के बड़े प्रचलित हुए। देश के विभिन्न भागों में अबतक गुप्तकालीन मुद्राओं के कम-से-कम सोलह गुप्त संचय प्राप्त हो चुके हैं। प्राचीन भारत में धन जमा करने का प्रचलित तरीका यही गुप्त संचय (होर्डिंग) था और ऐसे गुप्त-संचय का उद्देश्य अवश्य ही किसी भावी आकस्मिक व्यय भार या आपत्काल से निपटना रहता था। मुद्रा-विनिमय नियमित रूप से चलता था और इससे लोगों की दैनन्दिन आवश्यकता की पूर्ति होती थी। मुद्रा की कीमत तद्गत धातु के समरूप भार पर निर्भर थी। पूर्व गुप्तकालीन सिक्कों का प्रतिमान वही था जो उनके उत्तर कुषाण सिक्कों का। स्कन्दगुप्त के शासन के अन्त-काल में, सोने के सिक्के अधिक भारी होने लगे, किन्तु सोने का हिस्सा घटने लगा। ज्यों-ज्यों आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी और हूणों के बारंबार आक्रमण से आर्थिक संकट उपस्थित होने लगे, त्यों-त्यों सिक्कों में स्वर्णांश घटता गया।

स्कन्दगुप्त को तो अपने प्रशासन की आर्थिक दुःस्थिति के प्रतिकार में घटिया सिक्का चलाने के शंकास्पद उपाय का भी अवलम्बन करना पड़ा। गुप्तों ने भी चाँदी

के सिक्के जारी किए और उनके वजन एवं रचना क्षत्रपों के सिक्कों से बहुत मिलते थे। गुप्त-काल में ताँबे के सिक्के भी नियमित मुद्रा के रूप में जारी हुए। गुप्तकाल के विविध प्रकार के चाँदी और ताँबे के सिक्के मिले हैं जिनमें मौलिकता दिखाई देती है। ताँबे के सिक्के भी नियमित मुद्रा के रूप में जारी हुए और वे दैनन्दिन व्यवहार में अच्छा माध्यम साबित हुए।

मनु, नारद और बृहस्पति ने मुद्रा के विभिन्न मानों की सूची इस प्रकार दी है :—

मनु	नारद	बृहस्पति
5 कृष्णपाल = 1 माष	4 काकिनी = 1 माष या 1 पल या 1 पण	1 कार्षापण (ताम्र) = 1 पण (ताम्र) या 1 अन्दिक
16 माष = 1 सुवर्ण	20 मष = 1 कार्षापण चाँदी या पण	4 कार्षापण = 1 धानक या आदिक
4 सुवर्ण = 1 पल या निष्क	4 कार्षापण = 1 अद्रिक	12 धानक = 1 सुवर्ण (दीनार)
10 पल = 1 धरण या निष्क	4 कार्षापण = 1 धानक या 12 धानक = 1 सुवर्ण या 48 कार्षापण या दीनार	4 सुवर्ण = 1 निष्क

शुक्र :

सोना = 10 चाँदी
चाँदी = 80 ताँबा
ताँबा = $1\frac{1}{2}$ जस्ता
जस्ता = 2 राँगा या 3 सीसा
ताँबा = 6 लोहा

मुद्रात्मक अर्थव्यवस्था बहुत पहले ही वस्तु-विनिमय की जगह ले चुकी थी।

अन्तर

चाँदी—

80 रत्ती = 1 कार्षापण (ताँबा)
12 रत्ती = 1 माष

16 माष = 1 धरण

10 धरण = 1 शतमान

सोना—

5 रत्ती = 1 माष

15 माष = 1 सुवर्ण

4 सुवर्ण = 1 पल या निष्क

10 पल = 1 धरण

बैग्राम ताम्रपत्र (एइ–XXI. 81-82) में कहा गया है कि सोलह 'रूपक' एक 'दीनार' के बराबर हैं। इस आधार पर नारद और वृहस्पति द्वारा दी गई सारणियाँ गुप्तकालीन सिक्कों के वास्तविक भारों और मानों से मेल नहीं खाती हैं। रैप्सन ने ठीक ही बताया है कि स्मृति में बताई गई भार-पद्धति आम तौर से प्राचीन भारतीय सिक्कों के भारों का सन्तोषजनक विवरण नहीं देती है। स्मृतिकार सुनारों के बाटों की बात करते हैं। दीनार की क्रयशक्ति बड़ी ऊँची थी और यही बात रजत मुद्रा की थी। साधारण रोजमर्रे का कारबार कौड़ियों से किया जाता था, जो स्थानीय एवं जनसामान्य स्वीकृत विनिमय-माध्यम थी। मुद्रा के साथ-साथ वस्तु-विनिमय प्रणाली भी चलती थी।

गुप्तोत्तर काल में कश्मीर, थानेश्वर, बंगाल आदि स्थानों के शासकों ने अपने-अपने क्षेत्रों में व्यवहार के लिए अपने अलग-अलग सिक्के जारी किए। इनमें गुप्तकालीन सिक्कों का अनुकरण भी था। रोजमर्रे का कारबार कौड़ी के जरिए चलता था। हालाँकि हुएनत्सांग ने सोने और चाँदी के सिक्कों को भी प्रचलन में देखा। ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे। तोरमान की ताम्रमुद्रा मशहूर है। कौड़ी के अलावा हुएनत्सांग ने छोटे-छोटे मोतियों को भी विनिमय-माध्यम के रूप में चलते देखा जो कल्हण ने भी देखा था। सेन राजाओं के ताम्रपत्र अभिलेख 'कपर्दकपुराण' (कौड़ी और कार्षापण) का निर्देश है। पाल या सेन वंश के किसी भी राजा का सिक्का नहीं मिला है। अन्य वंशों के विभिन्न राजाओं ने अपने-अपने सिक्के चलाए जिनके आनुपातिक मान नीचे दिए जाते हैं :

20 कौड़ी = 1 काकिनी

4 काकिनी = 1 ताम्रपण

16 पण = 1 रजतद्रम्म

ये पूर्व मध्यकाल के मानक भार थे। इस काल की मानक मुद्रा द्रम्म प्रतीत होती है और **सियादोनी उत्कीर्ण लेख** में चार प्रकार के द्रम्म का उल्लेख है :

(1) पंचीयकद्रम्म,

(2) विग्रहपाल द्रम्म,

(3) विग्रहपाल सुलीक द्रम्म,

(4) श्रीमदादिवराह द्रम्म।

अन्य ज्ञात प्रकार हैं **'वराहकाय विंशोपक'**, **'काकिनी वर्त्तक'** और 'कपर्दक'। मुद्रा के प्रतीक के रूप में कौड़ी का व्यवहार पूर्व काल से ही कश्मीर में तथा भारत में अन्यत्र भी होता था। **'चर्यापदों'** में भी कौड़ी के व्यवहार का उल्लेख है। **'द्रम्म'** सोने का और **रूपक** चाँदी का होता था। मध्य काल में मुद्रा के अन्य ज्ञात इस प्रकार हैं—**दीनार, सुवर्ण,** निष्क, पहुथ, **रूपक,** कार्षापण, काकिनी, वर्तिक, कवडि-**कदीनार,** विंशोपक, टंक, भागक, विंशतिक, शूर्प, **द्रम्म, भीमप्रियद्रम्म, वीसल प्रियद्रम्म, अर्धरूपक** आदि। ये मुद्राएँ राजस्थान, हेमचन्द्र, चालुक्य अभिलेख, परमार अभिलेख आदि में पाई गई हैं। **'मानसोल्लास'** (II. पृ० 104) में **निष्का-धिकारिन** का उल्लेख है जिससे टकसालों और उनके अधिकारियों के अस्तित्व का पता चलता है। **लीलावती'** के अनुसार बीरा 'वर्त्तक' (कपर्दक) एक काकिनी, चार काकिनी एक पण, सोलह पण एक द्रम्म और सोल द्रम्म एक निष्क होता था।

विनिमय के माध्यम और उनके स्थानों में धातु मुद्रा के प्रचलन सामाजिक विकास की अवस्था पर निर्भर करते थे। विनिमय-माध्यम तदगत स्थानों में भिन्न-भिन्न थे। **दीनार** एक चालू सिक्का प्रतीत होता है और इसका उल्लेख उत्तर-कालीन स्मृतियों एवं पुराभिलेखों में मिलता है। लगता है, मुद्रा-प्रणाली भारत के कुछ भागों में ही प्रचलित थी, क्योंकि हम विदेश-व्यापार में भी वस्तु-विनिमय प्रचलित पाते हैं। सोने, चाँदी [और ताँबे] का सामान्य आनुपातिक मूल्य स्थिर नहीं था, इसमें 16 : 1; 14 : 1; 8 : 1 के बीच ह्रास-वृद्धि होती थी। सोने और ताँबे के बीच विनिमय-दर 57 : 1 (शुक्र के अनुसार 16 : 1; 80 : 1) थी। विनिमय-दर में विभेद सम्बद्ध धातु के स्थानीय विभाजन विभिन्न क्षेत्रों में उपलभ्य मात्रा) के अनुसार होता था। **'निदानकथा'** में सीसे के कार्षापण का उल्लेख है। कौटिल्य ने विहित वजन को परिशुद्धतापूर्वक कायम रखने पर जोर दिया है। बुद्धघोष के अनुसार **'रूपसूत्र'** सिक्का एवं मुद्रा का मूल तत्त्व है। पतंजलि ने **'रूपतर्क'** और कौटिल्य ने **'रूपदर्शक'** का उल्लेख किया है।

वस्तु-से-वस्तु वाली विनिमय-प्रणाली

वस्तु-विनिमय-प्रणाली वैदिक काल से ही प्रचलित है और लम्बी अवधि तक प्रचलित रही है। गाय भी विनिमय-माध्यम थी और 'सहस्राह्' शब्द एक हजार गायों के बराबर मूल्य सूचित करता है। 'हिरण्य-शतमान' शब्द का भी अर्थ एक सौ गायों के मूल्य का सोना किया जाता है। अथर्ववेद के 'प्रतिपण' शब्द का अर्थ वस्तु विनिमय किया गया है और 'वाजसनेयि संहिता' में आए इस शब्द का अर्थ खरीद या सौदा करना किया जाता है। वैदिक काल में वस्तु विनिमय ही मुख्य विनिमय-साधन था। पाणिनि ने इस शब्द का उल्लेख अनेक बार किया है। **'निमान'** (आपसी करार द्वारा वस्तुओं का फेरबदल) तथा **'वसन'** (विनिमय के साधन स्वरूप कपड़ा) ये दोनों शब्द पाणिनि-काल में वस्तु विनिमय-पद्धति का अस्तित्व सूचित करते हैं। गाय विनिमय का माध्यम बनी रही। पाणिनि ने मान की कई इकाइयों का उल्लेख एक तरह की वस्तु को दूसरी तरह की वस्तु से बदलने के साधन के रूप में किया है, जैसे—**कंस, सूर्प, खारी, अंजलि, अचित, गोणी,** आदि।

वस्तु-विनिमय-प्रणाली जातक-काल में भी थी। बदली जाने वाली वस्तुएँ सदा एक ही तरह की नहीं होती थीं। सिक्कों का भी प्रयोग था। इस प्रकार दोनों प्रणालियाँ साथ-साथ चलती थीं। कौटिल्य ने यह कहकर वस्तु-विनिमय प्रणाली की निन्दा की है कि इससे राजकोष का क्षय होता है। उन्होंने इसे **'परिवर्तन'** कहा है और इसकी परिभाषा की है—राजकीय वस्तुओं को दूसरों की तत्सदृश वस्तुओं से बदलना। उन्होंने ऐसे विनिमय की निन्दा की है जिसमें रत्न बदले जाएँ तथा ऊँची और कम कीमत की वस्तुएँ बदली जाएँ। वे विदेशी व्यापार में इस प्रणाली की उपयोगिता भली भाँति जानते थे। वे राज्य की वाणिज्य-वस्तु का आयातित वस्तुओं से भेद करते थे, जो बिक्री के लिए विविध बाजारों में बाँटी जाती थीं। ऐसा माल विदेशों में वस्तु-विनिमय के जरिए खरीदा जाता था। वाणिज्य-अधीक्षक विनिमय द्वारा प्राप्य विदेशी माल से स्थानीय माल की तुलना करके और सभी आनुषंगिक खर्चों को जोड़कर हिसाब करता था कि ऐसा सौदा लाभ कर होगा या नहीं। यदि स्थानीय माल को विदेश-बाजार में बेचने से लाभ की सम्भावना नहीं रहती तो अधीक्षक सोचता था कि ऐसा माल विदेशी माल से बदलना लाभकर हो सकता है कि नहीं।

बौधायन और वसिष्ठ के अनुसार तिल और नमक का विक्रय या विनिमय नहीं करना चाहिए। नारद और बौधायन ने भी तिल का विनिमय निषिद्ध किया है। वसिष्ठ कहते हैं कि तिल, चावल, पकाया हुआ अन्न, विद्या और दास अपने

ही प्रतिरूप और एक दूसरे से ही बदले जा सकते हैं। आपस्तम्ब पहले बताते हैं कि मनुष्य, मसाला और पकाये अन्न उस वस्तु से भी बदलना वर्जित है; फिर आगे कहते हैं कि पकाया अन्न, दास, मसाला, गन्धद्रव्य और विद्या अपने ही प्रतिरूप वस्तुओं से बदले जा सकते हैं। इन वस्तुओं के विनिमय या विक्रय का निषेध उन्होंने खास कर ब्राह्मणों के लिए नहीं किया है, जिससे यह जाहिर है कि ऐसा विनिमय करना ब्राह्मणों के लिए भी अनुमत था। आपस्तम्ब ने कहा है कि आपत्काल में ब्राह्मण क्रय विक्रय योग्य वस्तुओं का व्यापार कर सकते हैं।

कात्यायन ने भी वस्तु-विनिमय के नियम बताये हैं, किन्तु पतंजलि ने उनके नियमों का खण्डन कर दिया है। पतंजलि के काल में वस्तु-विनिमय कारोबार की एक प्रचलित पद्धति था जो केवल सामान्य वस्तुओं में ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े मालों में भी चलता था, जैसे रथ, ऊँट, कम्बल, आदि। पाणिनि से यह स्पष्ट होता है कि वस्तु-विनिमय कुछ पहलुओं में सिक्कों से भी अधिक उपादेय और महत्वपूर्ण था और लोग इसी से अपने रोजमर्रा का काम आसानी से चला लेते थे। विनिमय-प्रणाली के साथ-साथ सिक्का-प्रणाली का उल्लेख सूचित करता है कि उस समय सामाजिक विकास का ढाँचा रंग बदल रहा था। पतंजलि के समय में भी सिक्का और विनिमय दोनों प्रणालियाँ समाज में चलती रहीं। पतंजलि ने विनिमय-क्रिया में तीन पक्ष बताए हैं—क्रेता, विक्रेता और साक्षी। पतंजलि ने पाँच सौ नावों के बेड़े में लदे माल का उल्लेख करके बड़े विशाल सौदों को सामने लाया है। वस्तु-विनिमय ह्रास तभी हुआ जब सिक्का-प्रणाली पूरी और अधिक कारगर हो गई। कालक्रमेण वस्तु-विनिमय गरीब लोगों के छोटे-से वर्ग में ही सीमित रह गया।

कुछ आकस्मिक स्थितियों में भी इसकी आवश्यकता रही। उदाहरणार्थ, एक पर्यटक पथिक ने एक वनवासी को स्वर्णशलाका देकर उससे भोजन प्राप्त किया अथवा दीन लोगों के बीच एक 'कहापण' और एक अँगरखा देकर एक कुत्ता खरीदा गया। गौतम और वसिष्ठ ने खास-खास वस्तुओं के विनिमय की अनुमति दी है तथा संघों के लिए भी वैसी स्थिति में विनिमय विहित है, जहाँ सिक्का-व्यवहार वर्जित है। चावल पूर्ववत् मूल्य का मानदण्ड रहा। धातु-मुद्रा के प्रचलन के बावजूद वस्तु-विनिमय चलता रहा। कुम्हार चावल, जौ और दाल के बदले बरतन देते थे। कहा गया है कि व्यापारी लोग विनिमय के द्वारा अपने माल का मूल्य दुगुना-तिगुना कर लेते थे। 'विनयपिटक' में भिक्खुओं के लिए विनिमय या विक्रय वर्जित है। तरह-तरह की वस्तुओं का विनिमय चलता था, जैसे भोजन, वस्त्र, मवेशी आदि जो सभी साधारण रोजमर्रे की वस्तुएँ हैं।

लोग अपना दैनन्दिन काम विनिमय से चलाते थे और नियमित मुद्रा के प्रचलन के बाद भी जीवन के कुछ क्षेत्रों में विनिमय-प्रणाली चलती रही; किन्तु यह ध्यान रहे कि विनिमय वहीं सम्भव था जहाँ बदलने की स्थिति एकदम सरल हो। विशेषीकृत उद्योग शुरू होने पर विनिमय असम्भव हो गया। जब मुद्रा विनिमय-माध्यम और मानदण्ड के रूप में आई तब अन्य वस्तु का इस रूप में प्रयोग गौण और समाप्त हो गया। मुद्रा का आविष्कार सार्वमुखी आर्थिक विकास का प्रवर्तक हुआ जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से झलकता है।

उत्कीर्णलेखों में सिक्का शास्त्रीय पारिभाषिक पद

समकालीन साहित्यों और अभिलेखों में सिक्का और मुद्रा की चर्चा मिलती है। सिक्का शास्त्रीय पारिभाषिक पद हमें अभिलेखों में मिलते हैं। **'कार्षापण'** का सबसे पहले उल्लेख नासिक गुहा-लेख (ए.इ.—VIII. 82 और आगे) में मिलता है। हम जानते हैं कि नहपान के समय में रजत-कार्षापण का वजन लगभग 36 ग्रेन था, जबकि 35 ग्रेन का एक **'सुवर्ण'** होता था। नासिक गुहा-लेख में मासिक ब्याज एक प्रतिशत निर्धारित किए जाने का उल्लेख है। इसमें आये हुए शब्द **'कुषाणमूले'** (कुसन मूले ?) का अर्थ किसी सिक्के का नाम लगाया गया है। नगनिका के नाना घाट गुहा-लेख में **'कार्षापण'** और **'रूप'** का उल्लेख है। भट्टशालि ने 'कहान' और **'कार्षापण'** को **'कपर्दकपुराण'** का पर्यायवाची कहा है। रजतमुद्रा के रूप में **'रूपक'** का उल्लेख 445 ई० के बैग्राम ताम्रपत्र में हुआ है। वीरपुरिसदत्त नागार्जुन कोण्डइ अभिलेख में **दीनारिमाषक** का उल्लेख है जो शायद कृष्णा गुन्टुर क्षेत्र के इक्ष्वाकु राजाओं का एक प्रचलित सिक्का कहा जाता है। **दीनार** का उल्लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची शिलालेखों में, दामोदरपुर ताम्रपत्रों में, बैग्राम ताम्रपत्र, पहाड़पुर ताम्रपत्र फरीदपुर फलक आदि में हुआ है। **दीनार** का स्वरूप और द्रव्य भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पाए गए हैं।

कश्मीर में दीनार का मूल्य बहुत कम था। हिसाब बैठाया गया है कि एक दीनार एक सौ इक्कीस ग्रेन का होता था। गुप्त-काल में बिक्री-दर सिक्कों में आँकी जाती थी। गुप्त काल के बाद सोने के सिक्के कम होते गए। परवर्ती काल में द्रम्म (31 ग्रेन वजन का) विधिमान्य मुद्रा के रूप में चला। मध्य काल के बहुत-सारे उत्कीर्ण लेखों में द्रम्म के प्रचलन का निर्देश मिलता है। सियादोनी अभिलेख से द्रम्म मुद्रा के बारे में बहुत-कुछ ब्योरे मालूम होते हैं। भारत के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकारों की मुद्राओं के प्रचलन से यह सूचित होता है कि विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक सम्बन्ध किसी सुव्यवस्थित पद्धति पर आधारित था। द्रम्म

सोने का होता था, किन्तु भास्कराचार्य का मत है कि यह रजत का भी होता था और उन्होंने कहा है कि सोलह रजत द्रम्म का एक सुवर्ण निष्क होता है।

'वर्तक' और 'कपर्दक' का अर्थ कौड़ी है। धातु और कौड़ी दोनों मुद्रा के रूप में चलती थी। गाँव के गरीब लोग अपना कारबार कौड़ी से चलाते थे। 'पुराण', 'कपर्दकपुराण', 'पल', 'माष', और 'गुंजा', भी मुद्रा के रूप में कई अभिलेखों में आए हैं। पुरालेखीय सामग्री की गहन छानबीन से अवश्य ही सिक्का सम्बन्धी बहुत से नए तथ्य प्रकाश में आएँगे।

सिक्कों से ज्ञात आर्थिक तथ्य

प्राचीन भारत के लोग सिक्कों का उपयोग जानते थे और उन्होंने समय एवं स्थिति के अनुसार विभिन्न मानों के सोने, ताँबे, चाँदी, सीसा, राँगा आदि धातुओं के सिक्के जारी किए। विभिन्न युगों के सिक्का बनाने के साँचे (ठप्पे) मिले हैं। बहुत-सारे प्रकारों के आहत सिक्के मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि खरीद-बिक्री में तथा वेतन-भुगतान में पण का व्यवहार होता था। साहित्य और अभिलेख दोनों स्रोतों से ज्ञात होता है कि मुद्रा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थी और महाजनी संस्थाएँ काफी विकसित हो चुकी थीं। व्यापार के रूप में महाजनी या साहूकारी तब तक नहीं चल सकती, जब तक कि मुद्रा का व्यवहार दैनन्दिन जीवन में नियमित रूप से नहीं होता हो। विभिन्न कालों में जनता के आर्थिक जीवन में सिक्के की भूमिका बड़े महत्व की रही है।

पूर्वकाल की अर्थव्यवस्था कृषि एवं पशुपालन पर आश्रित थी और धातु का प्रयोग विरल होता था। स्थानीय कारबार विनिमय द्वारा चलता था। धीरे-धीरे, जब लोहे का आविष्कार हुआ, स्थिति बदली और आत्मनिर्भर जातियाँ दिखाई देने लगीं, हालाँकि वस्तुविनिमय-प्रणाली भी साथ-साथ चलती रही। ई० पू० छठी शताब्दी से सिक्के चलने लगे और व्यापार बढ़ा। उत्तर भारत में श्रावस्ती, तक्षशिला, पाटलिपुत्र, वाराणसी, वैशाली, विदेह और अन्यान्य नगर समुन्नत हुए। तरह-तरह के व्यापार का अर्थ था मुद्रा का व्यापक प्रयोग। वृत्तिसंघ व्यापार के लिए सिक्के ढालते थे और शासकों ने भी अपने राज्य की समृद्धि के लिए सिक्कों के महत्व को महसूस किया। पूर्वकाल में सिक्का बनाने का अधिकार और सुविधा केवल राज्य को ही नहीं थी। राज्य ने इसमें तब प्रवेश किया, जब देखा कि इससे बड़ी सुविधा होती है और इसका बड़ा महत्व है। जे० एन० बनर्जी का मत है कि आहत सिक्कों पर के चिह्न किसी ऐसी केन्द्रीय सत्ता के हैं जो धातु की यथार्थता और वजन की परिशुद्धता की गारंटी देती थी। हो सकता है, कुछ आहत सिक्के

प्राइवेट संघटनों, महाजनों, आदि के द्वारा जारी किए गए हों। आहत सिक्कों में दो स्पष्ट विशेषताएँ लक्षित होती हैं और तदनुसार उनका वर्गीकरण मौर्य पूर्वकालीन और मौर्यकालीन शीर्षकों में किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के सिक्के अधिकतर प्राइवेट महाजनों और वृत्तिसंघों द्वारा जारी किए गए हैं और द्वितीय वर्ग के सिक्के दृढ़ राजनैतिक स्थिति के सूचक हैं, जब उनपर राज्य का पूरा-पूरा नियन्त्रण हो चुका था। लगता है बुद्धघोष (पाँचवीं-छठी शताब्दी) के समय में आहत सिक्कों का प्रचलन हो चुका था और शकों के रजत-सिक्कों और गुप्तों के सुवर्ण सिक्कों के सदृश राज्य द्वारा निर्गत सिक्कों से साथ-साथ ये आहत सिक्के भी चालू थे। पुराने ढंग के कार्षापण उन्हीं निर्गमों के होंगे जिनका उल्लेख 'विसुद्धिमग्ग' में हुआ है।

आर्थिक चहलपहल का केन्द्र प्राइवेट हाथों और निगम-निकायों से हटकर राजकीय संघटन में चला आया। मौर्यों के काल में मुद्रा पर राज्य का एकाधिकार हो गया। यहाँ आकर हम सिक्का बनाने के बारे में ठोस नियम पाते हैं। सिक्के दो प्रयोजनों से बनाए जाते थे—(i) राजकीय खजाने में संचित करने के लिए और (ii) राज्य के अधिकारी 'लक्षणाध्यक्ष' (मिंट मास्टर) की देख-रेख में लोगों में प्रचलन के लिए। जन-सामान्य भी अपनी धातु खरीदकर सिक्का ढलवा सकता था, पर इसके लिए उसे निर्माणव्यय और राजस्व चुकाना पड़ता था। विधिमान्य मुद्राएँ, जो उस समय '**कोषप्रवेश्य**' कहलाती थीं, राजकीय टकसाल से निर्गत होती थीं और व्यावहारिक मुद्राएँ केवल लोगों के व्यवहार के लिए होती थीं और राजकोष में संचित नहीं की जाती थीं। वृत्तिसंघों और स्वतन्त्र व्यक्तियों द्वारा सिक्के बनाए जाने की परिपाटी तो उस समय भी मान्य थी, किन्तु यह काम अब केवल राज्य के नियन्त्रण में राजकीय टकसाल में ही होता था और उन्हें अपनी धातु का कुछ भाग राजस्व के रूप में चुकाना पड़ता था। ये सिक्के देशी चाँदी से बनते थे, जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० से तृतीय शताब्दी ई० तक की अवधि के उत्तर बिहार के आर्थिक इतिहास में गौर करने की बात है। प्राचीन व्यापार-मार्गों और आहत सिक्कों के उपलब्धि-स्थलों के आपसी सम्बन्ध भी गौर करने की वस्तु है और आर्थिक गतिविधि के सूचक हैं।

कुषाणों ने आर्थिक व्यवस्था और विशेष कर मुद्रा-व्यवस्था को उलट दिया। वे वेम कदफिस के समय से केवल सोने और ताँबे के सिक्के बनाने लगे। कुषाणों का राज्यक्षेत्र ओक्सस से गंगा तक फैला था। कुषाणों के राज्य में सोने के सिक्कों के अधिक प्रचलन से प्रकट होता है कि उस समय देश की आर्थिक स्थिति उन्नत थी और इससे बाहरी दुनिया के साथ भारत का अच्छा व्यापार सम्भव हुआ

और भारत की अर्थव्यवस्था ठोस हुई। सातवाहनों के सिक्के देशी हैं। चोलमंडल में रोमन सिक्कों के साथ उनके सिक्कों का मिलना रोम के साथ भारत के तेज व्यापार का सूचक है। गुप्त राजाओं ने सोने के सिक्कों की इस परम्परा को जारी रखा, किन्तु ताँबे के सिक्के का सिलसिला कायम न रहा। आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के उदय से दिहाती किसान-वर्ग को सिक्के के उपयोग की आवश्यकता न रही और मुद्रा के व्यवहार की उपयोगिता घटती गई और यह स्थिति उसके बाद कई शताब्दियों तक बनी रही।

2. बैंकिंग या महाजनी

प्राचीन भारत में महाजनी अर्थात् बैंकिंग ज्ञात थी। देशी ढंग की महाजनी भारत में बहुत पुरानी है और कई शताब्दियों से चली आ रही है; लेकिन इसका स्वरूप वर्तमान यूरोपीय स्वरूप से भिन्न था। महाजनी का मूल तत्व है साख से काम निकालना। इससे व्यापार और उद्योग को अपार लाभ हुआ है। बैंकिग का मूल तत्व पूँजी की आवश्यकता, पूँजी की उत्पादकता, व्याज के रूप में पूँजी-संचय को प्रोत्साहन और साख की उपयोगिता ये सभी बातें पूर्वकालीन भारत के लोग भली-भाँति जानते थे।

उधार देना और निक्षेप (जमा) लेना बैंक के मुख्य काम हैं। ये दोनों संव्यवहार प्राचीन भारत में बहुत पहले से नजर आते हैं। **'मिताक्षरा'** के अनुसार, जो कुछ भी सुरक्षा के लिए महाजन के पास खदुका द्वारा (विश्वासार्थ) रखा जाता है, वह आधि (गिरवी) कहलाता है। स्मृतियों में निक्षेपों के व्याज की तरह-तरह की दरें भी बताइ गई हैं। स्मृतियों में निक्षेप सम्बन्धी नियम जो विस्तार से लिखे गए हैं, उनसे प्रकट होता है कि किसी व्यक्ति से निक्षेप लेना और उसे ठीक से वापस करना प्रचलित व्यवस्था हो गयी थी। ऋण के जो नियम थे, वही निक्षेप (उपनिधि) पर भी लागू होते थे।

बैंकिंग अर्थात् महाजनी के दो मूल कृत्य हैं—(i) व्याज पर कर्ज देना और (ii) सम्पत्ति सुरक्षार्थ निक्षेप (डिपाजिट) के रूप में रखना। महाजनी के ये दोनों कृत्य प्राचीन भारत में पाए जाते हैं। ईमानदार महाजन खूब विश्वसनीय माना जाता था। सम्पत्ति की रक्षा मुख्य लक्ष्य होती थी। बाजार की प्रबल माँग के फलस्वरूप, लेना और देना दोनों ने मिलकर महाजनी अर्थात् बैंकिंग पद्धति को जन्म दिया। कौटिल्य के अनुसार, उपनिधि (डिपॉजिट) के नियम निक्षेप (इनवेस्टमेंट) पर भी लागू होते हैं। निक्षेप के कई प्रकार बताए गए हैं –

(1) आधि (खुला निक्षेप) दो प्रकार की हैं—

(क) निक्षेप – प्रतिभू के समक्ष उसे वस्तु का स्वरूप और परिमाण दिखाकर की गई उपनिधि ।

(ख) न्यास—प्रतिभू के समक्ष परिवार के लोगों के पास की गई उपनिधि ।

(2) औपनिधिक—सीलबन्द निक्षेप ।

(3) अन्वाहित—यह कह कर किया गया निक्षेप कि अमुक व्यक्ति ने यह सम्पत्ति मेरे पास थाती की है और यह उसको सौंपी जाए ।

(4) याचितक—काम के लिए तत्काल माँगकर ली गई वस्तु ।

(5) शिल्पिन्यास—सुनार आदि के पास निर्माण या मरम्मत के लिए दी गई वस्तु ।

(6) प्रतिन्यास—किसी निक्षेप के बदले किया गया निक्षेप ।

वृत्तिसंघ और निगम जो जमा लेते थे और व्यापारियों को उधार देते थे, वे भी बैंक का काम करते थे । कौटिल्य ने कहा है—"राजा के गुप्तचर वणिक् का बाना बनाकर निगमों से स्वर्ण-शलाका और स्वर्णमुद्रा उधार लें, ताकि उससे विविध प्रकार की वाणिज्य-वस्तुएँ विदेश से मँगाई जा सकें ।" (अ.शा.-V. 2) । उधार लेने और देने का कारबार वणिकों और निर्माणशालाओं से निकटतः सम्बद्ध रहा है और बड़े-बड़े वणिकों को सदा बैंक-सुविधा प्राप्त रही है (अ.शा.-VII. 11) । कालक्रमेण महाजनी अन्य व्यापार का अंग हो गई । निक्षेप व्यापार में लगाये जाते थे और निक्षेप लेना संयुक्त स्टाक कम्पनियों के लिए लाभकर होता था । इस प्रयास के फलस्वरूप दलाली से छुटकारा मिलता था । औद्योगिक वृत्तिसंघ अच्छे-खासे बैंक हो गए । कौटिल्य ने उन्हें निक्षेप लेने की अनुमति दी है (अ.शा.-IV. 1) ।

वृत्तिसंघ खैराती फंडों (पूर्त विन्यासों) के बैंक, न्यासी और कार्य-निष्पादक के रूप में काम करते थे । मूल धन स्थायी निक्षेप के रूप में प्राप्त किया जाता था जो कभी लौटाया नहीं जाता था । ब्याज उस फंड के अधिकारियों को वस्तु के रूप में चुकाया जाता था । गोवर्धन के बुनकरों के एक संघ ने राजा उसवदत से धन लिया और उसके ब्याज से नासिक गुहा में रहनेवाले बारह भिक्षुओं को बारह कार्षापण की दर से वस्त्र-भत्ता देता रहा । उन्हीं भिक्षुओं की ओर से एक अन्य वृत्ति संघ में नगद ब्याज पाने के लिए कुछ धन जमा किया गया । सभी प्राणियों के हित एवं सुख के निमित्त, संघ के भिक्षुओं के वास्ते तथा सर्व धर्म समान रूप से त्रिरश्मि पर्वत क मठ के निवासियों के वास्ते दवा की व्यवस्था के निमित्त,

एक उपासक विष्णुदत्त ने वृत्ति संघों (कुम्भकार-संघ, श्रोदयांत्रिकों के संघ तथा तेलियों के संघ) के पास अक्षय-निधि स्थापित की। यह विधिवत् घोषित किया गया और नगर-भवन के अभिलेखागार की पंजी में दर्ज किया गया।

हुविष्क के काल के मथुरा अभिलेख में एक धनवान् ने एक धर्मदाय (एंडोमेन्ट) स्थापित किया जिससे मिलनेवाले ब्याज से प्रतिदिन एक सौ ब्राह्मणों को तथा निर्दिष्ट संख्या में अनाथों और भूखों को भोजन कराने की व्यवस्था थी। बैंकिंग करनेवाले वृत्तिसंघ अचल सम्पत्ति भी जमा लेते थे और इसकी आय से ब्याज देते थे। जुन्नार बौद्ध गुहा अभिलेख में उल्लिखित है कि बाँस के शिल्पियों और ठठेरों के संघों के पास धन-निक्षेप किया गया। नासिक अभिलेख में स्थायी निक्षेप पर ब्याज की दर, जहाँ कार्षापण जमा नहीं किया गया है; एक सौ पर प्रतिमास एक '**प्रतीक**' है, जबकि निक्षेप दो हजार कार्षापणों का हो और एक सौ पर तीन-चौथाई प्रतीक प्रतिमास है; जबकि निक्षेप एक हजार कार्षापण का हो, अर्थात् क्रमशः प्रतिवर्ष बारह प्रतिशत और नौ प्रतिशत। मथुरा अभिलेख की दर इससे बहुत अधिक है। दरें स्थानानुसार, कालानुसार तथा बैंक की साख के अनुसार भिन्न-भिन्न होती थीं।

वृत्तिसंघों और व्यापारियों का महाजनी कारबार किसी खास स्थान या काल में सीमित नहीं था। गुप्त अभिलेखों में भी इस तरह के हितार्थ निक्षेप की चर्चा है, जिसका केवल ब्याज भिक्षुओं की ओर से खैरात में लगाया जाता था और मूलधन कायम रहता था। बैंकिंग वैशाली में विशेष प्रमुख था। सियदोनि अभिलेख (912 ई०) में कहा गया है कि वाणिकों ने एक हजार तीन सौ पचास श्रीमदीवरहद्रम्म (Srimadivarahadramma) मूलधन एक देवता को प्रदान किया, जो शौंडिकों (मद्य निर्माताओं) के जिम्मे लगाया गया। वणिक लोग देश के महाजनों (बैंकरों) से मूलधन उधार लिया करते थे।

दक्षिण भारत के अभिलेखों में भी इस तरह की महाजनी (बैंकिंग) तथा लोकहित के कार्य-कलाप की चर्चा है और वहाँ ब्याज-दर कुछ अधिक है। दक्षिण भारत में ग्राम संघ भी धर्मदायों की जिम्मेवारी लेते थे।

निक्षेपकर्ता और निक्षेपग्राही के बीच सौमनस्यपूर्ण सम्बन्ध आवश्यक है। निक्षेपकर्ता को कुछ चौकसी रखनी है और इसकी पहली बात है प्रत्यय अर्थात् विश्वास। यदि निक्षेप क्षतिग्रस्त हो जाए या खो जाए तो उसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। निक्षेपग्राही (महाजन) को उसे सौंपे गए निक्षेप के बारे में कई खास जिम्मेवारियाँ उठानी पड़ती थीं। निक्षेपों की तरह, गिरवी भी बैंकिंग सुविधाओं

की एक मद थी। गिरवी अनेक तरह होती थी। नारद इसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि उसमें गिरवीधारी का स्वत्व होता है (अधिक्रियते)। बृहस्पति ने इसे सीधे 'बन्ध' (बन्धक) कहा है। गिरवी उत्पादक और अनुत्पादक का लाभकर और अलाभकर, मोचन योग्य और अमोचन योग्य, चल और अचल, भोग्य और अभोग्य, सावधि और निरवधि, लिखित और गवाहों के सामने जुबानी, अंगीकृत, विनिर्दिष्ट और अविनिर्दिष्ट, आदि होती थी।

मूल्य

शुक्र ने माँग एवं आपूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर उपयोगिता के सिद्धान्त को विनिमय-मूल्य का अवधारक बताया है। मूल्य का उद्भव मनुष्य द्वारा उसकी माँग से होता है। उन्होंने मूल्य के कारणों और निर्धारक स्थितियों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करने की चेष्टा की है :

(1) मूल्य वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर करता है। उपयोगिता न रहे तो मूल्य नहीं। जब तक कोई वस्तु किसी व्यक्ति के लिए देय न हो, तब तक वह विक्रेय न होगी। वस्तु का मूल्य उसके भोग में है; अतः उसका विनिमय-मूल्य होता है।

(2) वस्तु में कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए कि वह मनुष्य की कामना की पूर्ति करे। उसमें यह तत्त्व रहेगा तो उसका मूल्य होगा, अन्यथा कोई मूल्य न होगा।

(3) लोग प्रकृति से स्वतः मिलनेवाली वस्तुओं का मूल्य नहीं देते हैं। यहाँ शुक्र ने विनिमय-मूल्य की बात को स्पष्ट करने के लिए उपयोगिता-सिद्धान्त के साथ दुर्लभता सिद्धान्त को भी जोड़ दिया है।

(4) जितना अधिक प्रयास लगेगा उतना अधिक मूल्य होगा।

(5) कभी-कभी दुर्लभता की स्थिति अकेली ही मूल्य नियामक होती है।

बैंक के प्रकार—बैंक कई प्रकार के थे—वाणिज्यिक, औद्योगिक, कृषिक और राजकीय। ये सभी बैंक एक पहलू में समान थे, अर्थात् जमा लेना और कर्ज देना। वाणिज्य बैंक वाणिज्य-व्यापार के काम में वित्तपोषण करता था। औद्योगिक बैंक उद्योग के लिए वित्तव्यवस्था करता था और औद्योगिक उपक्रमों को कर्ज देता था। कृषिक बैंक खेती के लिए अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण देता था और खेत आदि अचल सम्पत्ति लेता था। वह सम्पदा का प्रबन्धन करता था और आय पर ब्याज बाँधता था। बैंक समाज के लिए बड़े काम का था। वह ऋणदाता

और ऋणग्राही के बीच संयोजक होता था और धन को गतिशील रखता था जिस पर राष्ट्र का आर्थिक विकास निर्भर था। धन-विनियोग निगम सभा में घोषित किया जाता था। बैंक ख़ैराती या धार्मिक विधियों के न्यासी और कार्य निष्पादक के रूप में भी काम करता था। जमा को 'निक्षेप' कहते थे। मूलधन स्थायी निक्षेप के रूप में लिया जाता था और ऐसे निक्षेपों पर ब्याज की दर उनके स्वरूप और मात्रा पर निर्भर करती थी। सीलबन्द जमा को 'उपनिधि' कहते थे।

कौटिल्य ने ब्याज के निरूपक तीन तत्त्व बताए हैं :—

(1) सामान्य ब्याज-सिद्धान्त;

(2) कारोबारी ब्याज-सिद्धान्त; और

(3) जोखिम बीमा ब्याज-सिद्धान्त।

स्मृतियों में ब्याज की विविध दरें बताई गई हैं। मुद्रात्मक ब्याज तीन प्रकार के थे—चक्रवृद्धि, काल-वृद्धि और कारित वृद्धि (करारी ब्याज)। मनमाना ब्याज लेना निन्दनीय था। कौटिल्य ने विहित से अधिक ब्याज लेनेवालों की निन्दा की है।

III. साहूकारी

साहूकारी अर्थात् ब्याज पर नकद कर्ज देने का कारबार प्राचीन भारत में चलता था। यदि साहूकारी का कारबार प्रचलित न होता तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऋण और उसके ब्याज के बारे में सूक्ष्म नियम नहीं दिए गए होते। मनु ने राजा द्वारा निर्णय अठारह प्रकार के विवादों में ऋण चुकाने के मामले को प्रथम स्थान दिया है। वही सुखी है जिसके सर पर कर्ज नहीं है। उत्तराधिकारियों पर सौंपा गया कर्ज और शेष ऋण बढ़ते-बढ़ते कोटि गुणा हो जा सकता है।

मुद्रा से एक नये आर्थिक पहलू का जन्म हुआ और नकद मुद्रा एवं उधार के प्रभाव में व्यापारिक अभिवृद्धि रूपायित हुई। इससे विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक विषमता में तेजी आई और इसकी रक्षात्मक छत्रच्छाया में व्यापारी फूले-फले। वणिक-वर्ग ने ऋण पाकर व्यापार स्थापित किए। दूकानदारों ने गहपतियों से कर्ज के तौर पर धन प्राप्त किया। सूदखोरी खूब फैली और आय का एक प्रमुख साधन बनी। कौटिल्य के अनुसार व्यापार के लिए लगाये गए ऋण या स्टाक पर ब्याज लाभ का आधा होता था, जो प्रतिवर्ष चुकाया जाता था तथा अधिक-से-अधिक मूलधन का दूना तक संचित हो सकता था। नकद और वस्तु के वस्तु के रूप में कर्ज लेने और लगाने के उदाहरण मिलते हैं

जो ब्याज के साथ चुकाये जाते थे। कृषि-ऋण और अकाल-सहायता अविदित नहीं थी।

ऋणदाताओं और ऋणग्राहियों के लिए नियम-कानून भली-भाँति स्थापित थे। ऋणदाता अदायगी के लिए प्रतिभू (जामिन) माँग सकता था। कर्ज के बकाये की अदायगी का दायित्व वारिसों पर होता था। कौटिल्य कहते हैं—"ऋणदाता या मध्यस्थ (प्रयोजक) के न रहने पर आधि गाँव के प्रमुख व्यक्तियों के जिम्मे रख दी जाए और ऋणी का रेहन उस समय निर्धारित उसके मूल्य के साथ घट जाएगा और भविष्य में उस पर ब्याज न उठेगा, रेहन जहाँ है वहीं रहेगा। जहाँ रेहन के बारे में कोई खतरा हो या ऐसी आशंका हो कि निकट भविष्य में वह नष्ट हो सकता है या उसका मूल्य गिर सकता है, तो आधि (रेहन) धर्मस्थों (जजों) की अनुज्ञा से या आधिपाल (रेहन के प्रभारी अधिकारी) द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य पर, या तो ऋणी के सामने या ऐसे विज्ञजनों के सामने जो यह निर्णय कर सकते हों कि वैसी आशंका साधार है या निराधार, रेहन बेच लिया जाएगा।" (अ.शा.–III, 12)।

ऋण प्रतिभूत और अप्रतिभूत दो तरह के होते थे। बड़े-बड़े तिजारती सौदे ठप्पे (मुद्रिका) की प्रतिभूति पर उधार किए जाते थे। संचित ब्याज की अदायगी की प्रतिभूति के लिए ऋणी की लड़की दासी बनाई जा सकती थी। आधि से रेहन की वस्तु पर स्वत्व नहीं होता—ऐसा निक्षेप का नियम था। ऋण अदा हो जाने पर रेहन की वस्तु लौटा दी जाती थी। हर अदायगी की पावती और निष्कृति लिखित रूप में दी जाती थी। साख पत्र का प्रयोग होता था और कभी-कभी वणिक लोग किसी प्रतिभूति के बिना आपसी साख से काम चलाते थे।

ब्याज

ब्याज की उचित और सामान्य दर स्मृतिकारों ने सवा प्रतिशत प्रतिमास अर्थात् पन्द्रह प्रतिशत वार्षिक निर्धारित की है (मनु—VIII. 140)। बौधायन, मनु और वसिष्ठ ने उपर्युक्त दर विहित की है। नारायण, राघवानन्द, नन्दन और याज्ञवल्क्य (I. 37) के मत से ब्याज सप्रतिभूति ऋण पर पन्द्रह प्रतिशत की दर से होना चाहिए, किन्तु प्रतिभूतिरहित ऋण पर ब्याज की दर चारों वर्णों के अनुसार क्रमशः 2, 3, 4 और 5 प्रतिशत (प्रतिमास) होनी चाहिए; अर्थात् ब्राह्मण 24 प्रतिशत, क्षत्रिय 36 प्रतिशत, वैश्य 48 प्रतिशत और शूद्र 60

प्रतिशत वार्षिक। विभेदमूलक दरें कौटिल्य में भी पाई जाती हैं और धर्म्य (जायज) दर सवा प्रतिशत से अलग, ये दरें क्रमशः 5, 10 और 20 थीं, अर्थात्

वाणिज्य दर 60 प्रतिशत वार्षिक
वन क्षेत्रीय दर 120 प्रतिशत वार्षिक
समुद्रीय दर 240 प्रतिशत वार्षिक (अशा—III. 11)

ब्याज कई प्रकार के थे। जैसे—'चक्रवृद्धि' (सूद-दर-सूद), 'कालवृद्धि' (निर्धारित अवधि के भीतर मूल धन के साथ चुकाई जानेवाली), 'कारित' (आपसी करार पर तय ब्याज), 'कायीन' (शारीरिक ब्याज), 'शिखावृद्धि' (दैनिक ब्याज) और 'भोगलाभ' (रेहन की वस्तु के उपभोग के रूप में चुकने वाला ब्याज)। ब्याज मूलधन के बराबर तक संचित होता था, उसके बाद उसका संचय बन्द हो जाता था।

वाणिज्य सम्बन्धी ब्याज-दर भी वर्ण पर आश्रित थी। मनु ने बताया है कि ऋणदाता को वर्णानुसार प्रतिमास सौ पर दो, तीन, चार और पाँच ब्याज लेना चाहिए। साहूकारी मुख्यतः वैश्यों का काम था। बौधायन ने कहा है कि जो ब्राह्मण वैश्य का यह काम (साहूकारी) करेगा वह शूद्र हो जाएगा। विभिन्न प्रकार के ब्याज के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की दरें थीं।

सूदखोरी

यद्यपि सूदखोरी की निन्दा की गई है, तथापि यह विधिमान्य आजीविका थी और बौधायन के अनुसार वैश्य यह आजीविका अपना सकते हैं। विष्णु ने भी इसकी निन्दा की है। नारद ने वैश्यों के लिए इस वृत्ति से जिविका चलाने की अनुमति दी है, किन्तु ब्राह्मण के लिए यह कथमपि अनुमत नहीं था। ब्याज कमाना एक सामान्य काम था और यह अनुमोदित व्यापार था। स्मृतिकारों ने तदनुसार अपने नियमों को सुधारा है। मनु कहते हैं—"मूल के साथ चुकाया जानेवाला ब्याज मूलधन से अधिक नहीं होना चाहिए, या अन्न, फल, ऊन या भारवाही पशु के विषय में ऋण के चतुर्गुण से अधिक नहीं होना चाहिए (मनु—VIII. 151)। कालक्रमेण यह नियम लचीला होता गया—सोने की वृद्धि द्विगुण, अन्न की त्रिगुण, वस्त्र की चतुर्गुण, रस की अष्टगुण तथा महिला और मवेशी की वृद्धि उनकी सन्तान से अधिक नहीं होगी। जहाँ आधि (रेहन) लाभोत्पादक हो, वहाँ उस पर ब्याज देय नहीं होगा और ऐसी आधि के न छुड़ाए जाने पर न तो दान किया जा सकता है और न बिक्री (अशा—III. 12)। दीर्घकालीन यज्ञ में,

लगे, व्याधि से ग्रस्त, गुरुकुल में रहनेवाले छात्र, नाबालिग, अकिंचन या बन्दी के मामले में ब्याज चुकाने की काल-सीमा में छूट दी गई है।

कौटिल्य और याज्ञवल्क्य दोनों का मत है कि ऋण के लेन-देन में कड़ी सुरक्षा राज्य के हितार्थ आवश्यक है; इसलिए एतत्सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन के लिए उन्होंने दंडविधान किया है। मनु ने छह विशेष प्रकार के ब्याजों की निन्दा की है (मनु—VIII. 153)। यद्यपि पूर्वोत्तर स्मृतियों में साहूकारी क्षम्य समझी गई है, किन्तु परवर्ती स्मृतियों में जोरदार शब्दों में इसकी निन्दा की गई है, जिसका कारण यही है कि इसका रूप बिगड़कर सूदखोरी का हो गया।

अविभक्त कुटुम्ब के लाभ के लिए लिये गये ऋण की अदायगी विभक्त होने के बाद भी उसके हर सदस्य को करनी होती थी। पत्नी द्वारा किये गये ऋण का दायित्व पति पर होता था, किन्तु पति का ऋण चुकाने का दायित्व पत्नी पर केवल गोपालक, शिकारी, मद्यव्यापारी (सूड़ी), नट, धोबी आदि जातियों के मामले में ही होता था, जो अपनी पत्नियों के जरिए जीविकार्जन करते हैं (अशा—III. 11)। विष्णु का मत है कि पत्नी या माता द्वारा लिए गए ऋण की अदायगी का दायित्व पति या पुत्र पर केवल गोप, आखेटक आदि मामले में ही होता है, तिजारत के लिए ली गयी हो, दहेज की हो, मद्यपान या जुए के लिए ली गयी हो, या जुर्माने की हो, उसके लिए ऋणी के पुत्र जिम्मेवार न होंगे। जायज ऋण पचाना निन्दनीय था और झूठी कसम खानेवाला जातिबाह्य हो जाता था।

ऋण का मुकदमा सुना जाता था। ऋणपत्र परम मान्य दस्तावेज माना जाता था। ब्याज और मूलधन दोनों की अदायगी का एक मान्यता प्राप्त रूप था—शरीर से लटा लेना (कायिका)। यदि ऋणी करार से चूकता था तो महाजन को इस रूप में ऋण वसूलने का अधिकार होता था। ऋणदाता मूलधन या संचित ब्याज के बदले किसी को दास भी बना सकता था। ऋणी महाजन के आगे हमेशा असुविधाजनक स्थिति में रहता था, चाहे वह किसी भी जाति का हो। उसे भारी अपमान सहना पड़ता था।

ब्याज प्रति वर्ष नौ प्रतिशत से पचीस प्रतिशत तक लिया जाता था। नौवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच तंजोर में ब्याज की सामान्य दर साढ़े बारह प्रतिशत मालूम पड़ती है।

●

अध्याय 13

कौटिलीय राज्य के आर्थिक कार्य-कलाप

कौटिलीय राज्य दृढ़ आर्थिक भित्ति पर खड़ा था तथा अपने लक्ष्य एवं कृत्य में यह सामान्य हित के लिए समर्पित आर्थिक राज्य था। राज्य राष्ट्र के आर्थिक कार्य-कलाप में भाग लेता था, ताकि राष्ट्र की सार्वमुखीन प्रगति हो। इसके कड़े कानून परम्परागत विशेषाधिकारों की परवाह नहीं करते थे। कौटिल्य में कई उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का उदाहरण मिलता है तथा उत्पादन के स्रोतों पर किसी-न-किसी तरह नियन्त्रण की चेष्टा दिखाई देती है। निजी उद्योगों के साथ-साथ राष्ट्रीयकरण का अस्तित्व मिश्रित अर्थव्यवस्था का सूचक है। कौटिल्य की आर्थिक योजना का लक्ष्य है राज्य के साधन स्रोतों का समग्र संरक्षण। आर्थिक आयोजन के तीन पहलू थे :

(1) दिहाती और शहरी इलाकों के भरण के लिए साधन स्रोतों का संरक्षण;

(2) राज्य की प्रतिरक्षा तथा

(3) संकट की घड़ी में आक्रमण-क्षमता को सुदृढ़ करना।

उन्होंने व्यापार के नियन्त्रण-नियमन के ढंग, कारखानों के आयोजन, वेतन-ढाँचा, बोनस आदि की रूप-रेखा दी है। कृषि एवं पशुपालन के आयोजन पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और तत्सम्बन्धी मजदूरी का भी उल्लेख किया है। आयोजन का सारा ढाँचा राज्य के प्रति निष्ठा की भावना पर खड़ा है। आयोजन का उद्देश्य ही है राज्य को सबल बनाना, ताकि वह भीतर से अभेद्य और बाहर से अजेय रहे। उन्होंने ग्राम-स्तर से लेकर राज्य-स्तर तक हरेक आर्थिक क्षेत्र पर गहन ध्यान दिया है। राज्य ने न केवल कृषि, उद्योग और व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित करके ही, वल्कि सबसे बड़े नियोजक बनकर भी आर्थिक जीवन के बहुत बड़े हिस्से को अपने नियन्त्रण में रखा था।

राज्य प्रजा से प्राप्त राजस्व पर चलता था। 'वार्ता' (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य) पर कोष और सेना टिकी हुई है और इसीसे राज्य अपनी प्रजा का पालन और शत्रु से रक्षा कर पाता है। कौटिल्य ने वार्ता को सुविधा देने पर

जोर दिया है। वार्ता के तीनों अंगों में सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि है। राज्य का एक महत्त्वपूर्ण काम है परती को आबाद करना, अर्थात् नयी अछूती भूमि में लोगों को बसाकर उसे उपभोग में लाना। उन्होंने खेती और बस्ती के लिए उपयुक्त भूमि के विभिन्न प्रकारों के आपेक्षिक गुणों का विवेचन किया है।

गैर-आबाद जमीन का बन्दोबस्त गाँव के रूप में होता था। हर गाँव एक सौ से एक हजार तक परिवारों का होता था और ये परिवार अधिकतर कृषिजीवी वर्ग शूद्र वर्ण के होते थे। ऐसे नये गाँवों में बसने के लिए लोगों को उदारतापूर्वक विशेष रियायत देकर प्रेरित किया जाता था। सभी गैर-आबाद जमीन राजा की या राज्य की समझी जाती थी। खेती के लिए तैयार जमीन उन्हें दी जाती थी जो राजस्व चुकाने को प्रस्तुत रहते थे, परन्तु ऐसे बन्दोबस्त जीवन भर के लिए होता था जिसमें यह निहित रहता था कि भूमि का स्वामित्व पूर्णत: किसानों का न होगा। यदि किसान जमीन को आबाद नहीं करता था तो वह जमीन दूसरे को दे दी जाती थी या राज्य उसे अपने सेवकों द्वारा अथवा व्यापारियों द्वारा जुतवाता था। बंजर भूमि को जो कोई भी चाहे, आबाद कर सकता था और उससे वह भूमि छीनी नहीं जाती थी। यहाँ कर्षक राज्य की भूमि का किसान समझा जाता था। बसनेवालों को राज्य से बीज, मवेशी और नकद रकम भी परती जमीन तोड़ने के लिए दी जाती थी। यह कर्ज के रूप में मिलता था और किसान सुविधानुसार चुकाते थे। अन्य रियायतें भी थीं, जैसे बन्दोबस्त के समय कर में छूट। ये सब कार्रवाइयाँ राज्य की ओर से होती थीं। यद्यपि ऐसे गाँवों को कई सुविधाएँ और रियायतें मिलती थीं, लेकिन धीरे-धीरे इन गाँवों के साथ भी वैसा ही बरताव शुरू हो जाता था जैसा अन्य पुराने गाँवों के साथ।

राज्य भूमि पर निजी स्वामित्व को मान्यता देता था, जबकि राजकीय भूमि भी राज्य के स्वामित्व में थी। सारी परती भूमि राज्य की मानी जाती थी। खेती का बहुत बड़ा हिस्सा विशाल राजकीय भूमि में राज्य के नियन्त्राधीन था। खेती की व्यवस्था करना और उसकी उपज बढ़ाना राज्य का काम था। ग्राम स्तर पर भी, कृषि भली-भाँति व्यवस्थित थी। ग्रामों का विभाजन तहसील की दृष्टि से किया जाता था। राजकीय खेत 'सीताध्यक्ष' (कृषि-अधीक्षक) के नियन्त्रण में था। ब्रोलर (Broeler) का मत है कि 'सीताध्यक्ष' के जिम्मे राज्य की पूरी कृषिक अर्थव्यवस्था थी। इस बात में विद्वान् लोग एकमत नहीं है। कृषि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सार्वदेशिक उद्योग थी। तहसील की दृष्टि से

कौटिल्य ने गाँवों का वर्गीकरण किया है, जैसे करमुक्त ग्राम, सैनिक सेवा, अनाज, मवेशी, नकद, वन की उपज या बेगारी के रूप में कर चुकानेवाले ग्राम। ग्राम-भृतकों (कुम्हार, लुहार, नाई, धोबी आदि) को नकद मजदूरी दी जाती थी, किन्तु परती खेत को आबाद करने के लिए उन्हें बाध्य किया जा सकता था।

राजा की भूमि में खेती का काम 'सीताध्यक्ष' की देखरेख में कराया जाता था। खेत की जुताई-बोआई दासों, कर्मकरों, दण्डप्रतिकरों आदि से कराई जाती थी। ये राज्य-सेवा में नियुक्त गुलाम और मजदूर होते थे और जुरमाना चुकाने में असमर्थ बन्दी अपराधी भी इनमें शामिल रहते थे। अन्य प्रकार की भूमियों में कर्षक अर्थात् काश्तकार लोग खेती करते थे और कभी-कभी इनके भी काम की देख-रेख समाहर्ता या उनके सहायकगण करते थे। सीताध्यक्ष द्वारा भंडार में लायी गयी उपज 'सीता' कहलाती थी और यह 'भाग' से भिन्न होती थी। गाँव की भूमि और सम्पत्ति का लेखिक विवरण 'गोप' और 'स्थानिक' बनाए रखते थे, जो समाहर्ता के अधीन काम करते थे और सीताध्यक्ष से उन्हें कोई सरोकार नहीं रहता था। राज्य की पशुशाला और गोशाला भी होती थी और इसके लिए अपेक्षित कर्मचारी वर्ग रखा जाता था। जुरमाने, बेगारी और कराधिक्य के कष्टकारी भार से कर्षकों को बचाना राजा का कर्त्तव्य होता था। 'क्षेत्रिक' (खेत का स्वामी) और 'उपवस' (काश्तकार) दोनों एक नहीं थे। लावारिस खेत तथा विधिसम्मत स्वामी से रहित विवादास्पद भूमि राज्यसात् हो जाती थी। भूमि की बिक्री पर भी कानून के कुछ बन्धन थे, किन्तु हस्तान्तरण का अधिकार स्वत्व या स्वामित्व का लक्षण माना जाता था। ब्रह्मदेय भूमि कर-प्रद भूमि से भिन्न होती थी। खानों पर राज्य का स्वामित्व था। भूमि के दानपत्र अध्यक्षों, लेखाकारों तथा अन्य निम्नस्तरीय अधिकारियों से सम्बोधित होते थे, जिनमें शर्त रहती थी कि दानग्राही को बिक्री का अधिकार नहीं होगा और इससे यह सिद्ध होता है कि दानग्राही को केवल भोगने का अधिकार होता था, न पूरा स्वामित्व होता था और न करों से विमुक्ति।

सिंचाई राज्य का एक महत्त्वपूर्ण काम थी। 'सेतु' उस बाँध को कहते थे जो पानी को बझाकर संचित रखने के लिए बनाया जाता था। दो प्रकार के सेतुओं का उल्लेख है—(i) 'सहोदक सेतु', जैसे पोखरा, कुआँ आदि, और (ii) 'आहृतोदक सेतु', जैसे जलागार।

निजी स्वामित्ववाले सिंचाई-पोखरे भी होते थे। सहकारी प्रयास को बढ़ावा दिया जाता था और सहकारी संस्थाओं के सदस्यों को सामूहिक काम में

तन से और धन से अंशदान करने के लिए बाध्य किया जाता था। खेती के कामों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। जिस भूमि पर सीधे राज्य की ओर से खेती की जा सकती है, वह आधे-आधे की दर से पट्टे पर बटाईदारों ('अर्द्ध-सीतिकों') को दी जाती थी। बटाईदार चतुर्थांश या पंचमांश उपज पर भी पाते थे ('स्ववीर्योपजीविनः')। खेतिहर मजदूर खुराक के अलावा उपज में दस प्रतिशत अंश पाते थे। सम्भवतः निजी स्वामियों के खेतों में भी यही मजदूरी मिलती थी। ये दरें सब्जी बागों, फल-बागों, फूलबागों और पशु-पालन के मजदूरों पर भी लागू थीं। यदि मजदूरी पहले ही तय न कर ली गई हो तो काश्तकार और पशुपाल फसल या घी का पचमांश पाने का हकदार होता था।

समाहर्ता और उसके सहायकों के जरिए राज्य कृषिक्षेत्रों का पूरा ब्योरा, खेत के और उपज के विभिन्न प्रकारों के साथ, बनाए रखता था। वह फसल की बोआई और कटाई पर भी नजर रखता था, ताकि उसका जायज अंश छुपा न लिया जाए। राज्य के अधिकारी राजस्व के निर्धारण के लिए भूमि और कृषि सम्बन्धी आँकड़े रखते थे। आँकड़ों का संग्रह भारतीय भौम अर्थ-व्यवस्था का एक अंग रहा है। 'सीता' और 'भाग' दोनों राजस्व के प्रमुख अंग थे। 'राष्ट्र', 'कर' 'बलि' और 'भाग' जैसे कर सम्भवतः किसानों के मत्थे ही पड़ते थे। 'उदकभाग' (सिंचाई-शुल्क) भी लिया जाता था। 'गोप' और 'स्थानिक' को राजस्व की वास्तविक तहसील से सरोकार नहीं रहता था।

राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा वन-सम्पत्ति से प्राप्त होता था। 'द्रव्यवनों' से तरह-तरह की इमारती लकड़ी और जलावन और लोहा, ताँबा, राँगा आदि धातुएँ प्राप्त होती थीं। ये वन राज्य के होते थे। राज्य की ओर से वन-रोपण भी किया जाता था। वन के उत्पादनों के लिए एक विशेष भंडार होता था। चरागाहें राज्य की होती थीं और 'विवीताध्यक्ष' (गोचर-अधीक्षक) की निगरानी में रहती थीं। राज्य के अधीन विशाल मात्रा में मवेशी भी रहती थी जिसकी देख-रेख 'गोपाध्यक्ष' करते थे और वे राज्य के हरेक पशु का लेखा-जोखा रखते थे। निजी व्यक्तियों के हर पशु का भी ऐसा ही अभिलेख 'समाहर्ता' के अधीन ग्राम एवं जिला अधिकारियों द्वारा रखा जाता था। इस तरह पशुधन की परिगणना सुनिश्चित रहती थी। संकट की घड़ी में राज्य की विशेष माँग में पशु भी लिए जाते थे; फिर भी जितनी आय कृषि और वाणिज्य से होती थी, पशुपालन से उससे बहुत कम होती थी।

उद्योग एवं व्यापार के संघटन में, कौटिलीय राज्य ने राष्ट्रीय जीवन के आर्थिक क्षेत्र में जितनी बड़ी भूमिका अदा की और जितना सर्वांगीण विकास किया, उतना शायद कभी न हुआ था। सुरक्षा का विश्वास जमा दिया था जो उत्पादन एवं विनिमय के कार्यकलाप के लिए बड़ा प्रेरक हुआ। मार्गों को दुरुस्त रखने पर भी उचित ध्यान दिया गया। मेगास्थनीज सिन्धु से पाटलिपुत्र तक और फिर वहाँ से गंगा के मुहाने तक राजपथ देखकर दंग रह गए थे। बहुत-सी सड़कों और योजक-पथों का उल्लेख मिलता है।

व्यापार, बहुत कुछ, राज्य के नियन्त्रण में था और 'पण्याध्यक्ष' (व्यापार-अधीक्षक) इस विभाग का प्रभारी होता था। वह उत्पादन एवं वितरण सम्बन्धी सभी पहलुओं पर विचार करके व्यापार की सभी वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था। देशी और बाहरी मालों पर क्रमशः पाँच और दस प्रतिशत लाभांश भी निर्धारित कर दिया जाता था। मूल्य-सम्बन्धी सीमा का उल्लंघन करने वालों को भारी जुरमाना चुकाना पड़ता था। जिन वस्तुओं की आमद बाजार में अत्यधिक हो जाती थी, उनमें वह हस्तक्षेप करता था; उन्हें केन्द्रित कर लेता था; ताकि मूल्यस्तर कायम रहे। सारा माल खरीद लिया जाता था और वितरण की व्यवस्था राज्य के माध्यम से होती थी। राज्य व्यापारियों और ग्राहकों के हितों के बीच समुचित सन्तुलन कायम करता था। **'संस्थाध्यक्ष'** (बाजार-अधीक्षक) ग्राहकों के हित की देखभाल करते थे, ताकि बनिया और पंसारी उन्हें गलत तौल या घटिया माल देकर ठगें नहीं। यह देखना भी उनका काम था कि बाजारों में पुराना (सेकेंड हैंड) या चोरी का माल घुसने न पाए।

निजी व्यापार के अलावा, राज्य स्वयं भी बड़े पैमाने पर व्यापार चलाता था। राज्य-व्यापार 'पण्याध्यक्षों' के अधीन चलता था। वह तरह-तरह के मालों के विषय में अच्छा जानकार होता था और उनकी आपूर्ति एवं माँग का हाल भली भाँति जानता रहता था। मूल्य तय करते समय वह ग्राहकों के हित पर ध्यान देता था। राज्य के माल को 'राजपण्य' कहते थे जिसमें देशी और बाहरी दोनों तरह के माल होते थे। राज्य आयात-व्यापार भी चलाता था। राज्य के माल की बिक्री राज्य के कर्मचारी करते थे। इस काम में बहुधा निजी व्यापारी भी लगाए जाते थे। कमीशन एजेंट भी रहते थे। 'पण्याध्यक्ष' का काम राज्य के माल को विदेश भेजना तथा विदेश से आये माल से राज्य के माल के विनियम (पण्यप्रतिपण्य) की गुंजाइश का पता लगाना भी होता था। आयात को बढ़ावा दिया जाता था और इसके लिए जहाज वालों और कारवाँवालों को छूटें दी जाती थीं।

आयात हुए हर माल पर शुल्क (चुंगी) लगता था जिसकी तहसील 'शुल्काध्यक्ष' (शुल्क-अधीक्षक) करते थे। शुल्क में आयात एवं निर्यात की वस्तुओं पर केवल सीमा-शुल्क ही नहीं, देशी वस्तुओं पर उत्पाद-शुल्क भी शामिल थे। उत्पाद-शुल्क फाटक पर वसूला जाता था। उत्पादन-स्थल पर माल बेचना मना था। उपर्युक्त वस्तुओं में फूलपत्ती से लेकर हीरा-मोती तक हरेक तरह की चीजें शामिल थीं। शुल्क की दर छठे हिस्से लेकर दसवें हिस्से तक उल्लिखित मिलती है। विदेशी वस्तुओं पर लगनेवाले सीमा-शुल्क का सविस्तर ब्योरा मिलता है। व्यापारियों को रास्ते की सुरक्षा के लिए सड़क-शुल्क 'वर्त्तनी' चुकाना पड़ता था। विदेशी व्यापारियों के साथ सद्भावपूर्ण बरताव किया जाता था। कुछ वस्तुएँ शुल्क-मुक्त घोषित थीं, जैसे विवाह यज्ञ या पुण्य कर्म के लिए अपेक्षित वस्तुएँ, आयात किए गए शस्त्र, रत्न, अन्न, पशु तथा ऐसी वस्तुएँ जिनसे राज्य को भारी फायदा हो।

कौटिल्य ने जलमार्ग का अपेक्षा स्थल-मार्ग को अच्छा माना है तथा हिमालयगामी मार्गों की अपेक्षा दक्षिणगामी मार्गों को अधिक पसन्द किया है। वे दक्षिण के मार्ग को इसलिए तरजीह देते थे कि उधर मोती, हीरा, शंक आदि माल तथा प्रचुर मात्रा में सोना मिलता था। जलमार्ग से लाए गए माल पर शुल्कादि घाटों पर ही ले लिया जाता था। राज्य की ओर से नावें रखी जाती थीं। चलनेवाले और वे व्यापारियों एवं मछुओं को भाड़े पर दी जाती थीं, इनके प्रभारी अधिकारी 'नवाध्यक्ष' कहलाते थे। राज्य कारवाँ (सार्थ) लेकर देशी व्यापारियों को रास्ते में रक्षा की व्यवस्था करता था और इसके लिए उन्हें सरहद चौकी पर 'वर्त्तनी' (सड़क-शुल्क) चुकानी पड़ती थी। यदि व्यापारियों को कोई नुकसान होता था तो उसके लिए राज्य के अधिकारी जवाबदेह होते थे। व्यापारियों से 'आतिवाहिक' (मार्ग-रक्षा-शुल्क) भी वसूला जाता था। व्यापार में इस्तेमाल होने वाले बाटों और मापों का निर्माण राज्य स्वयं करता था। इसकी निगरानी के लिए एक अधिकारी होता था जो 'पौतवाध्यक्ष' (मानकीकरण अधिकारी) कहलाता था।

अलग-अलग कामों के लिए अलग-अलग मानक चलते थे। जैसे :

(1) आयमान—कोष में प्राप्त वस्तुओं के मापक के लिए;

(2) व्यावहारिक—ऊपर के मानक से कुछ छोटा, व्यापार में इस्तेमाल के लिए;

(3) भाजन—उससे भी छोटा, कोषागार से वस्तु को निकालते समय मापने के लिए;

(4) अन्तःपुर भाजन—सबसे छोटा, राजा की ड्योढ़ी को रसद देने के लिए।

बाटों और मापों का निरीक्षण हर निमाही किया जाता था।

सिक्का बनवाना 'लक्षणाध्यक्ष' का काम था। सिक्के दो तरह के होते थे—(i) व्यापार में इस्तेमाल के लिए 'व्यावहारिकी', और (ii) खजाने के लिए ('कोषप्रवेश्य')। 'रूपदर्शक' सिक्कों का निरीक्षण करते थे। मुद्रा के सम्बन्ध में कई तरह के चार्जों का उल्लेख मिलता है। गैर-सरकारी सिक्कों का प्रचलन भी अनुमत था।

'वार्ता' (कृषि-पशुपालन-वाणिज्य) से मिलनेवाली आय के अलावा, राज्य को खानों और कारखानों से अच्छी आय मिलती थी। खानें 'आकराध्यक्ष' के जिम्मे रहती थीं, जो भूगर्भविद्या खनिजविद्या और धातुविद्या का जानकार होता था। सोने और चाँदी के शोधन की प्रक्रिया उल्लिखित है। अन्य धातुएँ थीं तांबा, राँगा, सीसा, लोहा आदि। हीरे और पन्ने का भी उल्लेख है। अयस्क (कच्ची धातु) के लक्षण भी बताए गए हैं। नमक की खानों की देखभाल 'लवणाध्यक्ष' करते थे। यद्यपि सभी खानों का मालिक राज्य स्वयं होता था, तथापि सभी जगह खनिजकर्म (खानकारी) राज्य प्रत्यक्षतः स्वयं नहीं करता था। खनिज वस्तुओं के उत्पादन और वितरण के लिए कई अधिकारी होते थे, जैसे 'स्वर्णाध्यक्ष', 'लोहाध्यक्ष', 'द्रव्याध्यक्ष'। राजकीय स्वर्णकार होते थे और उनपर कड़ी निगरानी रहती थी। खान के उत्पादनों से यथोपयुक्त कारखानों ('कर्मान्तों') में उपयोगी वस्तुएँ बनाई जाती थीं।

खानों से बारह प्रकार की आय प्राप्त होती थी 'मूल्य' (कीमत), 'भाग' (हिस्सा), 'व्याजि' (एक प्रकार का कर), 'परिघ' (एक तरह का रक्षा-शुल्क), 'अत्यय' (राज्य के एकाधिकार-नियम को तोड़ने का जुर्माना) 'शुल्क' (चुंगी) 'वैधारण' (राज्य का विक्रयाधिकार निजी व्यक्तियों को देने का मुआवजा), 'दण्ड' (जुरमाना), 'रूप' (निरीक्षण-शुल्क, अनेक मानों में), 'रूपक' (कारखाना-शुल्क), 'धातु' (सोना आदि) और 'पण्य' (बिक्री की चीजें)। खानकारी युद्ध-सामग्री का भी स्रोत होती थी।

वस्त्र-उद्योग 'सूत्राध्यक्ष' के जिम्मे रहता था। वह हर प्रकार के वस्त्र के निर्माण की देख-रेख करता था। शायद वह सोना के वस्त्र और साज-सामान का भी प्रभारी होता था। 'रथाध्यक्ष' रथों और गाड़ियों का प्रभारी होता था। उद्योग में निजी उद्यमों के लिए कोई खास गुंजाइश थी, ऐसा नहीं प्रतीत होता है, फिर भी

कुछ ऐसे पंसारी और शिल्पी थे जो स्वतन्त्र रूप से अपना कारबार चलाते थे और उनकी ओर से वृत्ति-संघ को जामिन होना पड़ता था। राज्य शिल्पियों (पंसारियों) के काम पर कड़ी निगरानी रखता था। ऋणों पर तथा बन्धक सहित या रहित कर्जों पर ब्याज की दर, ऋण की वसूली, रेहन के दुरुपयोग आदि के बारे में नियम निर्धारित थे। साझेदारी (पार्टनरशिप) के बारे में भी नियम थे तथा बिक्री या खरीद को मंसूख करने के भी नियम थे। वृत्ति-संघों के गठन और कार्यकलाप के बारे में बारीकी से कुछ बताया नहीं गया है।

दासों और कर्मकारों का उल्लेख है और उनके अधिकार एवं कर्त्तव्य तय किए हुए हैं। दास-प्रथा पर आधारित अर्थव्यवस्था पूर्वकालीन भारत के आर्थिक इतिहास का सही चित्र नहीं है। कौटिल्य ने शूद्रों को मुख्य कृषिजीवी समुदाय कहा है और वे दास यानी गुलाम नहीं थे। शूद्र श्रमिक-वर्ग के प्रमुख भाग थे, हालांकि हम ऐसी सम्भावना से इनकार नहीं कर सकते हैं कि दासों का उपयोग उत्पादन के कार्यों में, खास तौर से कृषि और खान के कामों में किया जाता था। प्राचीन भारत में पश्चिमीय ढंग की दासता नहीं थी। बैशम के अनुसार, प्राचीन भारत में दासों के साथ बरताव में जो मानवीय संस्पर्श है, खासकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, शायद किसी भी प्राचीन सभ्यता के इतिहास में अश्रुतपूर्व है। निम्न वर्ग के उत्पादकों और उच्च वर्ग के उपभोक्ताओं के बीच जो आर्थिक सम्बन्ध था, वह बैकोभ के अनुसार, प्राचीन भारत में सामन्तवाद के शीघ्र अवतरण का सूचक है। सम्पत्ति के उत्पादक दो निचले वर्ण, उच्च वर्णों द्वारा, जिनको राज्य से मेल रहता था, शोषित होते थे। इसका खंडन नहीं किया जा सकता है कि निचले स्तर के श्रमिकों का, खासकर शूद्रों के विशाल वर्ग का शोषण नहीं होता था, किन्तु कौटिल्य के संदर्भ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं प्रतीत होता है, जैसा कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है।

आर्थिक क्रियाकलाप पर राज्य का कड़ा नियंत्रण था। आय के साधनों का सामूहिक नाम 'आयशरीर' है और तब इसके सात अलग-अलग शीर्षक दिये गये हैं जिनका सामान्य नाम 'आयमुख' (आय स्रोत) दिया गया है। व्यय पन्द्रह शीर्षकों में दिखाया गया है जो 'व्ययशरीर' कहा गया है। राज्य एक सन्तुलन भंडार (बफर स्टाक) रखता था और मूल्य में अधिक उतार-चढ़ाव को रोकता था। राज्य के इस सन्तुलन भंडार का प्रभाव राज्य की अर्थव्यवस्था पर काफी पड़ता था। 'पण्याध्यक्ष' और 'कोष्ठागाराध्यक्ष' कौटिल्य व्यवस्था के आर्थिक जीवन के दो स्तम्भ थे।

कौटिल्य कोषागार को उतना ही महत्त्व देते थे जितना सेना को, क्योंकि सेना कोषागार की सहायता से ही खड़ी की जा सकती है; इसके अलावा यह धर्म और काम की पूर्ति में भी साधक है। कोष को भरने के सभी स्रोतों का उल्लेख है। इतना ही नहीं, कोष को समृद्ध बनाने के लिए कुछ शंकास्पद (अनैतिक) हथकंडों का भी प्रयोग बताया गया है, जैसे—

(1) धर्मभ्रष्ट संघों और मंदिरों की सम्पत्ति न्यासियों को मिलाकर राज्यसात् कर ली जाए और न्यासियों से यह कह दिया जाए कि सम्पत्ति जल गई या नष्ट हो गई।

(2) देवता के आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाकर उनकी पूजा के लिए मेले और समारोह शुरू किए जाएँ, ताकि उनसे राज्य को आय हो;

(3) गुप्तचर व्यापारी का बाना बनाकर लोगों से भारी मात्रा में निक्षेप और ऋण ले ले और रात में उसकी चोरी करा दें; जनता के अन्ध-विश्वास से लाभ उठाने के कई तरीके बताए गए हैं।

(4) सन्दिग्ध आचरण वालों को राज्य के गुप्तचरों के जरिए गम्भीर अपराधों में फँसा दे और उनकी सम्पत्ति जब्त कर लें। अपहरण के चालीस तरीकों का उल्लेख किया गया है।

अर्थव्यवस्था पर राज्य के कड़े नियन्त्रण से यह सिद्ध होता है कि राज्य व्यापक स्तर पर आर्थिक आयोजना करता था। कौटिल्य मे हमें आयोजित अर्थव्यवस्था की झलक मिलती है। नियन्त्रण पर जोर है। वे सम्पत्ति के लिए 'वार्ता' (कृषि-पशु पालन व्यापार) की महत्ता को स्वीकार करते हैं। आर्थिक कार्य-कलाप का सारा प्रशासन विज्ञ राजकीय अभिकरणों द्वारा चलाते थे। वे वणिक्-वर्ग को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का सम्मान्य एवं महत्वपूर्ण अंग मानते थे। राज्य मुनाफाखोरी और चोरबाजारी से रक्षा करता था। कुछ क्षेत्रों में विकेन्द्रीकरण का भी समर्थन एवं प्रोत्साहन दिखाई देता है। राज्य जरूरतमंदों को निर्वाह-वृत्ति भी देता था। अन्न और अन्यान्य वस्तुओं में मिलावट करने वालों को दंड दिया जाता था।

कौटिल्य का विचार है कि आपत्काल में राजा प्रजा से याचना करके राजस्व का संग्रह करें। राजस्व जुटाने के असाधारण और अनियमित तरीकों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उनका मत है कि सम्पत्ति का योग क्षेम (अर्जन और रक्षा) शान्ति और उद्योग पर निर्भर है। उन्होंने कार्यदक्षता, ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठता पर बल देते हुए न्याय-संगत नीति के जरिए वित्तीय प्रशासन करने की पद्धति को अपनाने की सलाह दी है।

राज्य ने न केवल भीतरी व्यापार मार्गों पर अपना नियन्त्रण जमाया, बल्कि ऐसे अधिकतर स्थलमार्गों पर भी जो भारत को भूमध्य सागरीय देशों से जोड़ते थे। उद्योग और वाणिज्य का व्यवसाय करने वाले वर्गों को दरबार से कितना लगाव रहता था, यह उन नियमों (अशा— II. 4) से जाहिर होता है जिनमें किलाबन्द राजधानी के नगर-निवेश का खाका दिया गया है। कौटिल्य राज्य का लक्ष्य था अंशतः स्वयं भाग लेकर और अंशतः प्रशासनिक अभिभावकत्व करके बन्धनहीन स्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था की बुराइयों पर काबू पाना। राज्य मालिक और मजदूर दोनों को सन्तुष्ट रखते हुए औद्योगिक नियम-कानून तय करता था। कौटिल्य के राज्य का रूप सर्व-समाहारात्मक था। राज्य का लक्ष्य था समृद्धशील अर्थव्यवस्था तथा राष्ट्रीय सम्पदा की वृद्धि और उन्होंने बताया है कि अर्थ दण्ड का सबसे महत्वपूर्ण अग है। कौटिल्य राज्य को कल्याण राज्य का स्वरूप प्राप्त था राज्य के क्रियाकलाप का दायरा सर्वव्यापी था। अर्थ हर दृष्टि से महत्वपूर्ण था। उन्होंने कहा है—"जो ग्रह नक्षत्रों के फेर में पड़ता है, सम्पत्ति ऐसे मूख से मुंह मोड़ लेती है, क्योंकि सम्पत्ति ही सम्पत्ति का ग्रह-नक्षत्र (भाग्य निर्धारक) है, ग्रह-नक्षत्र क्या करेंगे ?" (अशा—IX. 4)।

●

अध्याय 14

मन्दिरों की अर्थव्यवस्था

भारतीय इतिहास के पूर्व मध्यकाल में आर्थिक क्षेत्र में मन्दिरों की बड़ी प्रमुख भूमिका रही है। मन्दिर सम्पत्ति के भंडार होते थे। मन्दिरों में सिक्कों, गहनों जवाहरात, सोने की छड़ों के रूप में सम्पत्ति का अम्बार लगा रहता था। मन्दिरों के स्वामित्व में दूकानें होती थीं और वे कई स्रोतों से दान प्राप्त करते थे। मन्दिर मानो स्वतन्त्र नगर का एक लघु रूप होता था जहाँ इसके कार्यों के संचालन के लिए भरा-पूरा कर्मचारी-वर्ग रखा जाता था। वह बैंक के रूप में भी काम करता था, दानों और धर्मस्वों का निक्षेप प्राप्त करता था, जिस धन का वह न्यासी होता था। धर्मस्व में व्यापार पर लगने वाले कर का हक भी शामिल होता था। (ओइहिका-1953, पृ० 163 और आगे)।

मन्दिरों में किए गए निक्षेप, उनकी पवित्रता के कारण, सुरक्षित समझे जाते थे। लोग अपनी निधि दोनों पक्षों में तय हुई शर्तों पर रख देते थे। वृत्तिसंघ भी मन्दिरों के परिपालन में चाव लेते थे और अपने-अपने सदस्यों से प्रतिज्ञात चन्दा वसूल कर धर्मस्व के हितभागियों को नियमित रूप से चुकाते थे। मन्दिर की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने वालों के लिए मनु ने दंड-विधान किया है। कौटिल्य के 'देवताध्यक्ष' ने राज्य के सभी मन्दिरों की सम्पत्ति को एकत्र किया, ताकि आपत्काल में राजा उसका उपयोग कर सके। शुक्र ने मन्दिरों के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की अनुशंसा की है। राजा भी अपनी सम्पत्ति मन्दिर में रखते थे। संकट के समय राजा भी मन्दिर की सम्पत्ति से ऋण लेते थे।

मन्दिर-प्रबन्ध-समिति 'गोष्ठी' कहलाती थी। इसका अस्तित्व द्वितीय शताब्दी ई० पू० से ही मिलने लगता है (एइ-II, पृ० 87)। 'गोष्ठिकों' (गोष्ठी के न्यासियों) का चयन इलाके के परम मान्य व्यक्तियों में से किया जाता था। चालुक्य दानपत्र (इए-XI, 337 और आगे) में ऐसे आठ न्यासियों का उल्लेख है। न्यासियों के नाम माउंट आबू जैन अभिलेख (एइ-VIII, 200 और आगे) में भी उल्लिखित हैं। कल्हण ने पुजारियों के निगम या परिषद की चर्चा की है। जब मन्दिरों की हैसियत समृद्ध जमींदार की हो गई तब पुजारियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया।

राजकीय चुंगी-घरों से भी धार्मिक संस्थाओं के निर्वाह के लिए कुछ-न-कुछ चन्दा लिया जाता था। कई तरह के कर मन्दिरों को हस्तान्तरित करने का ब्योरा भी कई उत्कीर्ण लेखों में मिलता है। बड़े-बड़े मन्दिरों के पास बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ और अपार सम्पत्ति थीं। राष्ट्र की सम्पत्ति का विपुल अंश इन संस्थाओं में संचित था।

मन्दिर-सम्पदा का प्रबन्ध मूलतः ब्राह्मणों तथा अन्य कर्षक, वणिक् एवं शिल्पी जातियों के प्रमुखों द्वारा किया जाता था। मन्दिरों में विशाल कर्मचारी-वर्ग रहता था, जिसमें लिपिक, शिल्पी, गायक, वादक, नर्तकी, नाई, चाकर शामिल रहते थे। सोमनाथ मन्दिर को दस हजार से अधिक गाँवों की मिल्कियत थी। परान्तक प्रथम के राज्य में उत्तर मेरू नामक एक ब्राह्मण ग्राम था जिसका शासन ब्राह्मणों की सभा के हाथ में था। मन्दिर की विशाल स्थापना थी जिसमें विविध पदों पर कई सौ कर्मचारी नियोजित थे। सहस्रबाहु मन्दिर अभिलेख में बढ़ई, यान्त्रिक, रथकार आदि की नियुक्ति की चर्चा है (इए XV 33)। मन्दिरों को दान में कुम्हार, धोबी, माली आदि भी दिए जाते थे। ये अपने-अपने मालिकों की जागीरों से सम्बद्ध थे। वेंकटेश्वर मन्दिर के अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि मन्दिर की भूमि किसानों को दी गई और लगता है ये किसान बटाईदार थे और इसमें मन्दिर का हिस्सा 51 प्रतिशत से 71 प्रतिशत तक होता था। ब्राह्मणों को भारी संख्या में बसाना एक ऐसा धार्मिक उपाय था जिससे खतरनाक सामन्ती सेनाओं का सामना किया जा सके। मन्दिर के चाकरों और पुजारियों को वेतन दिए जाने का निर्देश मिलता है। जैन मन्दिरों में भी यही परिपाटी थी। स्थानीय निवासियों से कर वसूला जाता था।

बहुत-सारे उत्कीर्णलेखों में मन्दिरों को भूमि के दान का उल्लेख मिलता है। मन्दिरों के पास बहुत भूमि-सम्पत्ति थी। तिमाना (Timana) (दान) अभिलेख में निर्वाहार्थ मन्दिर को भूमि के दान का निर्देश है। इसमें ऐसे काश्तकारों के नाम भी आए हैं जो दान में भूमि के साथ हस्तान्तरित किए गए थे या भूमि को जोतने के लिए नियुक्त किए गए थे। इस अभिलेख में नकदी वार्षिक दान दर्ज है। (इए-XI, 337-40)। तिमाना अभिलेख में आगे कहा गया है कि एक गोष्ठी (धार्मिक न्यास) के राजस्व-प्रशासन के लिए नौ 'गोष्ठिक' (न्यासी) नियुक्त किए गए (एइ-XI, 52, 54)। जालोर प्रस्तर अभिलेख में आहर (Ahar) का भी निर्देश है। मन्दिर की न्यास-सम्पत्ति के प्रभारी एक 'गोष्ठी' का भी चर्चा आई है। विजयपाल की मथुरा प्रशस्ति में भी मन्दिर-प्रशासन के इसी ढाँचे की झलक मिलती है। सोमनाथ के

मन्दिर के धर्मस्व का प्रभारी गंड बृहस्पति (Ganda Brhaspati) नामक एक राज्याधिकारी था (इए-XXI. सं० 1)। प्रतीत होता है कि राजा बड़े-बड़े मन्दिरों के लिए भी प्रशासकों की नियुक्ति करता था।

कुछ पुजारियों को मन्दिरों और मठों की सम्पत्ति पर अपने स्वामित्व का दावा करते देखते हैं। जय चेम्बोलु के मन्दिरों की भूसम्पदा का प्रबन्ध करते थे (एइ—V. 51) और उन्होंने विविध कार्यकर्ताओं को भूमि सौंपी। अल्हणदेवी ने मन्दिर का खर्च चलाने के लिए दो गाँव प्रदान किए (एइ—V 14)। बहुत से दृष्टान्त इस सम्बन्ध में दिए जा सकते हैं (एइ—II 8, 18, 19 आदि)। एक गाहड़वाल अभिलेख में कहा गया है कि किसी गाँव में जलयन्त्र (रहट) से वसूले गए कई 'कुमारद्रोण' गेहूँ में से पाँच द्रोण गेहूँ उस गाँव के मन्दिर के परिमार्जक (झाड़ने-बुहारनेवाले) को दिया गया (एइ—XXXIII. 241-45)। के० ए० एन० शास्त्री ने 'दशबन्ध' शब्द का अर्थ किया है किसी निश्चित आमदनी में से किसी खास सार्वजनिक प्रयोजन के लिए दसवें हिस्से को अलग कर रखना। एक चाहमान अभिलेख में बताया गया है कि राणक नामक एक व्यक्ति ने मन्दिर की नर्तकी को 'दशबन्ध' चुकाने से बरी कर दिया (डिहिनॉइ-II. 1113)।

के० वी० रमण ने 'कांची के वरदराजस्वामी मन्दिर' शीर्षक अपने अध्ययन के क्रम में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि मन्दिरों का प्रबन्ध कैसे होता था और कौन-कौन कर्मचारी रहते थे। कर्मचारियों मे थे मन्दिर के वस्तुशिल्पी, स्तोत्र पाठक, तीर्थों से जल लानेवाले तथा कई शारीरिक श्रम करने वाले, जैसे चँवर डुलाने वाला। दीप-धारी, बढ़ई, रसोइया, सुनार आदि। इस कृति में दिखाया गया है कि मन्दिर के कार्यकलाप पर राजा का कहाँ तक और किस तरह का नियन्त्रण था और बताया गया है कि मन्दिर के अधिकारियों में एक था 'श्रीकार्यम्' कर्णाटक में उत्तरोत्तर अधिकाधिक दानों से मठ और मन्दिर समृद्ध होते गए। भूस्वामी के रूप में मन्दिरों की भूमिका तथा उनके अपार धन एवं भौतिक बल का उल्लेख उत्तर और दक्षिण भारत के कई उत्कीर्णलेखों मे किया गया है।

असंगकृत महायान ग्रन्थ 'श्रावकभूमि' में दान के सिद्धान्त और प्रयोग के विकास का उत्कृष्टतम विवेचन हुआ है। इसमें दास-दान को मान्यता दी गई है और श्रमणों एवं ब्राह्मणों को दासेतर सेवक देने के पुण्य का बखान किया गया है। मठों को पशुपाल और मवेशी दिए जाते थे और साथ ही उनको खेती करने लायक जमीन भी दी जाती थी। बुद्धघोष के 'सामन्तपसादिका' में 'आरामिकों' की चर्चा है जो संघों को समर्पित किए गए थे और उनसे खेती का काम लिया

जाता था। इस 'सामन्त पसादिका' की टीका ('सारार्थदीपनी', श्रीलंका में बारहवीं शताब्दी ई० में रचित) ज्ञात होता है कि आरामिक मठ के खेत जोतते थे। वे संघ की भूमि के अस्थायी काश्तकार होते थे। बुद्धघोष इस मत के थे कि खेती लायक सारी जमीन काश्तकारों को सौंप देने की परिपाटी अच्छी है।

खेती के लिए फाजिल श्रम (बेगारी) लेने की परिपाटी थी। यह परिपाटी कमोबेश हिन्दू मन्दिरों में भी चलती थी। बेगारी का प्रयोग सम्बद्ध गाँवों के भीतर खासकर सार्वजनिक कार्यों या सार्वजनिक उपासनाओं में किया जाता था। मन्दिर के निर्माण का सारा खर्च जिन्सी भूराजस्व से पूरा किया जाता था। कर्णाटक में धान के खेत की अतिरिक्त उपज अतिरिक्त मन्दिर बनाने में खर्च की जाती थी। राजस्थान के एक ताम्रपत्र (ए इ—XXXI I. 24 और आगे) में तथा एक चालुक्य उत्कीर्ण लेख (इ ऐ—XI. 337-40) में मन्दिरों को कर्षक का दिया जाना अभिलिखित है। मठों और मन्दिरों ने कर्षक-सामन्त-सम्बन्ध की स्थापना को अनुकूल अवसर प्रदान किया। मिले हुए दानों से मठ और मन्दिर मानों सामन्त बन बैठे। अप्पादो रैय ने ठीक ही कहा है कि पूर्व मध्यकाल के दक्षिण भारतीय मन्दिरों की भूमिका भारी नियोजक की रही है और अधिकतर मन्दिर-कर्मचारियों को चोलों के राज्य-काल में जमीन की शक्ल में पारिश्रमिक दिया जाता था और परिपाटी बहुत ही प्रचलित थी जैसा कि उत्कीर्ण-लेखों की बहुतायत से साबित होता है। इससे यह बात प्रकट होती है कि यद्यपि मुद्रात्मक अर्थव्यवस्था चल पड़ी थी, तथापि चोल शासक मन्दिर-संस्थाओं को सामन्तीय रूप देना पसन्द करते थे। मन्दिर-संस्थाएँ मन्दिर के निर्वाह के लिए भूमि का विकास करती थीं। अतः मन्दिरों को अपनी भूमि में खटाने के लिए भारी मात्रा में श्रमिकों की आवश्यकता होती थी।

धार्मिक जमींदारी का उदय होना पालों की अमलदारी का एक महत्त्वपूर्ण विकास है। दानों का लाभ शैव, वैष्णव और बौद्ध मन्दिरों को मिलता था। नालन्दा ओदन्तपुर, विक्रमशिला, जगद्दल आदि विद्यापीठों को कई सौ गाँवों की जमींदारी प्राप्त थी। गाँवों की जमीन का काफी हिस्सा पुरोहितों, पुजारियों, मन्दिरों और मठों के हाथ में था। वे भूमि के महत्त्वपूर्ण दरमियानी हकदार थे और इस प्रकार उनसे एक भूस्वामी वर्ग का जन्म हुआ। पालों और प्रतिहारों की अमलदारी में भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व सृजित हुआ। सामुदायिक सम्पदा किस प्रकार सामन्तीय सम्पदा का रूप लेती गई, इसका एक अच्छा उदाहरण है ग्वालियर नगर जहाँ कई किता जमीन स्थानीय मन्दिरों को दान दी गई (एइ–I. सं० 20)। ये मन्दिर अपनी जमीन में दूसरों से खेती करवाते थे। व्यापारी भी मन्दिरों को

दान देते थे। सीयादोनी (Siyadoni) के शासक उन्दभट्ट ने बिक्री के माल पर वसूली गई चुंगी का एक निर्धारित अंश विष्णु के मन्दिर को समर्पित किया (एइ-I, सं० 21)। सोलह दूकानों से हुई आय भी विष्णु को समर्पित की गई। शुल्क और चुंगी से होने वाली आय पुण्यार्थ मन्दिरों को दी जाती थी। व्यापार पर मन्दिरों के नियन्त्रण से मन्दिरों के विकास में अवरोध आया और इससे सामन्तीय स्थिति के पनपने एवं बने रहने में मदद पहुंच। सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का मूल लक्षण है स्थानीय आवश्यकताओं की स्थानीय साधनों से पूर्ति। प्रतीहारों के राज्य में राजस्थान के मन्दिरों ने अपने भूखंडों को समेकित करके आत्मनिर्भरता प्राप्त की (एइ-X V पृ० 177)। ग्रामवासियों ने हर तरह की सेवाएँ उपलब्ध कराकर बड़े-बड़े मठों को आत्मनिर्भर बनाए रखने में मदद पहुचाई। धार्मिक दान प्रतीहारों की अमलदारी में अधिक व्यापक रहा और गुजरात एवं राजस्थान के कई भागों में दानग्राही जमींदार के रूप में उदित हुए जो पुलिस एवं वित्तीय प्रशासन के भी प्रभारी होते थे। पुरोहितों को दिए जाने वाले इन दानों की तुलना हम मध्यकालीन यूरोप में चर्चों को दिए जाने वाले समनुदानों (बेनिफिज) से कर सकते हैं। उड़ीसा में ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदानों का प्रभाव यह हुआ कि आदिवासियों को ज्ञान का आलोक मिला और उनमें राजभक्ति जगी। इन ब्राह्मण जमींदारों को सारे वित्तीय अधिकार दिए गए और इन्होंने आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था बनाए रखी। ब्राह्मणों और मन्दिरों को दान राष्ट्रकूटों की अलमदारी में भी दिए गए। उन्होंने और अधिक दानात्मक एवं प्रशासनिक शक्ति पाई। राष्ट्रकूटों के अधीन धार्मिक जमींदारों की संख्या बहुत थी। सामन्ती स्थिति मन्दिरों के प्रसार में सहायक हुई और सामन्ती प्रभुओं ने धार्मिक संस्थाओं को करमुक्त भूस्वामी बना दिया।

भूमिदान और ग्रामदान के फलस्वरूप ऐसा सामन्ती सम्बन्ध स्थापित हुआ जिससे कर्षकवर्ग अवदमित हुआ। कर्षक और कर्मचारीगण मन्दिर के अधिकारियों की ज्यादती के विरुद्ध आवाज उठाने लगे। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि कर्षक और कर्मचारी अधिक आर्थिक कष्ट में रहते थे। मन्दिर के नाम पर नई-नई उगाहियाँ ली जाती थीं। बहुधा कई कर ग्रहणाधिकार भी मन्दिरों को हस्तान्तरित कर दिये जाते थे। मन्दिरों के लेखे की राजकीय जाँच राज्य के अधिकारी करते थे। कोंकण क्षेत्र के आठवीं शताब्दी के एक अभिलेख से प्रकट होता है कि मन्दिर को दान में दिए गए ग्रामों और सम्पत्तियों का प्रबन्ध गाँव के दस-पाँच वणिकों के हाथों होता था जो वार्षिक धर्मानुष्ठानों की देख-रेख करते थे और राजकीय अधिकारियों को खुराक पहुँचाने तथा शुल्क चुकाने से बरी होते थे।

कई अभिलेखों से प्रकट होता है कि दक्षिण भारत में शोषणकारी स्थिति के विरोध में दिहात के कर्षक वर्ग भागकर दूसरी जगह चले जाते थे।

पल्लवों और चोलों ने आठवीं शताब्दी से ही विविध मन्दिरों को बहुत से मूल्यवान् दान दिए और मन्दिरों में कर्मचारियों की संख्या बढ़ने लगी। कर के बोझ से परम पीड़ित होकर प्रजा के सामूहिक पलायन का उल्लेख 'बृहन्नारदीय पुराण' और सोमदेव सूरि के 'नीतिवाक्यामृत' मे हुआ है। कुछ उत्कीर्ण लेखो से पता चलता है कि कर चुकाने में असमर्थ होने के कारण कृषक गाँव छोड़कर भाग गये (जश्रोह 1979, पृष्ठ 81)। श्री वाइ० गोपाल रेड्डी का विचार है कि यह सामाजिक-सह-आर्थिक गतिशीलता मे ह्रास होने का अथवा पंसारियों एवं शिल्पियों के विवश होकर कृषि-दास की स्थिति म आ गिरने का सूचक है। राजा मन्दिरों का सम्पोषण करते थे जिसका उन्हें राजनैतिक प्रतिफल मिलता था और ऐसा औजार हाथ लगता था जिससे मन्दिरादि सस्थाएँ उनका हित साधन करती रहतीं थीं। पल्लवों के अमलदारी में इस प्रभुसत्ता की धारणा में एक मौलिक अन्तर आया। अब दान देना प्रभुसत्ता का मूल लक्षण माना जाने लगा। पल्लवो के राज्य काल में जिस समय यह अन्तर आया, उसी समय एक और परिवर्तन यह हुआ कि अब पौराणिक देवताओं शिव और विष्णु के मन्दिर बनने लगे। चोलों की अमलदारी में इस ढंग की प्रभुसत्ता राजकीय उदारता के फलस्वरूप मन्दिरों को प्रचुर राजकीय दान मिले और ब्रह्मदाय स्थापित हुए। लोगों को प्रभुसत्ता दिखाने के लिए मन्दिरों के निर्माण को एक असाधारण एवं सबल भूमिका मिली। मन्दिर में स्थापित विष्णु राजा माने जाने लगे और राजा विष्णु रूप होता है, यह मान्यता भी अन्य स्रोतों से विदित है। राजा बनने के लिए मन्दिरों का होना अनिवार्य हो गया। मन्दिर के विवादों का निपटारा राजा (सम्राट्) करते थे। दक्षिण भारतीय समाज में मन्दिरों की प्रमुख भूमिका थी, क्योंकि विभिन्न स्तरों पर सत्ता के सघटन में मन्दिर अपरिहार्य होते थे। पहाड़ियों पर मन्दिरों के जो विशाल निर्माण-कार्य हुए हैं, उनमें भारी मात्रा में लगातार कुशल और अकुशल मजदूरों का आयात आवश्यक रहा होगा।

पश्चिम भारत के बौद्ध विहारों (जैसे नासिक, जुनार, कार्ले, नानाघाट, आदि में अपार सम्पत्ति संचित थी, जिसे वे व्यापार-वाणिज्य में लगाते थे। उनके तिजारती कामों में शामिल था व्यापारियों के कारवाँ को पूँजी और पाथेय उधार देना। वे विहार, पश्चिम भारत के व्यापार मार्गों के महत्वपूर्ण चौराहों के निकट पड़ते थे। बौद्धधर्म के 'मूलसर्वास्ति वादियों' 'महासांघिकों' के सम्प्रदायों

के (उदार विचार के) कारण ही विहारों का सामान्यत: वर्जित ऐसे काम में लगना सम्भव हुआ (जबआरएएसी—1956, पृ० 50 और आगे)।

परवर्ती काल के सामन्ती युद्धों से जो अस्थिरता और अस्तव्यस्तता पैदा हुई, वह अवश्य ही वृत्तिसंघों के पतन का एक प्रमुख कारण रही होगी। वृत्तिसंघों को मन्दिरों से कड़ी होड़ का सामना करना पड़ा होगा, क्योंकि स्थायी निक्षेपों के प्रबन्ध के लिए मन्दिर सुतराम अधिक विश्वासयोग्य माने जाते थे। एक मामले में वृत्ति-संघ के प्रमुख द्वारा बनाए गए मन्दिर को संघ के सदस्यों ने निधियाँ दीं। मध्य काल (10वीं-12 वीं शताब्दी) में औद्योगिक श्रम की प्रतिष्ठा निश्चत रूप से घटी और इससे वृत्तिसंघों की हैसियत बिगड़ी। कई चाहमान आभलेखों मे हम मन्दिरों को निक्षेप लेते और ब्याज चुकाते पाते हैं। मन्दिर की सम्पत्ति मे लोगों की जो निष्ठा थी उसके कारण अन्य संस्थाओं के पास जमा करने की अपेक्षा मन्दिर में जमा करना अधिक सुरक्षित समझा जाता था।

राज्य का राजस्व-स्रोत तीर्थयात्री-कर भी था। दक्षिण भारत में मन्दिरों की जमींदारियाँ खास तौर से विस्तृत और सुसंगठित थीं। सामन्ती प्रभुओं के बीच समृद्धि में सबसे ऊपर थे सामूहिक स्वामी हिन्दू मन्दिर और मठ। ग्राम-समुदाय और ब्राह्मण-सभा के बीच अन्तर यह था कि ब्राह्मण-सभा में केवल जमींदार रहते थे। मन्दिरों की सम्पत्ति का बँटवारा नहीं होता था, बल्कि वे राजाओं, सामन्तों, ग्रामवासियों से हर तरह का दान पा-पा कर अपनी सम्पत्ति बढ़ाते ही जाते थे। मन्दिरों को प्रदत्त भूमि कर-मुक्त होती थी और उसपर और भी कई प्रकार की छूटें मिलती थीं। मन्दिर की भूमि राजस्व चुकाने से बरी थी। अखंड ग्राम का दान प्राप्त करना मन्दिरों के लिए प्रचलित परिपाटी थी, जिसमें ग्राम के निवासी पुजारियों और मठाधीशों के लिए खेती का काम कर देते थे। मन्दिर जिन्सी लगान वसूलते थे और कर्षक लोग धार्मिक अनुष्ठानों के लिए मन्दिर को यथापेक्षित हर सामग्री पहुँचाने के लिए बाध्य होते थे। कश्मीर के एक राजा ने मन्दिर के ग्रामों को जब्त कर लिया। कश्मीर के हर्ष (1089-1101) ने गम्भीर वित्तीय संकट से उबारने के लिए मन्दिरों की अन्धाधुन्ध लूट-पाट की और देव-प्रतिमाओं को विसर्जित करने के लिए एक धर्माधिकारी को नियुक्त भी कर दिया।

दक्षिण भारत के मन्दिर आर्थिक जीवन के केन्द्रस्थल हो गए। बचत से आलीशान मन्दिर बनाए जाते थे और विद्वानों के लिए 'घटिकाओं' की व्यवस्था की जाती थी। ब्रह्मदेय (ब्राह्मण-ग्राम) कई पहलुओं में अन्य ग्रामों से भिन्न तरह के होते थे। ये थे भरण-पोषण के लिए ब्राह्मणों को दी गई समृद्ध किसानों की

बस्तियाँ। ऐसे ग्रामों के दान के समय धार्मिक समारोह किया जाता था और इस प्रकार नवसृजित ब्रह्मदेय ग्राम, जो पूर्व में किसानों के नियन्त्रण में होते थे, उनके नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त हो जाते थे। यह बात ब्रह्मदेय ग्राम की एक खास पहचान होती थी। परान्तक प्रथम के अधीन उत्तरमेरुर असीम अधिकारों से सम्पन्न एक ब्रह्मदेय ग्राम था।

राजेन्द्र चोल ने ग्रामवासियों को आज्ञा दी कि वे मन्दिर को सेवक दिया करें और उनके भरण-पोषण का व्यय उठाएँ। विभिन्न कोटि के लगभग पाँच सौ कर्मचारियों का भरण-पोषण उन-उन ग्रामों के निवासियों को करना पड़ता था, जहाँ से व कर्मचारी आए होते थे; इसके अलावा उन ग्रामवासियों को सामान्य कर तो चुकाना ही पड़ता था (तंजावर उत्कीर्णलेख-II. सं० 57, 69; साइइ—II. 320)। तंजावुर मन्दिर भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के मूल स्रोत धन और पशु के पुनर्वितरण का मानो केन्द्र बन गया था। मन्दिर का लेखा बड़े वैज्ञानिक ढंग से रखा जाता था और उसकी जाँच राजकीय लेखापरीक्षक करते थे। ब्रह्मदेय ग्राम ब्राह्मण-धर्म के प्रसार में बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रखते थे और चोल शक्ति के ढाँचे में केन्द्रबिन्दु का काम करते थे। मन्दिर के अधिकारी सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास में भी निमित्त होते थे। 732 ई० के एक चीनी वृत्तान्त से इस बात की पुष्टि होती है कि निवासियों सहित ग्राम मन्दिरों और मठों को दान देना देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र प्रचलित था।

पूर्वमध्यकालीन दक्षिण भारतीय मन्दिरों की सामन्ती प्रवृत्ति का सम्पोषक बहुत हद तक वे देवदान हैं जो शाश्वत रूप से दिए जाते थे। भूमि देवदान के रूप में मन्दिरों की होती थी। ऐसी भूमि कर-मुक्त होती थी और कुछ स्थानों में जीवित (Jeevitha से भी मुक्त होती थी। दक्षिण भारत में मन्दिर-सम्प्रदाय के प्रसार का प्रयास सबसे पहले पल्लव-पूर्व काल में हुआ और सातवीं शताब्दी से मन्दिर-निर्माण की प्रथा दूर-दूर तक फैलती गई। भूमि पर अधिकार पाने के संघर्ष में मन्दिर मैदान में आए। राजा लोग मन्दिरों का सम्पोषण करके राजनैतिक फायदा उठाते थे।

राजराज (995-1010) ने बड़े-बड़े मन्दिरों की आय बढ़ाने के उद्देश्य से कई मामलों में भूमिस्वामित्व मिलकियत) में कुछ हेरफेर किया। पूर्व के मालिकों के हक खत्म कर दिए गए, कर्षकों को बेदखल कर दिया गया और स्वामित्व मन्दिरों को दे दिया गया और राजस्व की एक अक्षय एवं स्थायी निधि मन्दिर को अर्पित की गई। तंजावुर मन्दिर के देवता कुल पैंतालीस ग्रामों की सारी भूमि के मालिक बन गए और ग्रामों के प्रभावशाली वर्ग देवता के अधिकृत प्रतिनिधि मात्र समझे जाने लगे।

किसानों को मन्दिरों की फिजूलखर्ची का बोझा ढोना पड़ा। मन्दिरों ने धार्मिक सामन्ती संस्था का रूप ले लिया। भूमिदानों से उनमें सामन्ती रंग आया। वे शक्तिशाली जमीदार बन गए और अपनी भूमि पटटे पर किसानों को देने लगे। मन्दिरों को अट्ठारह प्रतिशत से पचास प्रतिशत तक कर उगाहने का अधिकार सौंपा गया जिससे किसानो पर आर्थिक दबाव बढ़ा और नई-नई उगाहियों से उनके ऊपर कर का बोझ बढ़ता गया।

दक्षिण भारत के वणिकों में भी धार्मिक संस्थाओं को भूमिदान देने की प्रथा खूब चली। व्यापारियों के संघ, निगम तथा अन्य सघटन भी दान करते थे। चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ (1184-1200) के एक अभिलेख में उल्लेख है कि कई वृत्तिसंघों ने मिलकर एक मन्दिर को किसी खास उगाही से छुटकारा दिया। शायद इससे मन्दिर एवं वणिकवर्ग के सहजीवन का आर्थिक आधार बना होगा। मन्दिरों और वणिकों के बीच आर्थिक स्पर्धा की सम्भावना इस बात से खंडित हो जाती है कि मन्दिर व्यापार में धन लगाते थे। मन्दिर के शिल्पी व्यापार के लिए वस्तु का उत्पादन नहीं करते थे। ये अपना अधिकांश धन स्थानीय संघों को या कुछ हिस्सा वणिकों को उधार देते थे। वणिक् वर्ग अपनी पूँजी का कुछ हिस्सा मन्दिरों से पाते थे और धार्मिक संस्थाओं के प्रति उनकी उदारता का यही पर्याप्त कारण था। ये मन्दिरों के प्रबन्ध में भी प्रत्यक्ष भाग लेते थे, मन्दिरों के प्रशासन से निकटतः सम्बद्ध रहते थे और उनके आर्थिक साधनों पर नियन्त्रण रखते थे।

जमींदार के रूप में मन्दिरों के अधीन रैयतों की भारी तायदाद रहती थी। मन्दिर समकालीन आर्थिक कार्यकलापों पर बहुत कुछ हावी रहते थे। जब मन्दिर में राजा आते थे, तब स्थानीय गण्यमान्य व्यक्ति अवसर से लाभ उठाते हुए परती भूमि को दान या पट्टा देने के लिए आवेदन करते थे और ऐसे दानों में जोत की शर्तें नियत कर दी जाती थीं। मन्दिरों में राजा के आगमन का अभिलेख रखा जाता था। मन्दिर दास भी रखते थे। मन्दिर से ग्रामवासियों और अन्य लोगों को बारह प्रतिशत की प्रचलित दर से ब्याज पर कर्ज दिया जाता था। मन्दिर उनका उद्धार भी करते थे जो आर्थिक संकट में फँस जाते थे। ब्याज की वसूली में मन्दिर के अधिकारी ग्रामसभा के प्रति जिम्मेवार होते थे।

एक बार कर तहसीलने वाले अत्याचारी अधिकारियों ने सारे इलाके को मुसीबत में डाल दिया। बहुत हो-हल्ला के बाद प्रजा की जीत हुई और जायज कर-सूची स्थिर करा ली गई और इसका निष्कर्ष मन्दिर की दीवार पर खोद दिया गया। हमें उत्पीड़क करारोपण के कई उदाहरण मिलते हैं। अलग-अलग ऐसे

तैंतीस प्रकार के करों का ब्योरा मिलता है, जिनमें बत्तीस तरह के कर मन्दिर पाते थे और एक तरह का राजा मन्दिर कर-वसूली का ठीका लगाते थे और ऐसे ठीकेदार निर्दयतापूर्वक तहसील करते थे। मन्दिर के अधिकारियों की माँग के अनुसार शासक अधिकारी नाजायज करों की भी उगाही होने देते थे। मठाधिकारियों और राज्याधिकारियों के बीच अच्छा गँठबन्धन था।

सभी धार्मिक उत्सवों पर खर्च किया जाता था। देवता को समर्पित भूमि पर कर की छूट कई उत्कीर्ण लेखों में उल्लिखित है। बन्द हुए त्यौहारों को फिर से चालू करने के लिए अतिरिक्त दान दिए जाते थे। मन्दिर के बहुत-से करमुक्त भू-खंडों की चर्चा उत्कीर्ण-लेखों में मिलती है। जीत करके भी दान दिए जाते थे। कभी-कभी ग्रामसभा बाजार-शुल्क वसूलने का अपना हक मन्दिरों के हाथ बेच लेती थी। मन्दिर भूमि के बन्धक भी लेते थे। मठाधिकारी भूमि की खरीद-बिक्री भी करते थे। एक उत्कीर्ण लेख में करार किया गया है कि कुछ एक मुस्त राशि के प्रतिफल में ग्रामसभा सभी कर चुकाएगी और भूमि का चौथाई हिस्सा मन्दिर के भोगराग के लिए मन्दिर को सौंप देगी। पंडा-पुरोहित ढंग की सस्था लगता है, भूमि के एक महत्वपूर्ण दरमियानी हकदार के रूप में खड़ी हुई। मन्दिरों ने कर्षकों के संचार पर भी प्रतिबन्ध लगाया। जब राजा सीमा-सुरक्षा के लिए यह आवश्यक समझता था कि वहाँ कई घर ब्राह्मणों को बसा दिया जाए तब कई ब्राह्मणों को सामूहिक रूप से भूमिदान किया जाता था। 'अग्रहार' शब्द कर-मुक्त ब्राह्मण-भूमि के अर्थ में मशहूर था। दक्षिण भारत के मन्दिरों के अभिलेख दक्षिण भारतीय ग्राम-समुदाय के ऐतिहासिक विकास पर, भूमि के कब्जे पर तथा सामाजिक स्तर-क्रम पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। दक्षिण भारत का सामाजिक सह-आर्थिक एवं राजनैतिक ढाँचा भूमि के नियन्त्रण के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध था।

अध्याय 15

प्राचीन भारत में सामान्य जन की आर्थिक हालत

प्राचीन भारत की हर वस्तु को उज्ज्वल और स्वर्णिम रूप में चित्रित करने की पुरानी मनोवृत्ति अब तेजी से लुप्त होती जा रही है और हर बात को वस्तुनिष्ठ रूप से नए वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखने की रीति निखरती जा रही है। पूरब और पश्चिम दोनों के इतिहासविदों, समाजशास्त्रियों, समाजवैज्ञानिकों, मानव-विज्ञानियों, विश्लेषकों और चिन्तकों के नवीन सम्प्रदाय के प्रयास की बदौलत अब प्राचीन भारत का अध्ययन सामाजिक-सह-आर्थिक पहलुओं की पृष्ठभूमि में किया जा रहा है और हर प्रकार की सामग्री की छान-बीन भौतिक संस्कृति के स्वरूप और सामान्य जन की हैसियत का पता लगाने के लिए की जा रही है। ठोस भौतिक तथ्य अनगढ़ सच्चाई के साथ नजर के सामने आ रहे हैं। राजोन्मुख या देवोन्मुख साहित्य में अपार जन-सागर की फड़कती जिन्दगी का कोई एहसास नहीं है।

जनता के जीवन को जानने के लिए सामग्री जनता के साहित्य में ही मिलेगी, हालांकि इस साहित्य को भी स्वधारण प्रेरित संकलयिता तोड़ने-मरोड़ने से बाज नहीं आए हैं। संस्कृत साहित्य ईश्वरवाद, ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रमवाद के प्रभाव से क्षेपकाकीर्ण या अपमिश्रित कर दिया गया है। भारत के जनसामान्य को उसके जीवन के हर मोड़ पर पुरोहितों (ब्राह्मणों) की श्रेष्ठता की भाँग पिला दी गई है। ब्राह्मण-प्रधान राजतन्त्र का एक ढाँचा ठोक-पीटकर खड़ा कर दिया गया जिसका आदर्श मनु में पाया जाता है। सामान्य जन का सामाजिक जीवन उन रोचक कहानियों में पाते हैं जिनमें जनता के विश्वास, रीति-रिवाज और आजीविका स्पष्ट रूप से चित्रित हैं। इन्हीं स्रोतों में प्राचीन भारत के वास्तविक मानव जीवन की झलक मिलती है।

हमारे साहित्यिक स्रोत साधारण, निर्धन और अशरण लोगों की जिन्दगी के अध्ययन के लिए मानो जानकारी के विशाल भंडार हैं। सम्पत्ति पैदा करनेवाले लोग, जैसे कर्मकर (मजदूर) और कर्षक (किसान) उत्पादन के साधन-स्रोत से रहित थे और वे सर्वाधिक शोषित एवं दलित थे। समाज में वे भारी संख्या में थे और उस वर्ग में आते थे जिसे **'आम जनता'** या इससे भी अच्छे शब्दों में **'जनसामान्य'** कहते हैं। इस जनसामान्य की गरीबी न तो मुस्लिम शासकों की देन है, न ब्रिटिश

शासकों की। जनता में बहुलता ऐसे वर्गों की थी जिनमें भाड़े के मजदूरों का पेशा जितना ही आनुवंशिक हो चला था, उतना ही दरिद्रताजनक भी (जातक-III. 325, 409, 444)। वे गरीबी में पैदा होते व पलते थे और अपने दुख-दर्द को प्रकृति की अटल देन समझकर ढोते और अन्त में अपनी अगली पीढ़ी के सर पर विरासत के रूप में छोड़ते जाते थे। इन खटनेवाले वर्गों में आबादी के यथासम्भव बहुत-सारे उपादान शामिल थे, जैसे विभिन्न मानववंशों (रेसों) के लोग, विभिन्न पेशों के लोग। असमान वितरण का अभिशाप बड़ा ही तीखा महसूस किया जाता था। ऋग्वेद में घरबारहीन भूख से तड़पते निर्धन लोगों का वर्णन है (X-117)। कई तरह के साहित्यिक स्रोतों में हमें ब्राह्मणों के एक वर्ग की घोर दरिद्रता का स्पष्ट चित्रांकन मिलता है (सुभाषितरत्नकोश—XXXIX; सदुक्तिकर्णामृत—III. 17)। निम्न वर्णों की स्थिति अच्छी नहीं थी और बुद्ध-काल के बहुत बाद भी वर्णव्यवस्था ज्यों-की-त्यों रही।

निम्न वर्गों के दिमाग में जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की भावना जमा दी गई और विश्वास पैदा कर दिया गया कि ब्राह्मण केवल सांसारिक गुरु ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक गुरु भी हैं, इससे वे धरती पर देवता के प्रतिनिधि ('भूदेव' 'भूसुर') माने जाने लगे। ऐसी स्थिति में राजसत्ता किसी वर्ग को ऊपर उठाने या नीचे गिराने में समर्थ थी। सामाजिक वर्ग (अर्थात् वर्ण) बदलने का उदाहरण न केवल विश्वामित्र आदि के मामले में ही मिलता है, बल्कि अनेक ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मामले में भी मिलता है। एक शूद्री के पुत्र ऐल कवष के ब्राह्मण/क्षत्रिय बनाए जाने की कहानी मिलती है। पूर्वतम अवस्था में हम वर्णों का जातियों में विभाजन नहीं पाते हैं, और न अखाद्यता-अस्पृश्यता का दुराग्रह पाते हैं। वामदेव नामक ब्राह्मण ने भूख से पीड़ित हो एक चांडाल के घर में कुत्ते का मांस खाया।

पेशे के साथ सम्बद्ध आर्थिक कारणों से वर्ण और जाति की हैसियत कायम हुई और इसे ऊपर उठाना या नीचे गिराना राजनैतिक प्रभाव का फल था। ब्राह्मणों के असीम उत्कर्ष के दावे के विरुद्ध कुछ आलोचना और प्रतिरोध उपनिषदों में ही शुरू हो गया था। ऐतरेय (जिनके नाम पर 'ऐतरेयब्राह्मण' नाम पड़ा) एक अविवाहित शूद्र के पुत्र थे; कवष, वत्स और सत्यकाम जाबाल अस्पृश्य जाति के थे। कुन्ती, विश्वामित्र, मेनका, पराशर, उर्वशी तथा मत्स्यगन्धा (वेदव्यास की माता) के जन्म अमान्य रीति से हुए थे। 'अथर्ववेद' में कृषि-कला को विकसित करने का श्रेय पृथु वैश्य को दिया गया है। उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्यों में कई सामाजिक विशेषाधिकारों का कुछ-कुछ प्रतिवाद किया गया है। गरीब वर्गों के लोगों का

गम्भीर एवं विनोदात्मक कथाओं में मजाक उड़ाया गया है और उन्हें काला चित्रित किया गया है। साहित्यिक नाटकों में उन्हें हास्यकर पात्रों के रूप में पेश किया गया है।

गरीबी समाज की एक सामान्य स्थिति हो गई थी; यह बात 'दीघनिकाय' से प्रकट होती है, जहाँ राजा अपने पुत्र को प्रेरित करता है कि वह जनता के बीच काम और धन बाँटकर अपने देश में गरीबी और बेकारी का अन्त करे। किसानों का सामान्य जीवन गरीबी का था। उन्हें शायद ही पेट भर खाना नसीब होता था। गरीबी मौत की जिन्दगी का नाम है। दूसरे की सेवा करके पेट पालना कुत्ते की जिन्दगी है, वह आर्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। सांसारिक सुख-सम्पत्ति सामान्य जन के लिए कामना की वस्तु थी, मगर भरे-पूरे और सभ्य जीवन के लिए आवश्यकता की वस्तु थी।

गरीबी के मारे हुए लोग राजसत्ता से विरक्त और उसके विद्रोही बन जा सकते हैं। दरिद्रता से प्रजा में विराग उत्पन्न हो सकता है और वह अन्ततः विद्रोह के रूप में परिणत हो सकता है (अशा—VII. 5)। यदि हर कोई अपने-अपने काम में व्यस्त न रहे, यदि हर व्यक्ति को काम या कृषि न मिले तो विद्रोह की सम्भावना काफी बढ़ जाती है। गरीब और दुर्दशाग्रस्त लोगों की संख्या बहुत थी और उद्धार के लिए उन्हें कोई अवलम्ब नहीं था। जनता व्यापक रूप से फैली इस दुःस्थिति के कारणों का पता लगाने तथा गरीबी को कम करने के लिए कोई नीति निर्धारित करने की चेष्टा न की गई।

बुद्ध के काल में जो आर्थिक विकास हुआ, उससे भौतिक उत्थान का एक युग अवतीर्ण हुआ; किन्तु उससे होनेवाली समृद्धि धनवानों के हाथों में ही जमा हो गई। जहाँ धनियों के पास 'अस्सी कोटि' थी, वहाँ एक मजदूर दिन भर में एक 'माषक' (मासा) या आधा माषक भी कदाचित् हीं कमा पाता था जिससे कि अपना और अपनी माता का भरण-पोषण कर सके (जातक—V. 383)। हमें ऐसे निर्देश मिलते हैं जहाँ भूस्वामी के पास एक हजार करीष खेत और पाँच सौ हल हैं (जातक–IV. 276), किन्तु स्वतन्त्र मजदूरों की हालत क्या थी? वे धीरे-धीरे और भी गरीब व दलित होते जा रहे थे। उनकी हालत दासों से भी बदतर थी।

'जातकों' के अध्ययन से सामाजिक पतन का एक ऐसा दर्दनाक चित्र सामने आता है जिसमें कई हट्टे-कट्ठे किसान खाली भंडारवाले अपने-अपने घरों को छोड़ भूस्वामियों के खेतों में भाड़े पर खटने के लिए भूमिहीन कृषि-मजदूरों के दल में समा जाते हैं (जातक–I. 390)। हँसुवे और जुएवाले पेशे को जैन और बौद्ध दोनों

हीन दृष्टि से देखते थे। वे खेतिहरों को अधम एवं हिंसामय काम करनेवाले समझते थे। उनकी तुला पर मजदूरों (कर्मकरों) और दासों की हैसियत बराबर थी (डी एन–1. 51; ए एन–1. 145, 206)। **अमीर और गरीब का दो वर्गों में विभाजन तथा ग्रामीण मजदूरों की उपेक्षा बुद्ध की सांसारिक दृष्टि के महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, क्योंकि बौद्ध मत शहरी आर्थिक संस्कृति-समष्टि की अभिव्यक्ति है। बौद्धवाद का मुख्य गढ़** सेट्ठि लोग ही थे।

दास, कर्मकर और कर्षक जैन ग्रन्थों में निम्न स्तर के लोग कहे गए हैं और इन्हें दीक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया है। शहरी संस्कृति-समष्टि में पँसारी, शिल्पी, व्यापारी, महाजन आदि अपना प्रभाव ब्राह्मणों और क्षत्रियों से भी ऊपर जमाए थे। हम कई नगरों में इस काल में आर्थिक समृद्धि की झलक पाते हैं। महावीर और बुद्ध दोनों का झुकाव वणिकों और शिल्पियों की ओर था। सामान्य जन कृषि और उससे सम्बद्ध धन्धों में लगे थे। यहाँ तक कि ब्राह्मण भी आश्चर्यजनक रफ्तार से कई तरह के धन्धे अपनाने लगे थे (जातक–V. 471; 127, IV. 207; II. 20 इत्यादि)।

राजा '**बिसमत्त**' (प्रजापर जीनेवाला) कहा गया है। राजा को अक्सर नाहक उगाही करकर के कर्षकों को तबाह करते पाते हैं। राजा पिता तुल्य होता है, इस भावना पर बने शासनतन्त्र में निर्धनों के उद्धार की एक सुनिश्चित पद्धति की आवश्यकता महसूस की गई थी जैसा कि गौतम (IX. 9 और आगे) तथा कौटिल्य (II. 1) में दिखाई देता है। भारी कर-भार, बेगारी, राजाओं और उनके अधिकारियों की सवारी आना—ये तो अपनी जगह थे ही, इसके अलावा समय-समय पर हुए दुर्भिक्ष और सूखे से किसानों की तबाही और गरीबी बढ़ती ही जाती थी। कभी-कभी क्रूर कर-संग्राहकों की नजर से बचने के लिए सारा का सारा गाँव घर छोड़कर भाग जाता था। जब राजा और उनके अधिकारियों की सवारी चलती, तब मुफ्त सेवा (बेगारी) और नजराना की माँग होती थी और इससे छोटे-छोटे दिहाती समुदाय गहरी तकलीफ में पड़ जाते थे।

दान में मिले दासों और सेवकों से दानग्राही अपनी ओर से भीख मँगवाते थे (जातक—III. 49)। ब्राह्मणों और जैनों के मन्दिरों में दासियाँ और नर्तकियाँ दिखाई देती हैं (एइ—XIII. 7 ?)। कार्ले और नासिक गुहाओं से मिले उत्कीर्णलेखों, कनिष्क और हुविष्क के समय के अभिलेखों, (एइ—VIII. 177) तथा साँची (स्तूप अभिलेखों से गरीबी के बारे में जो मठीय दृष्टिकोण प्रकट होता है, वह बड़ा **दुखद है। उच्च वर्गों ने सारी राष्ट्रीय सम्पत्ति और राजनैतिक शक्ति को हथिया**

लिया, जबकि दास और मजदूर उचित हिस्से से भी वंचित रह गए। भूमिहीन लोग सामाजिक प्रतिष्ठा-क्रम में भी सबसे नीचे रहे और आर्थिक सीढ़ी में भी। धन सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड था। निम्न वर्ग के लोगों को ज्ञान की चाबी नहीं दी जाती थी और वे संवद्ध भी नहीं थे। वास्तविकता यह है कि उन्हें संवद्ध होने की छूट नहीं थी। प्रजा को अपना आचरण राजा की मर्जी और मौज के अनुरूप रखना पड़ता था।

पाणिनि ने ऐसे 'जन' की चर्चा की है जो 'गण' का जीवन व्यतीत करते थे तथा इस बात की चर्चा की है कि गण इस प्रखर संघर्ष में शामिल थे जो एक ओर परम्परागत जीवन-प्रणाली के पक्षधरों और दूसरी ओर सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व की मान्यता पर आश्रित जीवन-प्रणाली के पक्षधरों के बीच छिड़ा था (IV.—2. 117-18)। 'उत्सेधजीविन' का आशय है—विविध प्रकार के श्रमिकों का निगम। शोषित वर्गों के किसी आर्थिक संघटन का कोई स्पष्ट अभिलेख नहीं मिलता है। मौर्य राज्य में भी गरीबों की स्थिति में कोई सुधार लक्षित नहीं होता है। कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में गरीब-अमीर के बीच अन्तर स्पष्ट है।

मजदूरों की दयनीय दशा अशोक की धर्मलिपि में भी झलकती है जिसमें उन्होंने अपने अधिकारियों को आदेश दिया है कि वे अपने एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में दासों और कर्मकारों के साथ अच्छा बरताव करें (शैललेख—IX.)। उन्होंने 'भृतकों' के कल्याणार्थ 'धर्ममहामात्रों' की नियुक्ति की और उन्हें अनुदेश दिया कि प्रजा के साथ वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करें (शैललेख—V, IX, XI और XIII)। 'सुत्तनिपात' (I—2.25.) में भृतकों का उल्लेख तिरस्कार के स्वर में किया गया है। भृतकों से कठोरतापूर्वक लम्बी अवधि तक काम लिया जाता था और उनका सामान्य जीवन बहुत ही नीचे स्तर का था। भृतकों को दोनों जून खाना भारी कठिनाई से मिलता था (जातक—I. 475; II 139; III. 325; 406, 444)। भृतक वह कहलाता था जो मजूरी या वेतन पर खटता था।

गरीब लोग लपसी या माड़ पीकर जीते थे (जातक—III. 406)। उन्हें अपना पेट भरने के लिए मोटे चावल की माड़ी के सिवा और कुछ नसीब न होता था। व्यापारियों और मुनाफाखोरों पर अंकुश लगा कर सामान्य जनों के हित की रक्षा करने की जो नीति थी (अशा—IV. 2, 77) वह तो अधिकारियों के अत्याचार पर हल्का आवरण मात्र सिद्ध हुई। कौटिल्य में वेतनमान में जो आपेक्षिक अन्तर है (48000 : 60 पण) वह इस बात का प्रमाण है कि अमीर व गरीब के बीच खाई बहुत विशाल थी। कुषाण भित्तिमूर्त्ति (रिलीफ) में हलवाहा

काम करने के लिए। उन्हें कपड़ा उतारे एकदम अधम जैसा चित्रित किया गया है। पतंजलि बताते हैं कि मौर्योत्तर-काल में मजदूरों का मासिक वेतन पाँच, छह या दस कार्षापण था। सामान्यतः मजदूर प्रतिदिन एक-चौथाई कार्षापण पर खटते थे, अर्थात् प्रतिमास साढ़े सात कार्षापण। यहाँ यह गौर करना है कि कौटिल्य का डेढ़ कार्षापण यहाँ बढ़कर साढ़े सात कार्षापण हो गया है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' (VIII. 29. 3) में कहा गया है "वैश्य की भाँति ...दूसरे की बलि, दूसरे का भक्ष्य, इच्छानुसार वध्य।" जातकों (III. 513. 14) में आया है कि प्राचीन काल में अनेक बार शूद्र और वैश्य, सभी लोग राजा के विरुद्ध खड़े हो गए, शूद्रों और वैश्यों ने राजा को और उनके मन्त्री को पीटते-पीटते प्राण ले लिया और दूसरे मामले में (VI. 156 और आगे) लोग एक अत्याचारी राजा को लाठी और पत्थर से पीटने लगे। राम ने शूद्र वर्ण के एक दास को मारा। संगम साहित्य में आया है कि राजा और उनके भेड़ चराने वाले दासों के बीच लड़ाई हुई और लगभग 190 ई० पू० में राजा मारे गए। जातकों में यह विवरण मिलता है कि दासों और मजदूरों को किस तरह क्रूरतापूर्वक सताया जाता था। उनका वध भी कर किया जाता था। असह्य कष्ट और भयानक भार से उनका जीवन इतना दीन हो गया था कि उद्धार सम्भव नहीं। दासों के प्रति बर्बरतापूर्ण, असभ्य और क्रूर बरताव इतना अधिक होता था कि बुद्ध को अपने अनुयायियों से कहना पड़ा कि उस हद तक न जाएँ। बहुत-सारे ऐसे विद्रोह हुए होंगे जो न अभिलिखित हैं, न अभिलक्षित।

निषाद और किरात सबसे अधिक शोषित थे। निषाद का उल्लेख सबसे पहले यजुर्वेद के रुद्राध्याय में मिलता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि निषादों के प्रख्यात नेता वेन ने जो विद्रोह खड़ा किया, वह पहाड़ों और जंगलों में बसनेवाले दुष्ट जनों का शुरू किया हुआ था। यह कथा 'विष्णुपुराण,' 'भागवत,' और 'पद्म-पुराण' में भी आई है। निषाद का वर्णन कौआ जैसा काला, नाटा, छोटी-छोटी बाहोंवाला, उभरी हुई गाल की हड्डीवाला, आदि रूप में किया गया है। शूद्र देव-हीन होते हैं। चतुर्थ वर्ण का उद्भव उत्पादन-शक्ति के विकास से हुआ। जब सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व का आरम्भ हुआ, तब उपज (भोग्यवस्तु) को माल (पण्य-वस्तु) बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई और परिणामस्वरूप सम्पत्ति चन्द लोगों के हाथों में संचित होती गई और अपार बहुसंख्या जनसाधारण एवं खटनेवाले लोग स्वत्व से वंचित होकर गरीब हो गए और समाज के निचले स्तर पर आ गिरे। कबीलों के सरदारों और धर्मगुरुओं को ज्यादा सम्पत्ति हाथ लगी और स्वभावतः वे ग्राम

लोगों का हित मार कर अपने को समृद्ध करते गए। वैश्यों को उत्पादन का काम सौंपा गया। **वेन और उसकी पत्नी सुनीता ने निषाद-किरात-विद्रोह में नेतृत्व किया**। ई० पू० छठी शताब्दी में अजित ने वर्णव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का आयोजन किया था।

महाभारत के अनुसार शूद्र को धन कमाकर समृद्ध होने का अधिकार नहीं था। शूद्र को उच्च वर्णों द्वारा छोड़े गए फटे-पुराने कपड़े पहने चाहिए। वेतन न मिलने पर भी उन्हें अपने मालिक की सेवा नहीं छोड़नी चाहिए। शूद्रों की सारी वस्तुएँ वस्तुतः उनके स्वामियों की होती हैं। शूद्र श्रमिकों की सामाजिक स्थिति बड़ी नीची थी। उन्हें स्वेच्छानुसार आवागमन की छूट नहीं थी। कहा गया है कि त्रिवर्ण को शूद्र के साथ चलना नहीं चाहिए (सेबुई—VII. 199)। मनु ने कहा है—शूद्र को धनार्जन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे वे ब्राह्मणों को कष्ट पहुँचाते हैं (सेबुई-XXV. 430)। कौटिल्य की कृषि-विकास-नीति का लक्ष्य शूद्रों और कर्षकों का कल्याण करना और इस प्रकार आबादी के निचले तबकों, शिल्पियों और कर्षकों-को, जो दिहाती आबादी के रीढ़ थे, सहायता पहुँचाना था। सहायता पानेवालों में ऐसे किसान थे जिन्हें खेती के सभी साधन तो थे, पर खेत नहीं था (अशा–II. 1)। प्रजा पर कर का भारी बोझ था और जीवन कष्टमय था।

मौर्यकाल में तो शूद्र स्वतन्त्र कर्षक थे, किन्तु स्मृतिकारों की नजर में ऐसी बात नहीं थी। वे दीन हीन शूद्रों को सुखी जीवन की सान्त्वना नहीं देते। स्मृतियों में शूद्रों को बहुत कम अधिकार दिए गए हैं और उनके जीवन को बड़ा तुच्छ माना गया है। 'कारुकुशीलव कर्म' (शूद्रों के कर्तव्य) 'वर्ता' से भिन्न हैं (अशा–1. 38); हालाँकि 'कारुशिल्पिगणः' (II-6. 2) राज्य की आय की एक मद प्रतीत होता है। राज्य-सेवा में लगे दासों और कर्मकरों को इसलिए सेवा करनी पड़ती थी कि वे लगाए गए जुरमाने चुकाने में असमर्थ हुए। दासों और कमकरों को ऐसी दासता से मुक्त होने का अधिकार है, बशर्ते कि अपने मालिक के यहाँ किए गए काम से कमाई हुई रकम से देन चुका दें। 'आहितक' (अपने ऋणदाता के यहाँ बन्धक बने व्यक्ति) के बारे में भी ऋण लेते समय ऐसी ही शर्त की जाती थी। 'विष्टि' भी एक प्रकार की नाजायज उगाही थी, जो स्वतन्त्र व्यक्ति से फाजिल और बलपूर्वक लिये गए श्रम (बेगारी) के रूप में वसूली जाती थी और यह मुफ्त श्रम जनता की या राजा की सेवा में लगाया जाता था।

कौटिल्य चाहते थे कि इन मजदूरों को राजकीय कारखानों में, झाड़ने-बुहारने वाले, तौलने-मापने वाले कर्मचारियों, दासों के दल में (अशा—X. 4),

राजा के खेतों के जोत-कोड़ (अशा—II. 24) आदि में लगाया जाए। काशी के लोगों को राजा की आज्ञा पूरी करनी होती थी और वह राजा अपनी प्रजाओं को बाध्य करता था कि वे अपना-अपना खेती का काम-धन्धा छोड़-छोड़ कर जंगल में (राजा के) शिकार के लिए हिरन की तलाश करें (जातक–I. 149 और आगे)। जरूरतमन्द राजा दिहात के सारे-के-सारे लोगों को अपने काम में लगा देते थे और इसकी तनिक भी परवाह नहीं करते थे कि उनके घर के भंडार एकदम खाली हैं (जातक-I. 339)। यह अत्याचार का एक अच्छा रास्ता था (जातक-II. 240)। सम्राट के अधिकारियों के उत्पीड़न की प्रतिक्रिया में प्रान्तों पर प्रान्त विद्रोही होते गए। नाजायज उगाही में अधिकारियों का अवश्य ही अच्छा-खासा हिस्सा रहता होगा। भारी कदाचार के एक अंश के रूप में लूट-खसोट का एक दर्दनाक चित्र खींचा गया है। (जातक—I. 339)। अत्यधिक कर से तबाह होकर काम्पिल्य राज्य पूरा का पूरा उजाड़ हो गया। उत्पीड़न के डर से लोग परिवार-सहित जंगलों में जा छुपते थे और लोग रात में तो घर में बन्द रहते थे, सुबह होते ही जंगल भाग जाते थे (जातक-V. 98 और आगे)।

दास के रूप में काम करने वालों की स्थिति मजदूरी पर काम करने वालों की स्थिति से कहीं अच्छी थी। ग्रामीण सामाजिक हैसियत में कर्मकरों का स्थान सबसे नीचे था। एक कर्मकर कहता है—"मेरे प्रभु, त्यौहार के दिन धनी लोगों के लिए हैं। मुझे तो कल के लिए खुद्दी भी नहीं है। त्यौहार से मुझे क्या मतलब ? कृपा करके मुझे बैल दिया जाए, ताकि जाकर खेत जोतूँ।" ऊपर की उक्ति से से यह स्पष्ट है कि कर्मकर एक दिन भी काम से मुक्त रहने में समर्थ नहीं होता था। उसे काम में चाव नहीं रहता था जिसका अर्थ है कि उसे मजदूरी कम मिलती थी और काम करने की परिस्थिति सन्तोषजनक नहीं रहती थी। एक अकिंचन गहपति को भी मजदूरी करके अपना और अपनी माता का भरण-पोषण करना पड़ा (जातक—III. 325)। उपज का अधिकतम हिस्सा राजा, उसके अधिकारियों, सामन्तों और महाजनों के हाथ चला जाता था। उचित पारिश्रमिक के विचार में निर्वाह-व्यय कोई पहलू नहीं समझा जाता था। जिस स्वतन्त्र व्यक्ति को अपना खेत न होता था और औजार भी नहीं रहता था, उसे स्वतन्त्र जीविका नसीब नहीं होती थी।

जे० पी० बैकोभ ('अर्थशास्त्र' का रूसी अनुवाद करनेवाले) का दृढ़ मत है कि निम्न वर्ग के उत्पादकों और उच्च वर्ग के भोक्ताओं के बीच आर्थिक सम्बन्ध सामन्ती ढंग का था। इस स्थिति को कई अन्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है,

पर यह सर्वमान्य नहीं है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि निम्न वर्गों के श्रम का शोषण किया जाता था। यह शोषण इस काल की एक विशेषता थी और इससे पहले से ही हमें ब्राह्मण-साहित्य में न केवल शूद्रों की, बल्कि वैश्यों की भी उच्च वर्णों के भोज्य के रूप में चर्चा मिलती है (एभंश्रोरिइ—1950, पृ० 263। वर्ण-व्यवस्था असमान अधिकार और सुविधा पर आधारित है और कौटिल्य इस बात को मान्यता देते हैं। शूद्रों का विशाल वर्ग, जिसके कन्धों पर राज्य की अर्थ-व्यवस्था टिकी हुई थी, समाज की पंगत से अलग था और उसकी हालत बदतर थी।

कौटिल्य ने जो शूद्रों को आर्यों के अन्तर्गत माना है, वह वैदिक ग्रंथों की सामान्य धारणा से मेल नहीं खाता है। उन्होंने स्थिर निवास वाले सभी समुदायों को आर्यों के दायरे में लाने की चेष्टा की। धर्मशास्त्र ग्रन्थ ऐसी किसी भी वस्तु को बर्दाश्त नहीं करते जो आर्यों की मति और गति के अनुकूल न हो। धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में ब्राह्मणों को जो सुरक्षा और सुविधा दी गई है उसके विपरीत, शूद्रों और विशेष कर अन्त्यजों को गम्भीर अपात्रताओं से लाद दिया गया है। उनमें बहुत संख्यों को अपने घर नहीं होते और वे नगर के किसी उपेक्षित कोने में सो जाते थे। निम्न वर्ण के लोग यदि अपने से उच्च वर्ण के लोगों का अपराध करते थे तो वर्ण की उच्चता के क्रम से उन्हें उत्तरोत्तर अधिक दण्ड मिलता था और इसी तरह यदि उच्च वर्ण के लोग अपने से निम्न वर्ण के लोगों का अपराध करते तो उन्हें निम्नता के क्रम से उत्तरोत्तर कम दण्ड मिलता था (गौतम—XII. 1, 8, 13; वासिष्ठ—XXI. 1. 5; बौधायन—X. 20-21; अशा—III 18–20)। 'देवीभागवत' में कहा गया है कि जो ब्राह्मण वेदज्ञ नहीं है, उससे शूद्र की भाँति खेती का काम कराना चाहिए। जो गरीब लोग दुर्भिक्ष के समय ऋणग्रस्त हो जाते थे उन्हें खेत में मजदूरी करने के लिए धनी लोगों के आश्रय में आत्मसमर्पण करने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता था। गरीबी से घृणा, क्रूरता और हिंसा का जन्म हुआ। अन्त्यज एक भिन्न समुदाय के रूप में जाति-वाह्य रहा।

कानून भी वर्ण-भेद मूलक था। धार्मिक और कानूनी अधिकारों से वंचित निम्न वर्ण के लोग अधम कोटि में ढकेल दिए गए। हर वर्ण की अपनी-अपनी सामाजिक एवं धर्मानुष्ठानिक मान्यता थी। जैन और बौद्ध धर्म को अपनाने वाले अधिकतम लोग इन्हीं आर्थिक रूप से दलित सामान्य वर्गों के ही थे, क्योंकि इस नये धर्म ने उन्हें जाति के बन्धन से मुक्त कर दिया। शूद्रों को अस्त्र धारण करने का अधिकार नहीं था और उनकी सामाजिक हैसियत लगभग अन्त्यजों की-सी

थीं। 'उत्तररामचरित' में एक शूद्र को तपस्या करने के कारण दण्ड दिया गया है, क्योंकि तपस्या करने का अधिकार शूद्र को नहीं है। शूद्र का अन्न भी केवल आपत्काल में या मध्ययुग के कलिवर्ज्य (कलियुग में दी गई छूट) के रूप में ही उच्च वर्णों के लिए खाद्य माना जाता था।

सामन्ती समाज में किसानों और मजदूरों को गरीबी का ही जीवन बदा होता। अभिजात वर्ग सारी भौतिक सुख-सुविधा को हथिया लेते और जन-साधारण सुखी जीवन का सपना नहीं देख सकते। वे दोनों जून खाना और लाज ढकने के लिए कपड़े का एक टुकड़ा भी कमाकर हासिल नहीं कर पाते। अकिंचनों और अनाथों की जीवन-दशा बाण के 'हर्षचरित' में देखने लायक है। बाण कहते हैं—

घसवारों के दल के दौड़ने से उठी धूल बादल-सी छा गई; ये घसवारे घास की गाँठ कमर पर लादे हुए हैं, भूसी से धूसर हो गये हैं, पुराने ऊन के टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर बने ढीले-ढाले गन्दे कम्बल को लपेटे हुए हैं जिनसे चीथड़े झूल रहे हैं और मालिक द्वारा परित्यक्त फटे अचकन पहने हुए हैं।

"अकिंचन, असहाय भद्रपुरुष, गाँव के दुर्दशाग्रस्त गृहस्थों कठिनता से प्राप्त दुर्बल बैलों पर भोजन लादे और घरेलू सामान स्वयं उठाए बोलता जा रहा है—मिहनत तो हम करते हैं, लेकिन जब फल का समय आता है, तब कोई और ही दुष्ट आ धमकता है।"

कात्यायन के वचन से प्रतीत होता है कि ऋण को आश्रित होकर रहनेवाले कृषि-मजदूर प्राप्त करने का हथकंडा बना लिया गया था। लोगों में व्यापक रूप से फैली हुई दरिद्रता से द्रवित होकर ही धनी वर्गों ने बहुत-सारे सत्र (भिक्षा-गृह) स्थापित किए, जहाँ अकिंचनों को मुफ्त भोजन दिया जाता था (एइ—II, 226)।

पौराणिक साहित्य और अन्य स्रोतों से लक्षित होता है कि किन-किन लोगों से बेगारी ली जाए, इसका निर्णय केवल जाति के आधार पर ही नहीं, बल्कि आर्थिक आधार पर भी होता था। 'दरिद्र-पुरुष' या 'दीन' शब्द के अर्थ में जिस किसी भी वर्ण के ऐसे सभी लोग शामिल थे जो शूद्रकर्म करते थे और उन्हें बेगारी करनी पड़ती थी। ऐसे ब्राह्मण निन्दित निम्न वर्णों से बेहतर नहीं थे। बेगारी लेना उत्पीड़क कर्म माना जाता था और इसके लिए जड़ भरत ने सौवीर के राजा की भर्त्सना की थी। कल्हण ने बेगारी से तबाह बिलखते हुए ग्रामवासियों का चित्रण किया है। कर्णाटक में बेगारी से छूट देना एक पुण्यकर्म समझा जाता था। [साइइ—XI (1), सं० 15]। जैनों और बौद्धों ने भी बेगारी के विरुद्ध आवाज नहीं उठाई। यह प्रथा सारे भारत में फैल गई और सबल होती गई। महाजन

भी ब्याज के बदले बेगारी लेने लगे। ठीक इसी समय में मुद्रामूलक अर्थव्यवस्था में गिरावट आई और सामन्ती प्रवृत्तियाँ पनपीं। इस आर्थिक असमानता को तथा बारंबार नाजायज लगानों की उगाही को रोकने के लिए राज्य ने शायद ही कोई कदम उठाया। आर्थिक विषय में तबाह और व्याकुल इन गरीबों की न तो सामुदायिक स्तर पर कोई प्रतिष्ठा थी और न निजी स्तर पर। जीवन-यापन स्तर में भारी ऊँचाई-निचाई थी। जहाँ अमीर और दरबारी लोग घृतपक्व मांस खाते और मदिरा ढालते थे, वहाँ जनसामान्य रूखे-सूखे भात और सब्जी से सन्तोष करते थे। गरीबों को चारों ओर कठिनाई-ही-कठिनाई थी। 'त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित' (III, पृ० 248) में दरिद्रता से तड़पती एक महिला की कहानी कही गई है। हेमचन्द्र ने इस सत्यकथा को लक्षित किया था कि गरीब औरतें जल्द गर्भ धारण करती हैं (वही, I, पृ० 53)। हेमचन्द्र जानते थे कि गरीबी क्या चीज है और इसका कारण क्या है। क्षेमेन्द्र ने गरीबों के आचरण का निर्देश किया है और माघ ने इस आशय का श्लोक उद्धृत किया है कि भूखे लोग व्याकरण नहीं ला सकते हैं और प्यासे लोग काव्य-रस नहीं पी सकते हैं, और विद्या से किसी ने अपने परिवार का त्राण नहीं किया है। घोर दरिद्रता से ग्रसित व्यक्ति को अन्त में भिखमंगी का सहारा लेना पड़ता था।

शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' में गरीबी के इन पहलुओं का कुछ जीवन्त चित्र आँका है। एक ग्रामवासी अपनी बैलगाड़ी उज्जैन के भीड़-भरे बाजार में ले जाता है और इसे बगल करने में चूकता है और शकार के शिल्पी लोग नफरत के साथ उसे छोड़ते हैं और दया के साथ उसकी मदद करते हैं। शकार के कथन से प्रकट होता है कि न्यायालय में धनी लोगों के आगे गरीबों के प्रति अन्याय किया जाता है। वराहमिहिर ने जनसामान्य के बीच सामान्य दरिद्रता और दीनता के जो विविध उदाहरण दिए हैं, उनसे गरीबों की दु:स्थिति स्पष्ट हो जाती है; अतः मजदूरों के शोषण की बात कोई अचरज नहीं है।

दरिद्रता के घर उत्पन्न हुए और पले कालिदास ने अपनी कुलीनता के गाले से फूले अदब से झुके दरबारों के पिछलग्गुओं (अर्थात् ब्राह्मणों) पर फब्तियाँ कसी हैं। उनकी कृतियों में समाजविषयक समीक्षात्मक चिन्तन का पुट मिलता है। कालिदास के शिव महान् हैं, क्योंकि वे ऐसे हर तत्त्व से सम्बद्ध हैं जो मानवीय हैं और सौम्य मानवता के महान् आदर्श हैं। दक्ष ने शिव को आमन्त्रित नहीं किया, क्योंकि शिव दरिद्र थे। कालिदास किस तरह अकिंचनों का पक्ष लेते हैं, यह बात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में मछुए की कहानी में दिखाई देती है।

उन्होंने शिव जैसे महान् देव को ऐसे मानवीय रूप में चित्रित कर साहसिकता का परिचय दिया है।

शूद्रक का 'मृच्छकटिक' नगर-जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए तथा इसके बहुत-सारे गौण पात्रों के लिए विख्यात है। ये पात्र बड़ी कुशलता और वैयक्तिक विशेषता के साथ चित्रित हैं। शूद्रक ने घरेलू चाकरों (परिजनों) का भी उल्लेख किया है। आर्यक ने पालक के विरुद्ध जनता का विद्रोह खड़ा किया। अन्त्यजों-अस्पृश्यों की दुर्दशा का वर्णन फाहियान ने किया है। गुप्त साम्राज्य की गौरव-गाथा, बहुत हद तक, प्रजा की दुर्गति की नींव पर टिकी हुई है। ऐसी बात नहीं है कि गुप्त सम्राटों की शक्ति को किसी ने चुनौती नहीं दी; सद्यः विष्णुसेन (592 ई०) के शासन पत्र में ही बेगारी की प्रथा को दबाने की आवाज उठाई गई और वणिकों के लिए उपहारों (नजरानों) की तहसील पर रोक लगाई गई।

एक प्रबल, विद्रोह कहा जाता है कि द्वितीय शताब्दी ई० में ही दक्षिण भारत में भड़का था। यह लड़ाई चिर काल तक चलती रही और यह 'कलभ्र-युद्ध' नाम से प्रसिद्ध है। पांड्यों (लगभग नवम शताब्दी ई०) के वेल विक्कुडि दानपत्र में 'दुष्ट' कहकर कलभ्रों की निन्दा की गई है जिन्होंने अनेक 'अधिराजों' को उच्छिन्न किया तथा सारी भूमि को अपहृत कर चिर-स्थापित सामाजिक व्यवस्था को तोड़ दिया। तीसरी शताब्दी ई० से छठी शताब्दी ई० तक दोनों विरोधी शक्तियों के बीच संघर्ष होता रहा। ब्राह्मणों को मुक्तहस्त दान दिए जाने के फलस्वरूप, ये (ब्राह्मण) किसान वर्ग के हित की बलि-वेदी पर शक्तिशाली वर्ग के रूप में खड़े हुए। स्थिति उत्पीड़नात्मक सिद्ध हुई और अन्ततः कलभ्रों ने छठी शताब्दी ई० में विद्रोह छेड़ दिया। ये दुष्ट शासक कहे गए हैं जिन्होंने तमिलनाडु को अपने कब्जे में किया और वहाँ 'ब्रह्मदाय' अधिकारों को उच्छिन्न किया। इन्होंने बौद्ध विहारों का सम्पोषण किया। इस विद्रोह का अन्त पांड्यों, पल्लवों, चालुक्यों की सम्मिलित शक्ति से ही सम्भव हुआ। इस विद्रोह का व्यापक प्रभाव पड़ा और इसका लक्ष्य था दक्षिण भारत की तत्कालीन सामाजिक-सह-आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था को समाप्त करना।

दक्षिण भारत में कृषि-मजदूर स्थानीय प्रशासन में जिम्मेवारी का कोई पद नहीं धारण कर सकते थे। भूमिहीन मजदूरों की स्थिति लगभग वही थी जो कृषिदासों की और बहुत-से मजदूर मन्दिर-सम्पदा में नियोजित होते हुए भी मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे नीच जाति के थे। चूंकि कर-मुक्त भूमि का रकबा बहुत ही बढ़ गया और कालक्रमेण बढ़ता ही जा रहा था, इसलिए छोटे-छोटे

कर्षकों और जनसाधारण के अन्य वर्गों के सिर पर दुर्वह कर-भार आ पड़ना अवश्यम्भावी था। मिहनतकश लोग तकलीफ के समय एकत्र हो जाते और ऐसे मनमाने कर का विरोध करते थे जो जमीन की हैसियत को नजरअन्दाज करके लाद दिया जाता था। वे बड़ी-बड़ी सभाओं में जुटते और स्वयं 'राजकर' निर्धारित करते (एरिए—1914 के पृ० 361-62 और 1917 के पृ० 216)। वे हर तरह के मनमाने और अनुचित करारोपण का विरोध करते। कर घटाने का आन्दोलन बड़ी वीरता के साथ चलता था। संघर्ष अन्त में यहाँ तक पहुँच गया कि जब तक कर में कमी नहीं की जाएगी, तब तक खेत नहीं जोता जाएगा (साइइ—सं० 50 और 58; एरिए—1909 के पृ० 620)। भूमिहीन मजदूरों को 'उर' में या 'सभा' में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता था (साइइ—VI, 295)।

किसान-मंडल ब्राह्मणों और क्षत्रियों के दमन, भ्रष्टाचार और दुर्नीति के खिलाफ विद्रोह करने को खड़ा हो गया (एरिए—1918 का 92)। कुल्लोतुंग तृतीय (1178-1218) ने राजादेश जारी किया कि ब्राह्मणों के विरुद्ध कोई संघर्ष नहीं किया जाए और जो कोई इस राजादेश का उल्लंघन करेगा, उसे बीस हजार सिक्का दंड लगेगा। पीड़ित जनसमुदाय ने बेहतर मजदूरी के लिए भी संघर्ष किया (एरिए—1924 का 69)। सामन्ती दमन के विरुद्ध उठे संघर्ष को दबाने की भी चर्चा है (एरिए—1925 का 80)। एक जगह यह उल्लेख मिलता है कि चार मन्दिर-सेवकों की जमीन उनसे छीनकर मन्दिर की सम्पत्ति में मिला ली गई जिसके विरोधस्वरूप उन चारों ने अपने को बलिदान कर दिया (एरिए—1925 का 188)। विरोध का यह तरीका उस जमाने में चलता था। धनी ब्राह्मण गरीब ब्राह्मणों का पक्ष नहीं लेते थे। ('टेम्पुल इन्सक्रिप्शन्स', खंड II, संख्या 783)। उत्तर चोल-काल के बहुत-से कर्षकों ने उनकी जोती हुई जमीन दूसरों को दे देने के विरुद्ध तथा उनकी भूमि को ब्रह्मदेय या देवदान बना देने के विरुद्ध बार-बार संघर्ष किया, क्योंकि इसका अर्थ था उन्हें अपनी जमीन से निकाल बाहर करना।

किसानों में जोरदार और सार्थक उत्तेजना जग उठी। सारा गाँव जलाकर राख कर दिया गया, तीर्थस्थल ध्वस्त कर दिए गए और मन्दिर धराशायी कर दिया गया (एरिए—1931 का 31)। संघर्ष भारी विद्रोह के रूप में परिणत हो गए। राज्य ने दस्तावेजों, उत्कीर्णलेखों और मन्दिरों को बरबादी से बचाने के लिए सशस्त्र बल तैनात किया। आक्रमण के लक्ष्य अधिकतर मन्दिर होते थे। ऐसे स्वतः उद्भूत प्रतिरोध और खास-खास माँगों पर सीमित क्रियाएँ, अपने संचित एवं गहन रूप में, इतिहास में स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण अर्थ रखती हैं। बहुत-से मन्दिर-

अभिलेखों में ऐसे प्रतिवादों और विद्रोहों की चर्चा है और इनमें कर्षकों को बड़ी मुसीबत उठानी पड़ती थी। धर्मगुरु लोग किसानों को उपदेश देते थे कि वे शिव की सेवा करते हैं और अगले जन्म में उन्हें कैलाश का सुख मिलेगा। प्रतिवाद करने वालों को 'शिवद्रोही' की संज्ञा दी जाती थी।

चोल-उत्कीर्ण लेखों से प्रकट होता है कि किसानों ने अनेक बार विद्रोह किया। 1070 ई० में चोल राजा अधिराजेन्द्र को किसानों ने मार डाला। 1073 ई० में एक दूसरा विद्रोह हुआ (एरिए—1911 का 464)। दक्षिण-भारत में ब्राह्मणों और सामन्तों के विरुद्ध किसान-विद्रोह बारंबार होता रहा (एरिए—1925 का 80)। काश्मीर के शंकरवर्मन् (885-902) का वध किसानों के हाथ हुआ। काश्मीर में सामन्त शासक सर्ववर्मन् द्वितीय (939 ई०) के विरुद्ध किसानों के विद्रोह में यशस्कर ने नेतृत्व किया और अन्ततः उन्होंने राजा को गद्दी से उतार दिया। बंगाल में भीम या दिव्य ने कैवर्त-किसान विद्रोह का नेतृत्व किया (1070-15)। उच्छल ने काश्मीर किसान विद्रोह का नेतृत्व किया और हर्ष (1101 ई०) राज्यच्युत हुए। सामन्तों के विरुद्ध किसानों में आक्रोश और घृणा की प्रबल भावना थी (एइ—X, सं० 10)। गया जिला (बिहार) में मिले एक दानपत्र में कहा गया है कि शूद्रों से दानग्राही की रक्षा की जाए।

किसानों के लिए भारी करारोपण ने भयानक स्थिति पैदा कर दी थी (जएसोब—47-135 और आगे)। दैनिक मजदूरी पर खटनेवाले हलवाहे आदि छोटे-छोटे मजदूर भूमिहीन थे। चंडेश्वर ने इन्हें 'कीनाश' और 'कृषिवल' कहा है। भूस्वामियों के उत्थान के साथ ही किसानों की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। तकलीफ के दिनों में उन्हें हल, फाल, जुआ तथा हर प्रकार के कृषि साधन भी बेच लेने पड़ते थे। भारत के किसानों को ढेर सारे लगान, कर और मनमानी दर से ब्याज चुकाने पड़ते थे।

सातवीं शताब्दी ई० में रविसेन ने अपने 'पद्मपुराण' (11·350) में बताया है कि उन्होंने कई स्थानों में खटनेवाले किसानों को (कृषिवलजनाः) भयानक गरीबी वाला यन्त्रणामय जीवन बिताते देखा। उन्होंने एक ओर किसानों और कृषि-मजदूरों की दरिद्रता और दूसरी ओर भूस्वामी अभिजात वर्ग की विलासिता दोनों के वैषम्य को भी पैनी नजर से देखा है। उन्होंने दरिद्रता को पूर्वजन्म में किए हुए कुकर्मों का फल कहा है।

'हालिक' और 'हलवाहक' खास तौर से ऐसे हलवाहों के अर्थ में प्रयुक्त होता था जो पराश्रित किसान वर्ग में सबसे निचले स्तर पर आते थे। वे बहुत

सताए जाते थे (I. 174)। खेत को आबाद करने वाला 'कर्षक' कहलाता था। मध्ययुग में 'कृषिबल' अकिंचन किसानों को कहते थे जिनमें कृषि-मजदूर भी शामिल थे। ऐसे किसान कभी-कभी भागकर संन्यासी हो जाते थे और कभी-कभी सामूहिक रूप से घरबार छोड़ देते थे। एक चोल अभिलेख में कहा गया है—"तरह-तरह के लोग हमलोगों से मनमाने ढंग से इतना अधिक कर वसूलते-खसोटते रहते हैं कि हमें जीना दुश्वार हो गया है।" (चोलाज II (1), पृ० 343)। भोज ने अपने 'युक्ति-कल्पतरु' (पृ० 6) में राजा को सलाह दी है कि वे कृषिबलों की रक्षा करें, क्योंकि वे सभी सम्पत्तियों के मूल खेती में खटते हैं।

जहाँ-तहाँ स्थानीय किसानों ने बगावत की होगी। 'बृहन्नारदीयपुराण' (3. 2. 38-61) में बताया गया है कि किसानों के एक नेता या प्रमुख ने लोगों को मारकर उनकी सम्पत्ति लूटी तथा मन्दिरों में भी लूट-पाट की। क्षेमेन्द्र ने व्यापक तौर पर कहा है कि युगक्षय नामक उनके काल में निर्धन लोग धनवानों की सम्पत्ति-समृद्धि से जलते हुए उद्धत होते जा रहे हैं। गरीबी खास तौर से किसानों में थी। 'स्कन्दपुराण' में कहा गया है कि कलियुग में स्वामी भृत्यों के संघ से पीड़ित होंगे। यहाँ 'भृत्य' शब्द के अर्थ में पराश्रित किसान, कटाईदार और कृषि मजदूर सभी शामिल हैं। सन्ध्याकर नन्दी के अनुसार, राजा को चाहिए कि अपने सामन्तों को साधन-सम्पन्न बनाएँ, ताकि वे कैवर्त्त-विद्रोह को दबा सकें। डामर विद्रोह किसान-विद्रोह के ढंग का था। वे सशस्त्र किसान थे और राजाओं के उठापटक में उन्हें मजा मिलता था। वे राजा और सामन्त दोनों के लिए कंटक थे। कश्मीर का राजा नहीं चाहता था कि किसानों के पास पेट भरने से फाजिल कुछ भी रहे। किसान-आन्दोलन सामन्ती व्यवस्था से समन्वित हो गया और इस आन्दोलन के नेताओं ने सामन्तों का स्वरूप धारण कर लिया और वे क्रमशः पतनोन्मुख होकर स्वयं सामन्ती प्रभु बन बैठे।

जल्हण से ज्ञात होता है कि छोटी-छोटी झोपड़ियाँ और दर्दनाक गरीबी ग्राम-जीवन की पहचान-सी हो गई है। 'अवदानकल्पतरु' ने एक किसान का चित्रण दरिद्रता और दीनता की साकार मूर्त्ति के रूप में किया है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि धूल-भरे पाँवोंवाले किसान (पांसुलपाद हालिक) प्रतिभाहीन पुरुष का उदाहरण है। आर्थिक पिछड़ेपन से किसानों की सामाजिक प्रतिष्ठा गिरी। दिहात का जीवन-स्तर बहुत नीचे था। गरीब ब्राह्मणों और क्षत्रियों का भी ऐसा ही हाल था। अपने निर्वाह के लिए एक ब्राह्मण ने एक किसान की प्रशंसा कर उसकी इज्जत की, ताकि वह मुट्ठी भर भीख दे। अपनी तुच्छ भिक्षा

के लिए दिन-भर गाँव-गाँव भटकने के बाद थका-माँदा ब्राह्मण वटु फटा-चिटा छाता लिए भूख से तबाह घर लौटता है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में निर्धन ब्राह्मणों की तरह-तरह की कहानियाँ हैं। सुभाषित रत्नकोश (सं० 1306, 1307, 1310, 1311, 1312, 1314, 1315, 1317, 1318, 1320 आदि) में ग्रामों और ग्रामवासियों की दरिद्रता का वर्णन है। एक माता कामना करती है कि रात का अन्त न हो, ताकि सुबह होते ही उसे भोजन की चिन्ता न करनी पड़े।

यह नहीं कहा जा सकता है कि साहित्यिक स्रोतों में जो यह विलाप वर्णित है, उसके पीछे कोई सच्चाई छिपी न होगी। ढेंडपा कहता है कि मेरा घर एक निर्जन पर्वत पर है और वहाँ चावल नहीं है। वर की एक कविता में कहा गया है कि फटे-चिटे वस्त्र और कृश शरीरवाली एक निर्धन गृहिणी बच्चों को अन्न के लिए रोते-बिलखते देखकर विखिन्न हो ईश्वर से प्रार्थना करती है कि एक मन अन्न दें, ताकि एक सौ दिनों तक भोजन मिले। एक अन्य पद्य में इस प्रकार वर्णन है—'घर के भीतर चूल्हा है, ओखल है, हाँड़ी है, बच्चे हैं और अध्ययनस्थल भी है। इन सबों से उसे सन्तोष है, किन्तु कौन कहे कि बेचारे गृहस्थ की स्थिति कल क्या होगी, जब उसकी आसन्न प्रसवा पत्नी के प्रसव के समय उसके ऊपर खर्च का बोझ आएगा ?' एक उदाहरण है—'मैं देखता हूँ कि मेरे बच्चे भूख से तबाह हैं, उनके शरीर मृतक-समान कृश हो गए हैं, मेरा जीर्ण-शीर्ण कलश रिस रहा है; लेकिन इन सबों को देखकर मुझे वैसी पीड़ा नहीं होती है, जैसी पीड़ा यह देखकर होती है कि मेरी स्त्री अपनी फटी हुई साड़ी को सीने के लिए मुसकाकर एक सुई अपनी पड़ोसिन से माँगती है और पड़ोसिन क्रुद्ध हो उठती है।

अकुशल मजदूर की मजदूरी प्रतिदिन आधे पण (ताम्रपण) से लेकर एक पण तक थी। पाँचवीं शताब्दी ई० में दैनिक मजदूर को आधा पण से एक पण तक मजदूरी मिलती थी। ताम्रपण की क्रयशक्ति ऊँची थी; दैनिक मजदूर का पेट चौथाई ताम्रपण से भर जाता था। प्राचीन भारत में जीवन-निर्वाह मोटे तौर पर सस्ता था और एक व्यक्ति का मासिक भोजन-खर्च ठाट से महज दो रुपये में चल जाता था (एन० एच० आइ पी VI. 360)। आम तौर से मूल्य बहुत कम होता था और यह स्थिति इब्नबतूता के समय तक जारी रही। काकनदबोत श्री महाविहार से सम्बद्ध एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार, उदान के पुत्र अमरकर्दव ने दस भिक्षुओं के दैनिक भोजन और दो अखंड दीप के लिए पचीस दीनार दान दिया था (को इ इ—III. पृ० 31-32)। तंजावुर अभिलेख के आधार पर प्राणनाथ ने बताया है कि उस समय मूल्य पूर्व हिन्दू काल की अपेक्षा सात गुना ऊँचा था। राज-

केशरी वर्मन् (1000 ई०) के उत्कीर्ण लेख सं० 1 में लिखा गया है कि दो सौ कलंजु सोना दान किया गया और इसके ब्याज से बारह ब्राह्मणों का भोजन उसमें उल्लिखित भोज्य सूची के अनुसार अनन्त काल तक चलाने की व्यवस्था हुई (सा इ इ—III. सं० 1)। दन्दरादित्यदेव (1126 ई०) के कोल्हापुर ताम्रपत्रों (ए इ—XXXII. 30-3.) से निर्वाहव्यय के बारे में कुछ अवधारणा होती है। श्रमिक वर्ग का सुख-सुविधा-स्तर बहुत नीचा था। मनु के अनुसार, शूद्रों (निर्धन भूमिहीन जनों) का जन्म केवल उच्च वर्णों की सेवा के लिए था और वे अपने मालिक की स्वीकृति से भी दासता से मुक्त नहीं हो सकते थे। तरह-तरह की लूट-खसोटों और करारोपणों से गाँव के साधारण वासियों का जीवन दयनीय हो गया था।

निर्धनों और दिहातियों की दरिद्रता का वर्णन कवियों का एक प्रिय विषय हो गया था। लामा तारानाथ की तान्त्रिक कथाओं (मिस्टिक टेल्स) में, क्षेमेन्द्र के 'अवदान शतक' में, जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' में तथा बहुत-सी अन्यान्य श्लोकावलियों में प्राचीन भारत के जनसाधारण के जीवन और दशा का स्पष्ट चित्रण मिलता है। जल्हण ने कर-पीड़न और दुर्नियम के कारण ग्रामवासियों के कष्टों का चित्रण किया है। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'अवदान कल्पलता' में कहा है कि अर्द्धनग्न एवं धूलिधूसर शरीर तथा बिवाई से पीड़ित नंगे पाँवों वाले कर्षक (किसान या भूमिहीन श्रमिक) हल और कुदाल चलाते हुए कड़ी मिहनत कर रहे हैं, जो दृश्य सहृदय के लिए असह्य है। कर्षक लोग अधिकारियों और उनके साथियों के क्रूर व्यवहार से विदित थे। 'चतुर्भाणी' की निम्नलिखित पंक्तियों में दरिद्र पुरुष का मार्मिक चित्र आँका गया है :

"ये दरिद्र पुरुष चींटियों की भाँति एक दूसरे के पीछे पंक्तिबद्ध होकर मृत्युलोक पहुंचानेवाली सड़क पर बढ़ते जा रहे हैं और रटते जा रहे हैं कि 'यह आगे स्वर्ग है' और स्वर्ग पहुँचाने को लालयित हैं।"

वे यह देखना भी नहीं चाहते कि सच्चाई क्या है। समकालीन साहित्य में बड़े ही कारुणिक रूप में जन सामान्य के कष्टमय जीवन का चित्रण किया गया है। क्षेमेन्द्र ने लोगों की दरिद्रता का हृदयद्रावक वर्णन किया है। दास का काम करने वाले गरीब लोग मिट्टी में सोते थे, भूख की ज्वाला में झुलसते थे, शीतातप का कष्ट सहते थे और नारकीय जीवन बिताते थे। वे क्रमशः क्षीणतर होते जा रहे थे। वे जो कमा पाते थे, उससे बड़ी कठिनाई से प्राण बचाते थे और मालिक की कृपा की वृथा प्रत्याशा करते थे। बहुत से लोग गरीबी से तंग आकर घरबार छोड़ संन्यस्त हो जाते थे।

आर्थिक विपन्नता के कारण कभी-कभी कन्याओं को दासी बनने को मजबूर होना पड़ता था। 'लेख पद्धति' से ज्ञात होता है कि दासियाँ इतनी सताई जाती थीं कि आत्महत्या तक कर बैठती थीं। कभी-कभी मालिक उन्हें पीटते भी थे। उनका जीवन दर्दनाक हो गया था। लक्ष्मीधर ने 'नारद स्मृति' से एक श्लोक उद्धृत करते हुए बताया है कि प्रजा को अपने निर्वाह के लिए राजा पर आश्रित रहना है। 'सुभाषित रत्नकोश' के एक श्लोक से प्रकट होता है कि भोगपति ने इतना सताया कि लोग गाँव छोड़कर भाग गए। भूमिवाले किसान भी मजबूरी की जिन्दगी बसर करते थे। क्षेमेन्द्र ने भूख-प्यास से तबाह काम करते कर्षकों का वर्णन किया है। एक कृषि मजदूर दैन्य और दारिद्रय की प्रत्यक्ष मूर्ति के रूप में वर्णित है। 'मैनामती' गीतों में भी कराधिक्य के कारण कर्षकों की दर्दनाक हालत का वर्णन है। मनमाना करों की वसूली के परिणामस्वरूप कर्षक अपने हलों, जुओं और बच्चों तक को बेच देते थे।

'प्राकृतपैंगल' में वर्णित है कि शीत ऋतु की वायु और वर्षा ने अकिंचनों के दुर्बल अंगों को थरथरा दिया। दुःसह जाड़े ने भूख से मेल करके गरीबों पर अपना आक्रमण और तेज कर दिया। खाली पेट और उदास मन से वे हाथ-पाँव मोड़े अवाक् हो पड़े हुए हैं। पुष्पदन्त ने अपने 'उत्तरपुराण' में अपने काल के दैन्य-दारिद्रय के वैषम्य दिखाते हुए रामराज्य का चित्रण किया है। हेमचन्द्र (1123 ई०) की 'भवभावना' में एक अकिंचन की निम्नलिखित उक्ति आँख खोल देनेवाली है।

"मुझे पैसा नहीं है, लोग उत्सव मना रहे हैं, मैं अपनी स्त्री का हे दूँ ? अधिकारियों को देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। आज मेरे घर में कुछ भी नहीं है। हाँड़ी खाली है। कल क्या होगा ? परिवार के लोग बीमार हैं और हमें दवा नहीं है। राजा प्रतिकूल है। अब इस देश में जीते रहना मुश्किल है। हे भगवान्, मैं किस की शरण जाऊँ......मेरे प्रभु वाम हैं। महाजन कर्ज वसूलना चाहते हैं। मैं कहाँ जाऊँ ?"

'सुभाषित-रत्न-कोश' और सदुक्तिकर्णामृत' में गाँव के कर्षकों के, जो 'पामर' कहलाते थे, जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। कर्षक मन्द गति से खेत आता है, वह दोनों बाँहों से छाती को ढके हुए है। जाड़े से उसके होठ काँप रहे हैं। इससे यह सूचित होता है कि इन लोगों को कड़ाके के जाड़े में भी कमर से ऊपर अपना बदन ढकने के लिए कपड़ा नहीं रहता था।

'सुभाषित-रत्न-कोश' की निम्नलिखित पंक्तियों में अकिंचनता का चित्रण किया गया है।

(i) जाड़े की हवा से कांपते हुए अकिंचन यात्री

"ठंडी हवा से बचने के लिए चीथड़े लपेटे वह लड़खड़ाता हुआ अपने रास्ते पर चल पड़ा।"

"उसका अधफटा अँगरखा पुराना और सर्द हो गया है और छिद्रमय हो गया है। वह कराहते हुए कभी इस कोने से जा दुबकता है तो कभी उस कोने से।"

"पथिक गृहस्वामिनी के क्रुद्ध चेहरे की चुप्पी से लज्जित हो जाता है और अपनी एकमात्र सम्पत्ति फूस के बोझे को उठाकर अपना रास्ता पकड़ लेता है।"

(ii) गरीब गृहस्थ और उसकी दुखिया स्त्री।

"तुम हमें और हमारे बच्चों को किसी तरह गर्मी भर जिलाकर रखो। जब बरसात आएगी और कद्दू और कोंहरे फलेंगे, तब तो हम राजा हो जाएँगे।"

"आज तो हमने किसी तरह बच्चों का पेट भर दिया, पर हम कल क्या करेंगे? निर्धन की पत्नी चिन्ता करती है और टपकते आँसुओं से मलिन कपोल वाली वह शाम के विश्राम के क्षण का आनन्द भी नहीं ले पाती है।

"तुमने मुझे चलते-चलते थकाने के लिए पाँव दिए। विरह के लिए पत्नी दी, भीख माँगने के लिए वाणी दी और कृश होने के लिए शरीर दिया। हे मेरे ईश्वर! यदि तुम ऐसे दान देने में लजाते नहीं हो तो अन्ततः थकते-ऊबते भी नहीं हो?"

●

उपसंहार

नव प्रस्तर युग में जिस सभ्यता की आधारशिला रखी गयी, उसमें खेती का सिलसिला शुरू हो जाने के बाद बढ़ती हुई आबादी के पोषण के लिए अधिक जमीन जोतना और अधिक जानवर पोसना आवश्यक हो गया। इसी युग में क्षेत्रीय आधार पर सिन्धु घाटी में सभ्य जीवन का सूत्रपात हुआ और भारतीय इतिहास में नगर जीवन का श्रीगणेश सर्वप्रथम यहीं हुआ। वहाँ की सड़कें एक दूसरे को समकोण में काटती थीं और इस प्रकार के आयताकर नगर का ज्ञान मेसोपोटामिया अथवा मिस्र के लोगों को नहीं था। नवलेयलो का उन नगरों में अद्वितीय प्रबन्ध था जिसमें पकी ईंटों का उपयोग हुआ था। नालियों की निकास प्रणाली हड़प्पावासियों की अपनी विशिष्ट उपलब्धि थी और इससे नगरपालिका संगठन की जानकारी पर भी विशेष प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार के यवनों से वर्ग विषमता का होना स्पष्ट है। लोथल में ईंटों से निर्मित नाव का एक ऐसा घाट मिला है जो नहर के द्वारा काँबे की खाड़ी से जुड़ा था। समुद्र तटवर्ती नगरों में बन्दरगाहों की व्यवस्था थी और पश्चिमी एशिया के साथ उनका घनिष्ट व्यापारिक संबंध था। हल के उपयोग और सिंचाई के प्रश्न पर अभी भी विवाद है, परन्तु बाढ़ से सिंचाई का काम हो जाता होगा, ऐसा अन्दाज लगाया जा सकता है। किसी प्रकार के हल का उपयोगी अवश्य ही होता होगा; कारण, भोजन के लिए काफी मात्रा में अनाज पैदा किया जाता था। सोना से परिचित होने पर भी ये लोग चाँदी का व्यवहार ज्यादा करते थे। हड़प्पा से प्राप्त नर्तकी की नग्न मूर्त्ति काफी उत्तेजक है जिसके गले में हार और बाँह में चूड़ियाँ हैं। इसके आर्थिक आधार के नष्ट होने से सभ्यता का अधःपतन स्वाभाविक था। कवि और सिन्धु की धारा में परिवर्तन से यह क्षेत्र सूखाग्रस्त हो गया और वहाँ से भागे लोग मोहेन्जोदारो पहुँचे जिससे नगर की जनसंख्या पर दबाव बहुत बढ़ गया। यह क्षेत्र भी बाढ़ से नहीं बच सका। सिंचाई की व्यवस्था नष्ट हो गयी। बलुचिस्तानी क्षेत्र अग्निकाण्ड से नष्ट हुआ। हड़प्पा पर आक्रमणों के भी प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में हरियुपिया मिला नामक स्थान में जिस युद्ध का वर्णन है, हो सकता है, आर्यों के साथ युद्ध हुआ हो। आर्यों ने नवप्रस्तर सटंपातु युगीन प्रथम शहरीकरण की इस नीति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। ऋग्वेद में इन विजेताओं को नगर ध्वसंक और इन्द्र को पुरन्दर कहा गया है।

घोड़े और रथ के अतिरिक्त उनके पास कोई उन्नत शिल्प-विज्ञान नहीं था और धातुओं में भी वे लोग मात्रा काँसा (अयस) से ही परिचित थे। भारत में आने के बाद उन्होंने पशु और कृषिकों को अपनी अर्थ-व्यवस्था का आधार बनाया। गाय विनिमय का मुख्य साधन रहा। लोग अपनी गायों के साथ एक ही गोष्ठ में रहते थे और उनका संबन्ध उसी गोत्र से हो जाता था जिससे बाद में इस शब्द से एक खेन का सम्बन्ध समझा जाने लगा। आर्य हल के जरिए खेती करते थे जिसमें बैल जुते रहते थे। उन्हें मौसम की जानकारी भी थी। पाँच ऋतुओं का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। आग से जंगल जलाकर वे खेती लायक भूमि तैयार करते थे और ऋग्वेद में जुताई, बुआई, कटाई, दवाई और ओसाई का विवरण मिलता है। आर्यों के समय में कृषि-अर्थव्यवस्था ठोस हो गयी थी। अभी तक जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का प्रचलन नहीं हुआ था। आर्य गाय के लिए युद्ध करते थे, क्षेत्र के लिए नहीं और अपने कबीले पर शासन करते थे। वंशानुगत शासन का प्रचलन भी अभी तक शुरू नहीं हुआ था। सभा कबीले के बुजुर्ग सदस्यों की परिषद थी और समिति कबीले की आम सभा थी। उत्तरकालीन वैदिक आर्यों की जिन्दगी में महान् परिवर्तन आ गया। उत्तर वैदिक साहित्य में हिन्दमहासागर और अरब सागर का वर्णन है, हिमालय की कई चोटियों तथा विन्ध्य पर्वत समूह का भी वर्णन मिलता है। लोहे के उपयोग से जंगल काटने की प्रक्रिया चल पड़ी। लोहे का उल्लेख श्याम तदस के रूप में हुआ है। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की भावना धीरे-धीरे बढ़ने लगी। शतपथ ब्राह्मण में हल जोतने और खेती के विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित अनुष्ठानों का प्रचुर विवरण मिलता है। छः, आठ, बारह और चौबीस बैलों के जुए के वर्णन से स्पष्ट है कि हलों से गहरी जुताई का काम लिया जाता था। अथर्ववेद में नदियों से नयी नाली में पानी लगाने का धार्मिक अनुष्ठान वर्णित है। चावल (व्रीहि) का पहली बार उल्लेख किया गया है। पशुपालन अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी और कृषि का महत्व बढ़ने लगा।

कला-कौशल के क्षेत्र में प्रगति हुई। नये-नये धन्धों का विकास हुआ। धातु गलाने के धन्धे में विकास होने से लोहार, बढ़ई, सुनार, चमार, जौहरी, रंगसाज, कुम्हार आदि महत्वपूर्ण हो गये। आर्थिक कार्यों के विशिष्टीकरण में प्रगति हुई। ऐसी स्थिति में व्यापार का प्रारम्भिक रूप दृष्टिगोचर होता है। वैश्य व्यापार में संलग्न थे। शतपथ ब्राह्मण में महाजनी प्रथा का उल्लेख है और सूदखोर को कुसिदिन कहा गया है। इस युग से कराधान का भी प्रचलन शुरू हुआ। करों के रूप में राजा ने अतिरिक्त पैदावार की उगाही शुरू कर दी। शतपथ ब्राह्मण में राजा को जनता का भक्षक कहा गया है (विषमता)। भागदुघ नामक

अधिकारी पैदावार में से बड़े हिस्से की वसूली करता। कर या धान के सुनिश्चित होने से कई अधिकारियों की बहाली हुई। अथर्ववेद के एक परिच्छेद में कहा गया है कि राजा ब्राह्मण का रक्षक और जनता का रक्षक है। यज्ञानुष्ठानों के फलस्वरूप पशुधन का लोप होना शुरू हो गया और इससे कृषि-अर्थव्यवस्था के विकास में कठिनाई शुरू हो गयी।

भाथी के प्रयोग से लोहे की नयी शिल्पकला का फैलाव होने लगा और लोहे के उपकरणों और हथियारों का बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू हुआ। लोहे के काल से कृषि में भी प्रगति हुई। ज्यादा से ज्यादा अनाज का उत्पादन शुरू हुआ जिससे नगरों की वृद्धि में सहायता मिली। शहरीकरण का दूसरा दौर शुरू हुआ। संपूर्ण देश में ई० पू० छठी और तीसरी शताब्दी के बीच लगभग 60 बड़े-बड़े शहर थे। शहरी जीवन का नये सिरे से सूत्रपात हुआ। पश्चिमोत्तर भारत तथा पश्चिमी एशिया के बीच नये व्यापार सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप खुल गये और व्यापारिक संभावनाएँ बढ़ गयीं। व्यापार ने शहरी जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया। धातु के सिक्के के प्रयोग के कारण भी व्यापार और शहरीकरण को बढ़ावा मिला। शहरों के विकास से कलाओं और शिल्पों ने व्यापार को मौद्रिक अर्थव्यवस्था से पूरी तरह जोड़ दिया। शिल्पी संघों का विकास हुआ जो नगरों में रहते थे। उद्योगों का क्षेत्रीयकरण और वंश-परंपरा चल पड़ी। सेठ महाजनी और बैंक का भी काम करते थे। मुखिया के रूप में गहपति का प्रभाव समाज के भीतर बढ़ती वित्तीय विषमता का परिचायक है।

जैन और बौद्ध धर्मों ने वेदों के प्रभाव को ठुकरा दिया और पशु बलि का खुलकर विरोध किया। लोहे के प्रयोग से कृषि की उन्नति हुई जो मुख्यतः पशुधन पर ही निर्भर थी। अहिंसा के सिद्धान्त से कृषि में सहायता पहुँची। जैनियों ने महाजनी कारोबार अपनाया और यही कारण है कि यह धर्म शहरी संस्कृति और समुद्री व्यापार से संबद्ध है। बौद्ध ग्रन्थों में पशुओं को माता-पिता और सम्बन्धी की भाँति माना गया है। पशु कृषि के लिए अनिवार्य है। राजा से कहा जाता है कि वे किसानों को पशु, बीज और औजार दे। व्यापार की ओर भी उनका सामान्य दृष्टिकोण था। जहाँ बौधायन ने समुद्र यात्रा की भर्त्सना की है, वहीं बुद्ध ने समुद्र यात्रा के प्रति स्वीकृति प्रदान की है। नवोदित व्यापारियों ने इसलिए बौद्ध धर्म का समर्थन किया।

व्यापार और मुद्रा के चलते महाजनी और सूदखोरी की प्रथा चल पड़ी। आपस्तम्ब ने कहा है कि सूद पर जीवनयापन करने वालों का अन्न ब्राह्मण

को नहीं खाना चाहिए। बौधायन ने वैश्यों के लिए महाजनी कारोबार जायज माना है और सूदखोर ब्राह्मणों की भर्त्सना की है। मगध के उत्थान के पीछे भी जबरदस्त आर्थिक कारण थे। अनुकूल भौगोलिक स्थिति के चलते मगध ने गंगा के सम्पूर्ण निचले मैदानीय भाग को नियन्त्रित करने की क्षमता प्रदान की और यहाँ की उपजाऊ मिट्टी ने इसे कृषि का सुदृढ़ आधार प्रदान किया गया। यहाँ के जंगलों से लकड़ियाँ और हाथी प्राप्त हुए, ताँबे और खनिज लोहे ने इसके आर्थिक जीवन के विकास में चार चाँद लगा दिये जिससे कृषि केउपकरण और सेना के लिए औजारों की उपलब्धि संभव हो सकी। वैशाली के विरूद्ध लड़ाई उत्कृष्ट हथियारों का प्रयोग इसी का प्रमाण है। धनीमानी भूस्वामियों और सुशिक्षित कारीगर और संचन्त व्यापारी वर्ग सामने आये। कराधान व्यवस्था के विस्तार से शासन तंत्र का कठोर होना स्वाभाविक ही था और राज्य का नियंत्रण जीवन के सभी पहलुओं पर बढ़ता गया, जिसकी परिणति मौर्यकाल में हुई।

मौर्य शासकों ने लाभप्रद आर्थिक क्रियाकलापों की व्यवस्था और संचालन की ओर पूरा ध्यान दिया। सिंचाई की सुविधा से कृषि की अपार प्रगति हुई। आन्तरिक्त आवागमन के विकास से व्यापार में वृद्धि हुई। नदियाँ इसमें सहायक सिद्ध हुईं। सरकार के कार्यकलापों की मजबूत आधारशिला थी नगद आर्थिक व्यवस्था। संकट काल में राजस्व की व्यवस्था के लिए कराधान के नये संकटकालीन प्रणय का उल्लेख मिलता है। मौर्यों ने धन के लिए अंधभक्ति की प्रथा प्रचलित की, ऐसा पतंजलि का विचार है।

मौर्यों के बाद दक्षिण में सातवाहन और उत्तर में कुषाण दो बड़े-बड़े राजवंश थे जो मौर्यों की तरह केन्द्रीयकृत राजनीतिक सत्ता स्थापित नहीं कर सके। दोनों ही राजवंशों ने छोटे-छोटे राजाओं से सामन्ती आधार पर सम्बन्ध स्थापित किये थे। सातवाहनों के अधीन मराठी, इक्ष्वाकु आदि कई जागीरदार थे। कुषाणों के अन्दर छोटे-छोटे शासक नतमस्तक रहते थे, उन्हें खिराज देते थे और अपनी सैनिक सेवाएँ प्रदान करते थे। राजाओं की तुलना देवताओं के साथ की जाने लगी। रोम से प्रभावित होकर कुषाणों ने मृत राजाओं की प्रतिमाएँ स्थापित करने (देवकूल) के लिए मृतात्माओं के मंदिरों के निर्माण की प्रथा शुरू की। सातवाहनों ने ब्राह्मणों और बौद्ध संन्यासियों को लगान और प्रशासनिक नियंत्रण से मुक्त भूमिदान करने की प्रथा शुरू की। भूमि-अनुदान का सबसे पुराना अभिलेखात्मक प्रमाण प्रथम शताब्दी की ई० पू० का है, जब

सातवाहनों ने वैदिक यज्ञानुष्ठानों को सफल बनाने के निमित्त पुरोहितों को ग्राम अर्पित किये ।

इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि भारत और पश्चिमी देशों के बीच व्यापार की प्रगति तेज हो गयी । मौर्यों के समय जो आन्तरिक आवागमन की सुविधा बढ़ी, उससे व्यापार की उन्नति का आधार दृढ़ हुआ । व्यापार मार्ग का विवेचन विस्तृत रूप में हम कर चुके हैं । हिपालस ने मानसून की हवा का पता लगाकर विदेश व्यापार को और गति प्रदान की । इसी काल में भारत चीन के रेशम व्यापार में बिचौलिये का काम करता था । रोमन साम्राज्य के उदय से भारतीय व्यापार को प्रथम शताब्दी ई० पू० में प्रोत्साहन मिलता गया । भारत चीन से रेशम खरीदता और रोम में उसका निर्यात करता । रोमन सम्राट् औरोलियन ने सोने के बराबर इसका मूल्य घोषित कर दिया था । ये लोग दक्षिण पूर्वी एशिया से मशाला लेकर वहाँ भेजते थे । रोमन सिक्के के 68 खजाने अभी तक भारत में खुदाइयों से मिले हैं । लोगों के आर्थिक जीवन में मुद्रा अर्थव्यवस्था प्रवेश कर चुकी थी । नगद आर्थिक व्यवहार और व्यापार के फैलाव के कारण पश्चिमी और पूर्वी तटवर्ती क्षेत्रों तथा देश के भीतरी भागों में अनेकानेक शहर स्थापित हो चुके थे । दस्तकारों ने मिलजुल कर अपने संघों का संगठन किया और सौदागरों ने भी अपने निगम स्थापित किये । ऐसे अनेक संघों और निगमों का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है । इनलोगों को इस काल में मौर्यों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता थी । संघ और निगम की सदस्यता दस्तकारों को सामाजिक प्रतिष्ठा और सुरक्षा प्रदान करती थी ।

भूमि-अनुदान की प्रथा से सामन्ती व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हुआ । वृत्तिभोगियों को किसानों से बेगार लेने तथा करों और बकाया रकमों को वसूल करने का अधिकार मिल जाने से किसानों पर कठोर दमन शुरू हो गया । व्यापार के ह्रास से दस्तकारों के महत्त्व भी घटने लगा । व्यापार की शिथिलता से शहरी केन्द्रों का ह्रास हुआ । वर्णगत विभिन्नताएँ बढ़ती गयीं और वराहमिहिर के अनुसार ब्राह्मण के घर में पाँच, क्षत्रिय के घर में चार, वैश्य के घर में तीन और शूद्र के घर में दो कमरे होने चाहिए । गुप्त साम्राज्य के खण्डहर पर सामन्ती रियासतों का जन्म हुआ । व्यापार का ह्रास हुआ और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आकस्मिक परिवर्त्तन शुरू हो गया । छोटे-छोटे राज्यों के उदय और व्यापार की धीमी गति के कारण अन्तरदेशीय यातायात की व्यवस्था कमजोर हो गयी और स्थानीय राजनीतिक समूहों का विकास हुआ । बड़े-बड़े मंदिर और मठों

में दान संग्रह होने से ये भी शोषण के प्रमुख केन्द्र बन गये और उन स्थानों में बुराइयों का समावेश हो गया। सत्तामुखापेक्षी मंदिर धर्म के नाम पर शोषण प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग बन गया। आम आदमी की अवस्था दिन-प्रति-दिन गिरती गयी और आर्थिक शृंखला के सबसे नीचे स्तर पर आम आदमी खड़ा-खड़ा अपने पेट पालन की चिन्ता में व्यग्र रहने लगा और शायद आज भी वह उसी स्थिति में 'गरीबी रेखा' के नीचे उस दिन की आशा लगाये खड़ा है, जब 'गरीबी रेखा' को शब्दकोश से हटा दिया जायेगा—शायद तभी ही वह अपने नूतन भविष्य की कल्पना कर सकेगा।

●

ग्रन्थ-सूची

मूल-ग्रन्थ

1. अपारारका—कमेन्टरी ऑन याज्ञवल्क्य स्मृति-2 भाग पूना, (1903-4)।
2. आपस्तंभ धर्मसूत्र—मैसूर 1898 बुहलर-एस० बी० ई० II पी० टी० I
3. अर्थशास्त्र—आर० पी० कांगले; आर० शामशास्त्री।
4. अर्थशास्त्र—पद-सूची, मैसूर (1924-5)।
5. अष्टाध्यायी—सूत्र पथ—के० पी० पंडित, बम्बई एस० पाठक और एस० चित्ताराव पूना-1935 (1909)
6. अमरकोश—शर्मा और एन० जी० सरदेसाई पूना-1941।
7. अथर्ववेद—(पाईपालदास का)—सम्पादित रघुवीर, लाहौर-1936-41 एवं रोथ और विटनी बर्लिन-1856।
8. अर्थशास्त्र—कौटिल्य एवं अर्थशास्त्र I
9. बौधायन धर्म सूत्र—एस बी० ई० XXII; और मैसूर-1907।
10. बौधायन गृह्य सूत्र—मैसूर-1904।
11. जातक—(फॉसबॉल-7 भाग) लंडन 1877-79।
12. कल्हण—राजतरंगिनी आर० एस० पंडित-1934 (इलाहाबाद) और एम-ए० स्टेन 1900।
13. कामन्दीकाय नीतिसार—त्रिवेन्द्रम—1912।
14. कामसूत्र—(वात्स्यायन) के० आर० अयंगर, लाहौर 1921।
15. कल्पसूत्र (हरीबहादुर सूरी)।
16. कुरल (तिरुकुरल), शिकागो 1927; डिकसीतार मद्रास 1949।
17. कृषि-शास्त्र (दशरथ शर्मा द्वारा संकलित) नागपुर-1920।
18. कादम्बरी (बाण)—सी० एम० रीडिंग, लंडन 1890।
19. महाभाष्य—(ई० डी० केलहॉर्न), बम्बई 1892-1909।
20. महाभारत—बी० ओ० आर० आइ० संस्करण एडिसन और गीता प्रेस।
21. महावंश—जीजर—पी० टी० एस०—लंडन-1908।
22. मणिमेखालाई (ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में)—एस० कृष्णास्वामी अयंगर, लंडन-1928।

23. मिलिन्दपन्ह—बी० ट्रेंकर, लंडन-1918, एस० बी० ई०-XXXV, XXXVI
24. मृच्छकटिकम—ए० डब्ल्यू० राइडर, कैंब्रिज-1905।
25. मुद्राराक्षस (विशाखदत्त) कर्माकर (एल० डी०)-पूना 1940।
26. मनुस्मृति—एस० बी० ई०—XXX।
27. पतंजलि—व्याकरण महाभाष्य (एस० डी० कुडाला) बम्बई-1912।
28. रामचरित (संध्याकार नन्दी) राजशाही-1939।
29. रामायण (एम० एन० दत्त)—कलकत्ता 1892-94।
30. सामन्तपसादिक—पी० टी० एस०-लंडन।
31. सुश्रुत संहिता—बम्बई-19 1।
32. शीलपदिकरम—वी० आर० आर०—दीक्षित्तर ऑक्सफोर्ड-1939।
33. शतपथ ब्राह्मण (एस० बी० ई०)—12, 26, 43, 44।
34. शुक्रनीति—बी० के० सरकार—इलाहाबाद-1914।
35. थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्—लंदन-1931।
36. विनयपिटक—पी० टी० एस०, लंदन-18-79-83 संम्पादित राहुल सांस्कृत्यायन, सारनाथ-1935।
37. वशिष्ट धर्मसूत्र—ए० ए० फहरेर-बम्बई-1916।
38. चतुरवाणी—(मोतीचन्द्र द्वारा सम्पादित)

अभिलेख :

1. एन० जी० मजुमदार—बंगाल का अभिलेख।
2. आर० सेवेल—दक्षिण भारत का ऐतिहासिक अभिलेख।
3. दक्षिण भारत का अभिलेख (सभी प्रकाशित भाग)
4. टी० एन० सुब्रमनियम—दक्षिण भारत के मंदिर अभिलेख-3 भाग।
5. बरूआ और सिन्हा—भरहुत का अभिलेख।
6. कोर्पस इन्सक्रियसनम इन्डिकपरम—चार भाग।
7. डी० सी० सरकार—चुने हुए अभिलेख (पहला और दूसरा संस्करण)।
8. आर० मुखर्जी और एस० के० मैत्री—बंगाल का अभिलेख।
9. आर० के० चौधरी—(i) प्राचीन भारत का महत्त्वपूर्ण अभिलेख। (ii) बिहार के चुने हुए अभिलेख।

सहायक ग्रन्थ :

1. अग्रवाल, बी० एस० वायुपुराण—ए स्टडी वाराणसी-1963।
2. अग्रवाल, बी० एस०—इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनी, लखनऊ-1953।

3. अग्रवाल वी० एस०—हर्ष चरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन पटना-1953।
4. अद्यय, जी० एल० —अर्ली इंण्डियन, इकॉनामिक्स-बम्बई-1966।
5. एलन, जे०—कोइन्स ऑफ एंसियेन्ट इण्डिया, लंडन-1936।
6. एलचिन, एफ०, आर०—अपॉन द एन्टिक्वीटी एण्ड मेथड ऑफ गोल्ड माइनिंग इन एन्सियेन्ट इण्डिया (जे० ई० एस० एच० ओ०-V (II)-P-211)
7. अपादोराई—इकानॉमिक कंडिशन इन साउथ इण्डिया, मद्रास-1936।
8. अलटेकर, ए०एस०—द भिलेज कम्युनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया-बम्बई-1927।
9. बनर्जी, पी०एन०—(i) ए स्टडी ऑफ इंडियन इकॉनामिक्स लंडन-1940।
(ii) ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन टॉक्सेशन लंडन-1930।
10. बंद्योपाध्याय, एन० सी०—इकानॉमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एनसियेन्ट इंडिया, रिप्रिन्ट, इलाहाबाद-1980।
11. ब्लच, मार्क—फ्यूडल सोसाइटी, 2 भाग, लंडन-1965।
12. वाजपेयी, के० डी०—भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा-1951।
13. बसु, एस० एन०—स्लेवरी इन जकार्ता (जे० बी० ओ० आर० एस०-IX)
14. बोस, एन० ए०—सोशल एण्ड रूरल इकानोमी ऑफ नोर्दर्न इंडिया—कलकत्ता-1945-2, भाग।
15. बूच, एम० ए०—इकॉनामिक लाइफ इन एनसियेन्ट इंडिया-बम्बई-1924
16. बुद्ध प्रकाश—(i) ऐसपेक्ट, ऑफ इंडियन हिस्ट्री सिवीलाईजेशन, आगरा-1965।
(ii) स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिवीलाइजेशन-1962।
(iii) इंडिया एण्ड द वर्ल्ड—होशियारपुर 1964।
17. बोलीन एस०—स्टेट एण्ड कॉमर्स इन द रोमन इम्पायर अप टू 300 ए० डी०, स्टॉकहोम 1958।
18. बारनट, एल० डी०—एटीवीकटीज ऑफ इंडिया, लंडन 1913 कमरशियल एण्ड पॉलिटिकल कनेक्शन ऑफ एनसियेन्ट इंडिया विथ द वेस्ट, बी० एस० ओ० ए० एस० 1917।
19. बॉशम ए० एल०—(i) द वनडर दॉट वाज इंडिया, लंडन 1953।
(ii) नोट्स ऑन सी फॉरिंग इन एनसियेन्ट इंडिया लंडन 1949
(iii) द इंडियन सब-कॉन्टिनेन्ट इन हिस्टॉरिकल पर्सपेकटीक (लंडन 1958)।
20. बील, एस०—चाइनीज अकाउण्ड ऑफ इंडिया, कलकत्ता-1957-58।
21. बील, एस०—बुद्धिस्ट रेकॉर्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड लंडन-1884।
22. चक्रवर्ती, एन० पी०—इंडिया एण्ड सेंट्रल एशिया, कलकत्ता-1927।

23. चालसंवर्थ, एम० पी०—(i) ट्रेड रूटस् एण्ड कॉमर्स ऑफ रोमन इम्पायर।
(ii) सम नोट्स ऑन द पेरीप्लस (क्लासिकल क्वाटरली-1928)।
(iii) रोमन ट्रेड विथ इंडिया (ए चाप्टर इन द "स्टडीज इन द रोमन इकॉनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री) प्रिंसटन 1951।
24. कैरी, एम० एण्ड ई० एच०—वार्मिन्डटन एंसियेन्ट एक्सप्लोरर, लंडन—1929
25. कसोन, एल०—द एनसियेन्ट मॉरीनर्स, न्यूयार्क 1959।
26. चक्रवर्ती, एच० पी०--ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन एनसियेन्ट इंडिया, कलकत्ता-1966
27. केव्स रिचर्ड ई०—ट्रेड एण्ड इकानॉमिक स्ट्रकचर मॉडेल्स एण्ड मेथड्स दिल्ली 1956।
28. चट्टोपाध्याय, डी०—लोकायत, दिल्ली 1959।
29. चक्रवर्ती, एस० के०—करेन्सी प्रोबलेम इन एनसियेन्ट इंडिया-कलकत्ता 1937।
30. चानन डी० आर०—(i) स्लेभरी इन एनसियेन्ट इंडिया।
(ii) द स्प्रेट ऑफ एग्रीकल्चर इन नार्दर्न इंडिया, न्यू दिल्ली-1963।
31. चट्टोपाध्याय, बी०—द ऐज ऑफ द कुशानाज (कलकत्ता-1970)।
32. चौधरी, अभयकांत—अरली, मेडियेवल विलेज इन नार्थ इस्टर्न इण्डिया कलकत्ता-1971।
33. चौधरी, राधाकृष्ण—कौटिल्याज् पॉलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्सटीच्यूशन बनारस, 1972।
(i) सम एसपेक्ट्स ऑफ फ्यूडलिज्म इन एनसियेन्ट इण्डिया, जे० आई० एच० 1959 एण्ड 1960)।
(ii) सम एसपेक्ट्स ऑफ फ्यूडलिज्म इन साउथ इण्डिया। (जे० आई० एच०-1975)।
(iii) फोर्सड लेबर इन एनसियेन्ट इण्डिया (आई० एच०-1962)।
(iv) थ्योरी ऑफ कमेनडेशन इन एनसियेन्ट इण्डिया (पी० आई० एच० सी०-1968)।
(v) सम आसपेक्ट ऑफ सोशिओ—इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ एनसियेन्ट इण्डिया, इन ए न्यू पर्सपेकटीव (जे० बी० आर० एस०-1968)।
(vi) हूण कॉयनेज (जे० एन० एस० आई०-XX)

(vii) द प्राब्लेम ऑफ सबपीरियडाईजेशन इन एनसियेन्ट इंडिया (अब्दुल करीम कमेमोरेशन वॉलयूम एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बांग्लादेश, ढाका ।

(viii) आसपेक्टस् ऑफ फ्यूडलिज्म इन कमबोडिया (प्रोसीडिंगस् ऑफ द इण्टरनेशनल कांगरेस ऑफ ओरिएण्टलिस्ट भाग IV-नई दिल्ली-1964) ।

(ix) स्लेवस एण्ड सर्फस् इन कमबोडिया (सत्तकारी मुखर्जी कमेमोरेशन वोल्यूम) ।

(x) स्टेजस् इन एनसियेन्ट इंडियन पॉलिटिकल हिस्ट्री (इनक्वाईरी-1969) ।

(xi) एनसियेन्ट इण्डिया—प्राब्लेमस् एण्ड पासिबलिटीज (भागलपुर युनिवरसीटी जरनल) ।

(xii) प्रेसिडेनशियल अड्रेश—बिहार इतिहास परिषद्-1978 ।

(xiii) प्रेसिडेनशियल एड्रेस (सेक्शन I) सबाई प्योर सेशन ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस-1970) ।

(xiv) नेचर ऑफ फ्यूडलिज्म इन अर्ली मेडियेवल इंडिया के० पी० जयसवाल, कमेमोरेटीव वोलयूम 1981 ।

(xv) सोशल हिस्ट्री ऑफ एनसियेन्ट इंडिया (ए स्टडी इन मेथडोलोजी) —भागलपुर यूनिवरसीटी जरनल ।

34. दास, डी०, आर०—इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ द डेक्कन, दिल्ली-1967 ।

35. डेरी, टी० के० एण्ड—विलीयम्स, टी० जे० ए० सार्ट हिस्ट्री ऑफ टेक्नॉलोजी, आक्सफोर्ड-1960 ।

36. डेरेट, जे० डी० एम०—(i) द राइट टू अर्न इन एनसियेन्ट इण्डिया (जे० ई० एस० एच० ओ० अगस्त-1957) ।
(ii) रेलिजीयन, लॉ स्टेट इन एनसियेन्ट इण्डिया, लंडन-1968 ।

37. दांगे-एस० ए०—इण्डिया फ्रॉम प्रिमीटीव कम्युनिज्म टू स्लेवर-बम्बई 1949 ।

38. दास, एस० के०—इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ एनसियेन्ट इण्डिया, कलकत्ता-1924-5

39. दत्ता, बी० एन०—स्टडीज इन इंडियन सोशल पॉलीटी, कलकत्ता-1944 ।

40. दास कॉपिटल सेनटेनरी वॉलयूम—नई दिल्ली-1968 ।

41. एंजलस, एफ०—द ओरिजीन ऑफ द फॉमीली, प्राइवेट प्रॉपरटी एण्ड द स्टेट (मास्को-1952) ।

42. फिनले, एम० आई०—द एनसियेन्ट इकॉनामी-यूनिवरसीटी ऑफ कॉलीफोर्नियां प्रेस-1973 ।

43. गोशाल, यू० एन० —(i) कनट्रीब्यूशनस् टू द स्टडी ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता-1929 ।
(ii) अग्रेरियन सिस्टम इन एनसियन्ट इण्डिया कलकत्ता-1930।
(iii) द बीगिनिंग ऑफ इण्डियन हिस्ट्रीयोग्राफी एण्ड अदर एसे कलकत्ता-1944 ।

44. घोष ए०—द सीटी इन अर्ली हिस्टोरिकल इण्डिया, शिमला 1973 ।

45. गोपाल कृष्ण, पी० के०—डेवेलपमेन्ट ऑफ इकॉनोमिक आइडियाज् इन इण्डिया, नई दिल्ली 1959 ।

46. गुप्ता, पी० एल०—कॉयन्स, वाराणसी 1970।

47. गोपाल एम० एच०—मौर्यन पब्लिक फाइनान्स, लंडन 1935 ।

48. गोपाल, एल०—द इकॉनामिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया (ए० डी० 700-1200) दिल्ली 1965 ।

49. हापकिन्स, डब्ल्यू०—(i) द सोशल एण्ड मिलीट्री पोजीशन ऑफ द रूलिंग कास्ट इन एनसियेन्ट इण्डिया ऐज रिप्रेजेनटेड बाई द संस्कृत एपिक (जे० ए० ओ० एस० XIII पी० पी०, 57-376 ।
(ii) इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यूयार्क 1901 ।

50. हबीम, अब्दुल—एनसियेन्ट इण्डियन हिस्ट्री इन न्यू लाइट, ढाका 1978 ।

51. ह्रोजनी, बी०—एनसियेन्ट हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न एशिया, इण्डिया एण्ड क्रीट ।

52. हुसैनी, एस० क्यू० ए०—इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ एनसियेन्ट इण्डिया कलकत्ता 1962 ।

53. झा, डी० एन०—(i) रेवेन्यू सिस्टम इन पोस्ट मौर्यन एण्ड गुप्ता टाइम्स कलकत्ता 1967 ।
(ii) एनसियेन्ट इण्डिया, दिल्ली 1977।
(iii) स्टडीज इन अर्ली इण्डियन इकॉनामिक हिस्ट्री, दिल्ली 1980 ।

54. जैन, पी० सी०—लेबर इन एनसियेन्ट इण्डिया, नई दिल्ली 1971 ।

55. जैन, जे० सी०—लाइफ इन इण्डिया ऐज डेपीकटेड इन द् जैन कॉनोन्स, बम्बई 1947 ।

56. जायसवाल, के० पी०—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता 1930।
57. खेर, एन० एन०—अग्रेरियन एण्ड फिस्कल इकानामी इन मौर्य, पोस्ट मौर्यन एज, दिल्ली 1973।
58. काने, पी० वी०—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र 5 भाग, पूना 1930 ऑनवर्ड्स्।
59. मृदल, गुनार—एशियन ड्रामा: ऐन इनक्वायरी इनटू द पॉवरटी ऑफ नेशन, 3 भाग (पेंगविन-1968)
60. मुखर्जी, आर० के०—(i) लोकल गवर्नमेंट इन एनसियेन्ट इण्डिया आक्सफोर्ड-1920।
(ii) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग एण्ड मेरी टाइम एक्टीवीटी फ्रॉम द अर्लीयस्ट टाइम, लंदन 1912
61. मोरिस एण्ड स्तेन—ट् इकानामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ए बीबलियोग्राफिक एसे (इन द जरनल ऑफ इकानामिक हिस्ट्री, 1961 XXI)
62. (a) मोती चन्द्र—ज्योग्राफिकल एण्ड इकानामिक स्टडीज इन महाभारत (लखनऊ 1943)।
63. मुखर्जी डी० पी०—एन एनसियेन्ट हिस्ट्री ए स्टडी इन मेथड, बम्बई 1945।
64. ममफोर्ड लूईस—द सीटी इन हिस्ट्री, लंदन 1961।
65. मैटी, एस० के०—(i) द इकानामिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड दिल्ली 1970।
(ii) अर्ली इण्डियन कॉयन्स एण्ड करेन्सी सिस्टम, दिल्ली 1900
66. मजुमदार बी० पी०—सोशियो इकानामिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया-कलकत्ता 1960।
67. मजुमदार, आर० सी०—कॉरपोरेट लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता-1922
68. मुखर्जी एन० जी०—हान्डबुक ऑफ इण्डियन अग्रीकलचर 1915।
69. नारायण पी०—इकानामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता 1962।
70. नीयोजी बी० आयरन एनसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1914।
71. नैनार, एस० एम० एच०—अरब ज्योग्राफरर्स नालेज ऑफ साउथ इण्डिया मद्रास 1942।
72. पीले, के० के०—दसुचिन्द्रन एण्ड टेम्पल मद्रास 1953।
73. पीगॉट, एस०—प्री हिस्टोरिक इण्डिया 1950।

74. पुरी, बी० एन० —(i) हिस्ट्री ऑफ द गुजारा प्रतिहर्ष।
(ii) इण्डिया अंडर द कुशान्स।
(iii) इण्डिया इन द टाइम ऑफ पतंजलि।
(iv) सम एसपेक्ट ऑफ इकानामिक लाइफ इन टू कुषाण पीरियड (आई० सी० -XXI)

75. प्रसाद, प्रकाश चरण—फॉरेन ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन एनसियेन्ट इण्डिया-दिल्ली 1077।

76. प्राण नाथ—ए स्टडी इन इकानामिक कनडीशन ऑफ एनसियेन्ट इण्डिया लंडन-1929।

77. टोलेमी—ज्योग्राफी (ई० एल० स्टीवेनसन) न्यूयार्क-1932।

78 पनीकर, के० एम०—ज्योग्राफिकल फैक्टर्स इन इण्डियन हिस्ट्री-बम्बई-1955

79. रॉलीसन, एच० जी०,—(i) इंटर कोर्स बिटवीन इंडिया एण्ड वेस्टर्न कैम्ब्रिज-1916।
(ii) बॉक्ट्रिया—लंडन 1912।
(iii) पार्थीया—लंडन 1893।

80. रे, पी० सी०—हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमेस्ट्री, लंडन आक्फोर्ड-1902।

81. शर्मा, बी० एन०—सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया (600-100 ए० डी०)

82. श्रीवास्तव, बलराम—ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन एनसियेण्ट इण्डिया बाराणसी 1968

83 शाह के० टी०—एनसियन्ट फाउडेशन्स ऑफ इकानामिक्स इन इण्डिया बम्बई- 1954।

84. सरकार, डी० सी०—(i) लॉन्ड सिस्टम एण्ड फ्यूडलिज्म इन एनसियेन्ट इण्डिया
(ii) लॉन्डर्लीडज्म एण्ड टेनेनसी इन एनसियेन्ट एण्ड मेडीयेवल इण्डिया, लखनऊ 1969।
(iii) अर्ली इण्डियन एपीग्राफिक एण्ड न्यूमिसमाटिक स्टडीज, कलकत्ता 1371।

85. शर्मा, आर० एस०—(i) इण्डियन फ्यूडलिज्म, कलकत्ता 1945।
(ii) लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाईटी एण्ड इकानामी, बम्बई 1966
(iii) लॉन्ड रेवेन्यू इन इण्डियन हिस्टॉरिकल स्टडीज, (एडिटेड) दिल्ली 1971
(iv) सूरदास इन एनसियेन्ट इण्डिया दिल्ली 1980

86. सुब्बाराव, एन० एस०—इकानोमिक एण्ड पालिटिकल कनडीशन्स ऑफ इनसियेन्ट इण्डिया, मैसूर 1911
87. समादार, जे०—इकानामिक कनडीशन्स ऑफ एनसियेन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1922
88. शास्त्री, नीलकण्ठ—(i) साऊथ इण्डियन इनफ्यूएँस इन द फार ईस्ट।
(ii) द चोला—3 भाग।
89. स्कॉफ, डब्ल्यू० एच०—द पेरीप्लस ऑफ द एरीथेरीयनसी, लंडन 1912
90 सुब्रमनियम टी० एन०—(i) समगम पॉलीटी
(ii) साऊथ टेम्पल इंस्क्रपशन—3 भाग।
91. शरण, के० एम०—लेबर इन एनसियेन्ट इंडिया बम्बई 1957।
92. स्टेन, बरटन—एसेस इन साउथ इंडिया दिल्ली 1976।
93. शास्त्री, के० आर० आर०—साउथ इंडियन गिल्डस्, मद्रास 1925।
94. सर्राफ, आर० पी० – द इंडियन सोसाइटी, कश्मीर-1974।
95. थापर रोमीला—(i) प्राइड एण्ड प्रेजुडाइस, दिल्ली 1972।
(ii) ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया।
(iii) सोशल हिस्ट्री को एनसियन्ट इंडिया
(iv) अशोक एण्ड द डेक्लाइन ऑफ द मार्यन इम्पायर
96. ठाकुर, उपेन्द्र—(i) मिन्टस् एण्ड मिन्टिग टाउन्स इन इंडिया वाराणसी-1972
(ii) करपशन इन एनसियेन्ट इंडिया दिल्ली 1980।
(iii) सम एसपेक्ट ऑफ एनसियेन्ट इंडिययन हिस्ट्री एण्ड कलचर दिल्ली 1977।
97. ठाकुर विजय—अरबरनाइजेशन इन एनसियेन्ट इंडिया दिल्ली 1981।
98. त्रिपाठी विभा—द पेन्टेड ग्रेवेयर : ऐन आइकोन ऐन ऑफ नादर्न इंडिया (दिल्ली 1975)।
99. वीलर, आर० ई० एम०—द इण्डसवॉली सीसीलाइजेशन, कॉमब्रिज—1953।
100. वाटर्स टी०—ऑन वान ज्यांगस् ट्रावल इन इण्डिया 2 भाग लंडन-1904-5।
101. यादव, बी० एन० एस०—(i) सोसाईट एण्ड कलचर इन नादर्न इंडिया इन द टब्लर्थ सेनचुरी (इलाहबाद -1973)
(ii) प्रेसीडेनसियल स्पीच (सेक्शन–1) ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस सेशन एट बम्बई-1980।